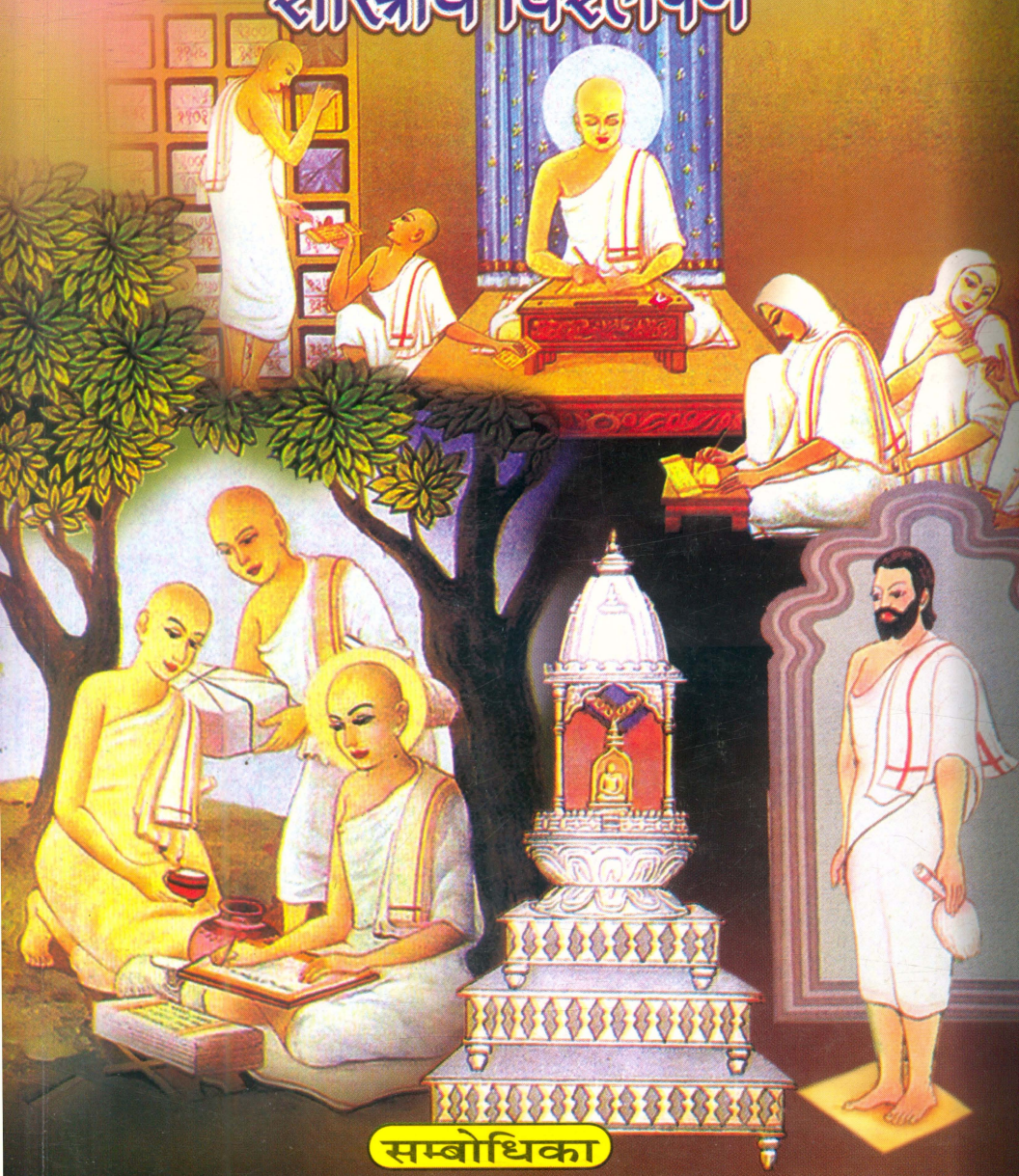
आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय विश्लेषण



सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

सिद्धाचल तीर्थाधिपति श्री आदिनाथ भगवान

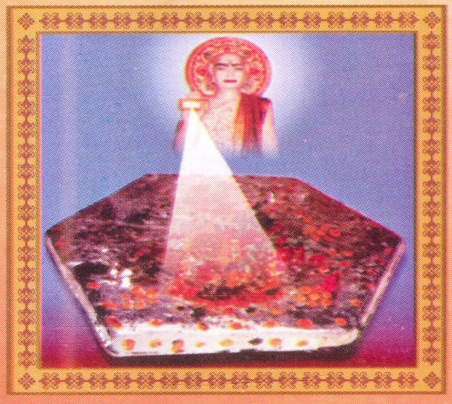




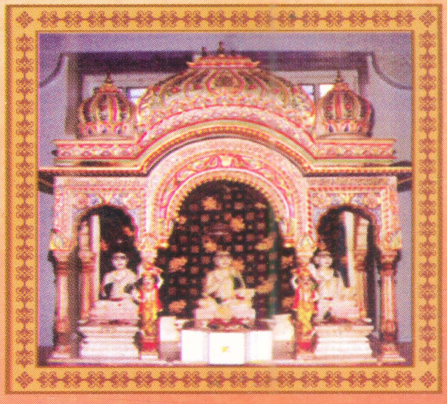
श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी



श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)



श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)



श्री जिनचन्द्रसूरि विलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय विश्लेषण

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-8

2012-13

R.J. 241 / 2007

ACHARYA SRI ... SAGARSURI GYAN MANDIR
SRIM... ...PA
Koba... ...9
Phone : (C... ...2327 6204-0
ज्ञानस्य सारमायारो

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय विश्लेषण

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-8



स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय विश्लेषण

कृपा दीप : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल दीप : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द दीप : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा दीप : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य दीप : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह दीप : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभाजी, सुयोग्या संयमप्रज्ञाजी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 150.00

(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (VIII)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

हृदयार्पण

महामनस्वी महायशस्वी, महानता उर में धरते हैं।
रामचन्द्र सूरि की कीर्ति को, जग अनुगुंजित करते हैं।।

जिन शासन की उज्ज्वल परम्परा में
सूरि पद अभिधान को धरते हैं।
जिनकी पावन शरणागति पाकर
राग-द्वेष भ्रम मिटते हैं।।

पुण्यवंत गुणवंत सूरीश्वर, क्रान्ति-शान्ति के पुंज पुनीत।
ज्ञान-ध्यान की अतुल प्रभा से, शोभित जीवन देता नवनीत।।

अध्यात्म मार्ग के अनुपम साधक
चमक रहे ज्यों नभ में चंद।
बसते हैं जन-जन के मन में
जैसे पुष्प में बसे सुगंध।।

शोध की यह पुष्प पंखुड़ी, कीर्ति सम्राट के चरणे धरती हूँ।
तुझ आशीष से जो कार्य हुआ, तुझको ही अर्पित करती हूँ।।

ऐसे

परमोच्च योगी, पुण्य प्रभावी, आदर्श संयम साधक
पूज्य आचार्य श्री कीर्तियश सूरीश्वरजी म.सा.
के पादारविन्द में
सादर-साभार समर्पित...

सज्जन भावना सज्जनों के लिए

Google और Mozilla की Fast Service ने

बढ़ा दिया है—

आगम ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा भाव,

घटा दिया है—

ज्ञान एवं ज्ञानदाताओं के प्रति अहोभाव,

जगा दिया है—

पौराणिक सिद्धान्तों के प्रति अरुचि भाव,

इस विषम समय में

ज्ञान, क्रिया, भक्ति योग का संगम करवाने

गुरुगम पूर्वक आगम वाणी का मनोमंथन करवाने

देव अधिष्ठित सूत्रों के प्रति बहुमान जगाने

के प्रयोजनार्थ

आचार शुद्धि, विचार शुद्धि एवं व्यवहार शुद्धि का

एक अनुभूत मार्ग...

हार्दिक अनुमोदन



जयपुर हॉल मुंबई निवासी

दादा श्री फूलचंदजी - दादी श्री बसंती देवी

पिता श्री अमरचंदजी - मातु श्री प्रेमलता

के स्नेहाशीष से

सुपुत्र

श्रद्धा संपन्न श्री नवीनजी - सरिताजी

सुपौत्र

श्रेयांस - काजल

सिद्धार्थ - श्रीमाल

झाड़चूर परिवार

श्रुत यात्रा के Milestone
श्री नवीनजी झाड़चूर परिवार

संस्कृत साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है–

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्नि
र्विप्रतिकृतः पन्नगः फणा कुरूते।
त्रायः स्वः महिमानं
क्षोभात प्रतिपद्यते हि जनः ।।

जैसे अग्नि उत्पन्न करने के लिए ईंधन (लकड़ी) को चलित करना आवश्यक होता है। सर्प भी छेड़ने पर ही फण उठाता है, वैसे ही तेजस्वी लोगों के तेज को प्रसरित करने के लिए कोई न कोई निमित्त आवश्यक होता है।

प्रत्येक व्यक्ति में क्षमता है किन्तु तद्योग्य निमित्त मिलने पर ही वह प्रकट होती है। स्वाध्याय निष्ठ श्री नवीनजी श्रीमाल (झाड़चूर) अध्ययन रसिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी के जीवन में एक श्रेयस्कारी निमित्त के रूप में आए।

जैन धर्म ज्ञानालोक को सबसे बड़ा मंगल मानता है क्योंकि इसी के माध्यम से निज स्वरूप का बोध हो सकता है। यह ज्ञान आगमों के अध्ययन से प्राप्त होता है। आगम की अध्ययन विधि को जैन ग्रन्थों में योगोद्वहन की संज्ञा दी गयी है। शोध कार्य को अंतिम चरण देने से पूर्व योगोद्वहन जैसे आगमोक्त विषय पर आचार्यों का मार्गदर्शन एवं सहमति दोनों ही आवश्यक थी। ऐसे समय में सेवाभावी नवीनजी झाड़चूर ने पूज्य आचार्य भगवंत श्री कीर्तियशसूरिजी के आगमविद् शिष्य श्रीरत्नयशविजयजी म.सा. से इस कार्य को संशोधित करवाने की जिम्मेदारी ली। मुंबई महानगरी में दो वर्षों तक मुनि भगवंत के पास जा-जाकर किरीटजी जैन (सिन्धड़) एवं नवीनजी ने यह कार्य पूर्ण करवाया।

आप जवाहरात के व्यापारी होने से आपकी पारखी दृष्टि ने ज्ञान के क्षेत्र में भी रत्न की परख कर ली। आपके मन में विचार आया जिस शोध खण्ड का

संशोधन परम ज्ञानी आचार्य के निर्देशन में शिष्यों द्वारा किया जा रहा है। हो न हो इसमें कुछ खासियत अवश्य होनी चाहिए। शोध कार्य का यह आठवाँ खंड साधु-साध्वियों के विशेष उपयोगी होने पर भी उन्होंने इस पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी बनने की इच्छा अभिव्यक्त की। उन्हीं की मेहनत के कारण यह पुस्तक सुज्ञ जनों के ग्राह्य बन पाई है।

आप मूलत: जयपुर के हैं परन्तु व्यापारिक दृष्टिकोण से मुम्बई में रहते हैं। साधु-साध्वी वैयावच्च, नित्य आराधना, मानव सेवा आदि में आप सदा प्रवृत्त रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी सरिताजी झाड़चूर स्वाध्याय निष्ठ एवं तप रुचिवन्त श्राविका है। वर्षीतप आदि अनेक तप साधनाओं से उनका जीवन अलंकृत है। आपने सुपुत्र श्रेयांस एवं सिद्धार्थ को महापुरुषों के नाम से ही नहीं अपितु वैसे संस्कारों से भी नवाजा है। ग्वालिया टेंक में आने वाले सभी संप्रदायों के साधु-साध्वी का आप माता-पितावत ध्यान रखते हैं। आचार्य श्री पद्मसागरजी म.सा., आचार्य कीर्तियशसूरिजी म.सा., उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. आदि अनेक गुरु भगवंतों की महती कृपा दृष्टि आप पर बरस रही है।

पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. से आपके परिवार का बहुत पुराना एवं आत्मीय परिचय रहा है। वर्ष में प्राय: एक बार पूज्या श्री जहाँ भी विराजती है आप दर्शन करने की भावना रखते हैं। आप जैसे श्रावकों का सहयोग मिलता रहे तो आज भी साधु-साध्वी अपनी आचार मर्यादाओं का पालन करते हुए श्रेष्ठ कार्य कर सकते हैं। सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन आपके लिए यह अभ्यर्थना करता है कि आप इसी प्रकार आत्मोन्नति के मार्ग पर सुप्रवृत्त रहें एवं जिनशासन के श्रुत महोदधि में अपना सहयोग देते रहें।

●

सम्पादकीय

जैन साहित्यिक रचनाओं में आगमों को सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता है। जो स्थान इस्लाम में कुरान, हिन्दू परम्परा में वेद, ईसाईयों में बाईबल का है वही स्थान जैन धर्म में आगमों का है। यह जैन आचार एवं विचार दोनों की ही नींव है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आगमों को गणधर द्वारा रचित एवं जिनवाणी का संकलन माना जाता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वर्तमान में अंग आगमों का विच्छेद हो चुका है। इसी कारण दिगम्बर मुनि उपलब्ध आगमों का अध्ययन नहीं करते हैं। उनके यहाँ षडखण्डागम, कषाय पाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अध्ययन की ही परम्परा है। वहीं श्वेताम्बर परम्परा में अंग आगमों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है एवं उनकी अध्ययन परम्परा भी विद्यमान है। श्वेताम्बर परम्परा में मुख्य रूप से तीन परम्पराएँ आती है– श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, तेरापंथी और स्थानकवासी। तीनों ही परम्पराओं ने अंग आगमों के अध्ययन के लिए योगोद्वहन को आवश्यक माना है किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा योगोद्वहन का अर्थ मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को सम्यक दिशा में नियोजित करना इतना ही मानती है। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में योगेद्वहन एक विशेष प्रक्रिया मानी गई है। वहाँ प्रत्येक आगम के अध्ययन हेतु विशेष प्रकार के योग करवाए जाते हैं। सामान्यतया यहाँ योग का संबंध तपस्या से जोड़ा गया है। अंग आगमों का अध्ययन किस क्रम एवं किन तपों के साथ होना चाहिए इसका विस्तृत उल्लेख श्वेताम्बर आचार्यों के साहित्य में मिलता है।

आचार्य जिनप्रभसूरि (14वीं शती) ने विधिमार्गप्रपा में आगम सूत्रों की अध्ययन विधि का सुविस्तृत उल्लेख किया है। अंग आगमों के साथ-साथ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि प्रमुख आगम ग्रन्थों की भी योग विधि उसमें दी गई है। यहाँ योगोद्वहन की यह विधि मुख्य रूप से उपवास, एकासण, नीवी आदि तपों से जोड़ी गई है। इसमें अंग अथवा अन्य आगमों का अध्ययन किस

क्रम से और प्रतिदिन कितना करवाना चाहिए इसका भी उल्लेख है। अंग आगमों के अध्ययन की तीन परम्पराएँ हैं– प्रथम परम्परा में केवल मूल पाठ का अध्ययन करवाया जाता है किन्तु जब प्राकृत या अर्द्धमागधी लोक भाषा नहीं रही तब मूल पाठ के साथ अर्थ और विशेष अर्थ को समझाने की परम्परा भी प्रारम्भ हुई। मूल एवं अर्थ का अध्ययन करने के बाद उसके अध्ययन-अध्यापन की आज्ञा रूप तीसरी परम्परा का पालन किया जाता है। मूर्तिपूजक परम्परा में आगमों के अध्ययन के लिए योगोद्वहन की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से मान्य रही है किन्तु योगोद्वहन की साधना के साथ-साथ आगमों के अध्ययन और अध्यापन की प्रक्रिया विलुप्त सी हो रही है।

आज योगोद्वहन मात्र पारस्परिक प्रक्रिया के रूप में ही जीवित है फिर भी अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में इसकी मूल्यवत्ता को नकारा नहीं जा सकता। योगोद्वहन का शाब्दिक अर्थ है– योग + उद्वहन। जैन परम्परा में योग शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में मुख्यत: मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के लिए होता था। इस आधार पर योगोद्वहन शब्द का अर्थ मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को सन्मार्ग में नियोजित करना होता है किन्तु ये प्रवृत्तियाँ सन्मार्ग में नियोजित रहें, इस हेतु इन्द्रियों एवं मन को संयमित करना आवश्यक है। इसके लिए तप के साथ जप, स्तवन, स्तुति, वंदन आदि को भी जोड़ दिया गया है और यह माना जाता है कि आचार्य आदि जिनके सान्निध्य में आगमों का अध्ययन करना होता है उनके प्रति विनय का प्रदर्शन आवश्यक है अत: योग की प्रक्रिया में तप के साथ जप और वंदन आदि पर जोर दिया गया है।

आगमों में जितने अध्ययन और उद्देशक होते हैं तदनुसार खमासमण, वंदन, कायोत्सर्ग आदि की क्रियाएँ की जाती है। वर्तमान काल में इस क्रिया को थोड़ा सरल बनाते हुए उपवास के स्थान पर आयंबिल, एकासणा आदि की व्यवस्था भी की गई है। आगम आकार में जितना बड़ा होता है उसकी योगोद्वहन विधि भी क्रमश: उतनी ही बढ़ती जाती है। कुछ ग्रन्थों के योगोद्वहन साथ-साथ भी करवाए जाते हैं। उदाहरण के लिए उत्तराध्ययनसूत्र एवं ऋषिभाषितसूत्र का योगोद्वहन एक साथ करवाया जाता है। इस आधार पर मैंने यह निष्कर्ष भी निकाला था कि उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित दोनों एक ही ग्रन्थ रहे होंगे।

अंग आगम साहित्य में भगवती आदि, उपांग साहित्य में प्रज्ञापना आदि विस्तृत ग्रन्थ हैं, जबकि निरयावलिका आदि कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो अत्यन्त छोटे

हैं अत: वर्तमान में जो आगम जिस रूप में उपलब्ध है उनके आकार आदि को देखकर योगोद्वहन के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में योगोद्वहन की यह प्रक्रिया प्राय: समाप्त ही है फिर भी इसके कुछ अच्छे पक्ष हैं जिन्हें ध्यान में रखकर इसे पुनर्जीवित भी किया जा सकता है। योगोद्वहन के प्रामाणिक उल्लेख आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती आदि कई आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इनमें महानिशीथसूत्र को तो इसका अधिकृत ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। इस विधि के उल्लेख चूर्णि साहित्य में भी मिलते हैं। यदि परवर्ती ग्रन्थों के आलोक में देखा जाए तो आचार्य जिनप्रभसूरि की विधिमार्गप्रपा और आचार्य वर्धमानसूरि के ग्रन्थों में इनके उल्लेख मिलते हैं।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने प्राचीन और परवर्ती सभी योगोद्वहन संबंधी ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रस्तुत कृति में जो कार्य किया है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है क्योंकि यह एक कठिन आगमोक्त विषय है। जिस विषय पर हिन्दी साहित्य भी नहींवत ही उपलब्ध होता है। इसी के साथ योगोद्वहन संबंधी विधि-विधान योग्य आचार्य या मुनि भगवंतों के द्वारा ही करवाए जाते हैं अत: इसके सूक्ष्म अभिप्रायों को सम्यक् रूप से समझना दुष्कर था परन्तु सौम्यगुणाजी ने अपने अतुल मनोबल के आधार पर विविध आचार्यों से चर्चा करके इसका प्रामाणिक स्वरूप प्रस्तुत किया है इसकी अनुमोदना है।

वर्तमान में हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारे क्रियाकाण्ड सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ या तो आज उपलब्ध ही नहीं है अथवा प्राचीन प्राकृत, संस्कृत भाषा में लिखे होने के कारण अध्ययन की प्रक्रिया मर गई है। साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी का यह प्रयत्न इसलिए भी स्तुत्य है कि इससे विधि-विधान के प्रति जन चेतना जागृत होगी। आज कर्मकाण्डों में से जीवन्त पक्ष लुप्त होता जा रहा है उसे पुनर्जीवित करना होगा। साध्वीजी साहित्य क्षेत्र में सेवा करती रहें और जैन विद्या के भण्डार को समृद्ध करती रहें इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

भारतीय वांगमय ऋषि-महर्षियों द्वारा रचित लक्षाधिक ग्रन्थों से शोभायमान है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने आप में अनेक नवीन विषय एवं नव्य उन्मेष लिए हुए हैं। हर ग्रन्थ अनेकशः प्राकृतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इन शास्त्रीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है विधि-विधान। हमारे आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं उसे एक सम्यक दिशा देने का कार्य विधि-विधान ही करते हैं। विधि-विधान सांसारिक क्रिया-अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का मार्ग दिग्दर्शित करते हैं।

जैन धर्म यद्यपि निवृत्तिमार्गी है जबकि विधि-विधान या क्रिया-अनुष्ठान प्रवृत्ति के सूचक हैं परंतु यथार्थतः जैन धर्म में विधि-विधानों का गुंफन निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ही हुआ है। आगम युग से ही इस विषयक चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा वर्तमान विधि-विधानों का पृष्ठाधार है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस ग्रंथ के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

साध्वी सौम्याजी जैन संघ का जाज्वल्यमान सितारा है। उनकी ज्ञान आभा से मात्र जिनशासन ही नहीं अपितु समस्त आर्य परम्पराएँ शोभित हो रही हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान दीप से प्रकाशित हो रहा है। इन्हें देखकर प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की सहज स्मृति आ जाती है। सौम्याजी उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर अनेक नए आयाम श्रुत संवर्धन हेतु प्रस्तुत कर रही है।

साध्वीजी ने विधि-विधानों पर बहुपक्षीय शोध करके उसके विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। इस शोध कार्य को 23 पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने जैन विधि-विधानों के समग्र पक्षों को जन सामान्य के लिए सहज ज्ञातव्य बनाया है।

जिज्ञासु वर्ग इसके माध्यम से मन में उद्वेलित विविध शंकाओं

का समाधान कर पाएगा।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत रत्नाकर के अमूल्य मौतियों की खोज कर ज्ञान राशि को समृद्ध करती रहे एवं अपने ज्ञानालोक से सकल संघ को रोशन करें यही शुभाशंसा...

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोडा तीर्थ

विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान सम्बन्धी विषयों पर शोध-प्रबन्ध लिख कर डी.लिट् उपाधि प्राप्त करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सौम्याजी ने पूर्व में विधिमार्गप्रपा का हिन्दी अनुवाद करके एक गुरुत्तर कार्य संपादित किया था। उस क्षेत्र में हुए अपने विशिष्ट अनुभवों को आगे बढ़ाते हुए उसी विषय को अपने शोध कार्य हेतु स्वीकृत किया तथा दत्त-चित्त से पुरुषार्थ कर विधि-विषयक गहनता से परिपूर्ण ग्रन्थराज का जो आलेखन किया है, वह प्रशंसनीय है।

हर गच्छ की अपनी एक अनूठी विधि-प्रक्रिया है, जो मूलतः आगम, टीका और क्रमशः परम्परा से संचालित होती है। खरतरगच्छ के अपने विशिष्ट विधि विधान हैं... मर्यादाएँ हैं... क्रियाएँ हैं...। हर काल में जैनाचार्यों ने साध्वाचार की शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का भगीरथ प्रयास किया है। विधिमार्गप्रपा, आचार दिनकर, समाचारी शतक, प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत शतक, साधु विधि प्रकाश, जिनवल्लभसूरि समाचारी, जिनपतिसूरि समाचारी, षडावश्यक बालावबोध आदि अनेक ग्रन्थ उनके पुरुषार्थ को प्रकट कर रहे हैं।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान संबंधी बृहद् इतिहास की दिव्य झांकी के दर्शन कराते हुए गृहस्थ-श्रावक के सोलह संस्कार, व्रतग्रहण विधि, दीक्षा विधि, मुनि की दिनचर्या, आहार संहिता, योगोद्वहन विधि, पदारोहण विधि, आगम अध्ययन विधि, तप साधना विधि, प्रायश्चित्त विधि, पूजा विधि, प्रतिक्रमण विधि, प्रतिष्ठा विधि, मुद्रायोग आदि विभिन्न विषयों पर अपना चिंतन-विश्लेषण

प्रस्तुत कर इन सभी विधि विधानों की मौलिकता और सार्थकता को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उजागर करने का अनूठा प्रयास किया है।

विशेष रूप से मुद्रायोग की चिकित्सा के क्षेत्र में जैन, बौद्ध और हिन्दु परम्पराओं का विश्लेषण करके मुद्राओं की विशिष्टता को उजागर किया है।

निश्चित ही इनका यह अनूठा पुरुषार्थ अभिनंदनीय है। मैं कामना करता हूँ कि संशोधन-विश्लेषण के क्षेत्र में वे खूब आगे बढ़ें और अपने गच्छ एवं गुरु के नाम को रोशन करते हुए ऊँचाईयों के नये सोपानों का आरोहण करें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि विदुषी साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी ने डॉ. श्री सागरमलजी जैन के निर्देशन में 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' इस विषय पर 23 खण्डों में बृहदस्तरीय शोध कार्य (डी.लिट्) किया है। इस शोध प्रबन्ध में परंपरागत आचार आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक परिचय देने का सुंदर प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा में क्रिया-विधि आदि धार्मिक अनुष्ठान कर्म क्षय के हेतु से मोक्ष को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं।

साध्वीश्री ने योग मुद्राओं का मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है? इसका उल्लेख भी बहुत अच्छी तरह से किया है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने निःसंदेह चिंतन की गहराई में जाकर इस शोध प्रबन्ध की रचना की है, जो अभिनंदन के योग्य है।

मुझे आशा है कि विद्वद गण इस शोध प्रबन्ध का सुंदर लाभ उठायेंगे।

मेरी साध्वीजी के प्रति शुभकामना है कि श्रुत साधना में और अभिवृद्धि प्राप्त करें।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थि के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है

अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा

'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों की नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म

सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों को परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें

आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर

1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज

प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।
शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

अन्तस् नाद

योगोद्वहन– अध्यात्म परम्परा का महत्त्वपूर्ण क्रियानुष्ठान है। योग + उद्वहन इन दो पदों के संयोग से यह शब्द निष्पन्न है। योग अर्थात मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्ति, उद्वहन अर्थात ऊर्ध्वगामी बनाना, ऊपर की ओर उठना। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परानुसार मन-वचन-काया की एकाग्रता एवं विशिष्ट तप पूर्वक आगम शास्त्रों का अध्ययन करना योगोद्वहन है।

अतीतकाल से योग शब्द आत्म विकास का द्योतक रहा है। साधारणत: मानव जीवन में शरीर और आत्मा ये दो तत्त्व प्रधान हैं। शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। शरीर का विकास सात्विक पदार्थों के सेवन तथा उचित व्यायाम आदि से होता है, किन्तु आत्मा का विकास योग से होता है।योग की शुभाशुभ प्रवृत्ति ही क्रमश: मुक्ति गमन एवं संसार सर्जन का कारण बनती है।

अवंचक योग-निर्वाण प्राप्ति का अनन्तर कारण है। योगोद्वहन का अन्तरंग पक्ष इसी तथ्य पर आधारित है। इस तरह योगोद्वहन एक कठिन एवं जटिल विषय है परन्तु श्रुतोपासिका, ज्ञान आराधिका सौम्यगुणाजी ने इस हेतु अनेक आचार्यों एवं मुनि भगवंतों से विचार-विमर्श करके ही अपनी लेखनी चलाई है। इस विषय में आचार्य भगवंत पूज्य कीर्तियश सूरीश्वरजीजी म.सा. के अन्तेवासी प्रज्ञाशील, उत्कृष्ट संयम साधक, पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. ने इस कृति के आद्योपरान्त परिशीलन में अपना अमूल्य समय एवं योगदान भी दिया है जिससे इसकी प्रामाणिकता एवं श्रेष्ठता को अधिक बल मिला है। उनकी इस उदार हृदयता, सहयोग भावना एवं उत्कर्ष वृत्ति का समस्त जैन समाज सदा आभारी रहेगा।

साध्वीजी स्वयं श्रुत पिपासु एवं योगवाहिका है। सज्जन मण्डल यह अभ्यर्थना करता है कि इनकी उच्च कल्पना, विचारशक्ति, रहस्य शोधक बुद्धि एवं त्रियोग मग्नता उनके सर्व कार्यों को सम्यक् सिद्धि प्रदान करें तथा श्रुत संवर्धन में सहायक बने ऐसी हृदयाभिलाषा के साथ।

●

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्त्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के

प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क, अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकशः वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो निःसन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णतः सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के अमिट पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने

का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी

में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास

के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा।

मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था।

साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुन: कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना

पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अत: दो माह तक अध्ययन की गति पर पुन: ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि-

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अत: वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुन: कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु

अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता

का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी

म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर– शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी

के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक प्रसन्नता

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति की ऊर्मियाँ

जैनागमों में मुख्यतया दो प्रकार का धर्म बतलाया है– श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म के पालन द्वारा शास्त्रज्ञान एवं वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का निश्चय होता है और चारित्रधर्म के सम्यक् अनुपालन से साध्य रूप परमात्म तत्त्व की उपलब्धि होती है। योगोद्वहन इन दोनों धर्मों के क्रियान्वयन का सम्मिश्रित अनुष्ठान है। इसके माध्यम से श्रुत(ज्ञान) एवं चारित्र (क्रिया) उभय धर्म का युगपद अभ्यास किया जाता है। योगोद्वहन एक ऐसी सुप्रशस्त प्रवृत्ति है जो निवृत्ति मार्ग पर बढ़ने में सहायक बनती है।

सिद्धान्ततः चारित्र धर्म में द्वादशविध तप, बारह भावना, सत्रह संयम, क्षमा आदि दशविध धर्म और समिति-गुप्ति रूप अष्टप्रवचन माताएँ आदि आचरणीय धार्मिक क्रियाएँ गर्भित हैं। इनमें सभी प्रकार के योगों का भी समावेश हो जाता है।

सामान्यतया मन-वचन-काया के व्यापार को योग कहते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में मन-वचन-कर्म का आत्मा के साथ मिल जाना और आत्मानुकूल प्रवृत्ति करना योग है। अध्यात्म, योग में विश्वास करता है जबकि विज्ञान प्रयोग में विश्वास करता है। वस्तुतः योग किसी दर्शन या परम्परा से प्रतिबंधित प्रक्रिया नहीं है वह तो आत्मविद्या है, अध्यात्मविद्या है, स्वयं से स्वयं को जानने की विद्या है। भारत देश के ऋषि-महर्षियों ने विशिष्ट साधना के बल पर इसे प्रकट किया है। यद्यपि दर्शन या परम्परा के साथ 'योग' यह नाम जुड़ा हुआ है जैसे– जैन योग, बौद्ध योग, वैदिक योग आदि। ध्यातव्य है कि योग साधना की कई अनुभूत विधियाँ है। इनका लक्ष्य प्रायः समान होने पर भी साधना क्रम एवं विधि प्रक्रिया में भेद होने के कारण इनका अस्तित्व परम्परा विशेष के साथ जुड़ गया है। वस्तुतः यह अन्तर्मुखी साधना है। सभी परम्पराओं में इसे प्रमुखता दी गई है। पातंजलयोगसूत्र (हिन्दू धर्म) में हठयोग, प्राणायाम आदि को योग के अन्तर्भूत स्वीकार किया है। बौद्ध धर्म में ध्यान साधना को योग से सम्पृक्त माना है। जैन धर्म के योग सम्बन्धी ग्रन्थों में योग के पाँच प्रकार कहे गये हैं–

1. अध्यात्म योग 2. भावना योग 3. ध्यान योग 4. समता योग और 5. वृत्तिसंक्षेप योग। योगोद्वहन में इन पाँचों योगों का स्पष्टत:समावेश होता है। व्यवहार से यह शब्द आगम शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन करने में रूढ़ है किन्तु परमार्थत: अध्यात्म विद्या को उपलब्ध करना ही इसका प्रमुख ध्येय है।

योगोद्वहन काल में विशिष्ट नियमों के पालन द्वारा अध्यात्मयोग, शुभ अध्यवसायों के द्वारा भावना योग, कायोत्सर्ग आदि द्वारा ध्यान योग, अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में विचलित न होते हुए आत्म स्वरूप का चिन्तन करने से समता योग और आयंबिल आदि तप कर्म द्वारा वृत्तिसंक्षेप योग– इस प्रकार पाँचों योगों का सम्यक प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि साधु-साध्वी तो निरन्तर तप-जप स्वाध्याय आदि में संलग्न रहते हैं तो फिर उनके लिए इस क्रिया का विधान क्यों?

योगोद्वहन के द्वारा मुनि अपने आपको आगम सूत्रों के पारायण हेतु योग्य बनाता है। किसी भी वस्तु को ग्रहण करने से पूर्व उसके योग्य पात्र होना अत्यावश्यक है जैसे– सिंह के दूध को ग्रहण करने के लिए स्वर्णपात्र की आवश्यकता होती है वैसे सर्वज्ञ परमात्मा की आप्तवाणी को जीवन में हृदयंगम करने हेतु त्याग, समर्पण,लघुता, विनय, पूज्यभाव आदि गुण होना नितांत आवश्यक है। यद्यपि योगोद्वहन का मुख्य हेतु श्रुताभ्यास है परन्तु इसके साथ तपाराधना, गुरुनिश्रा, सेवा, स्वाध्याय आदि अनेक लाभों की Bonus रूप में प्राप्ति हो जाती है। आगम सूत्रों के प्रति बहुमान बढ़ता है जिससे ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है। तप साधना करने से काया का निरोध होता है। काया का निरोध वचन निरोध में सहायक बनता है एवं वचन निरोध मन के निरोध में हेतुभूत है। इन तीनों के निरोध से व्यक्ति एकाग्र एवं स्थिर बनता है। एकाग्रता सफलता का मूल मंत्र है। चित्त की एकाग्रता होने पर कम समय में अधिक ज्ञानार्जन किया जा सकता है तथा वही ज्ञान स्थिर एवं स्व-पर कल्याण के लिए भी उपयोगी बनता है।

ज्ञानार्जन के समय में तो अधिक पौष्टिक आहार लेना चाहिए, यह लोक मान्यता है परन्तु इसके विपरीत योगोद्वहन काल में तप साधना क्यों? अनुभूति के स्तर पर इसके जवाब में यही कह सकते हैं कि गरिष्ठ आहार का त्याग होने से निद्रा-प्रमाद आदि में मन्दता आती है, सजगता एवं जागृति बढ़ती है, अनावश्यक कार्यों में कायिक, मानसिक एवं वैचारिक अनुगमन भी कम होता

है। वचन आदि पर भी नियंत्रण होता है। योगोद्वहन के अन्तर्गत गुरुगम पूर्वक तपयुक्त होकर आगम वाचना ली जाती है। तप पूर्वक वाचना लेने से वह अधिक प्रभावी बनती है। तप के दौरान इन्द्रिय पोषक एवं विषय पोषक पदार्थों का त्याग होने से स्वभावत: कायिक चंचलता समाप्त होती है, आहार के प्रति आसक्ति न्यून होती है, इच्छाओं का निरोध होता है तथा आहारी से आणाहारी पद की ओर प्रयाण होता है। अणाहारी अवस्था ही मोक्ष है। प्रसिद्ध कहावत है– **''जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन''** और **''जैसा मन वैसा जीवन''**। इसी के साथ यह सब योगोद्वहन के मूल हेतु ज्ञानाभ्यास में सहायक बनते हैं।

कई साधकों के मन में यह प्रश्न भी हो सकता है कि हमारे यहाँ प्रत्येक क्रिया गुरुगम पूर्वक ही क्यों बताई गई है और योगोद्वहन में तो गुरुगम परमावश्यक माना गया है ऐसा क्यों?

गुरु का स्थान हर युग में सर्वोपरि देखा गया है। यदि प्राचीन भारतीय परम्परा पर दृष्टिपात करें तो उस समय ज्ञानार्जन हेतु गुरुकुलवास को ही श्रेष्ठ माना जाता था और, यही सर्वोत्तम प्रणाली है। गुरु के बहुमान एवं अंतरंग श्रद्धा पूर्वक गृहीत पाठ अधिक स्थिर एवं स्थायी बनता है। उनके अन्तरंग आशीष की प्राप्ति होती है जो जीवन के कल्याण एवं उत्कर्ष में सहायक बनती है। पूज्यजनों के हृदय से नि:सृत शुभ भावों के परमाणु समस्त विघ्न एवं आपदाओं का हरण करते हैं।

योगोद्वहन में गुरु की आवश्यकता बिल्कुल वैसे ही होती है जैसे कि एक बच्चे के लिए स्कूल की। आधुनिक युग में हर ज्ञान Computer, Internet, Mobile पर उपलब्ध है उसके उपरान्त भी बच्चों को स्कूल भेजते हैं क्योंकि हम जानते हैं जो माहौल, संस्कार एवं वातावरण स्कूल में उपलब्ध हो सकता है वह अन्यत्र नहीं। उसी तरह आगम आदि के अध्ययन हेतु जो मानसिक, वैचारिक एवं कायिक स्थिरता तथा अप्रमत्तता आदि चाहिए वह गुरुनिश्रा में सहजतया आ सकती है। स्वमति से बाल जीव सम्यक अर्थ आदि का बोध नहीं कर पाता। कई स्थानों पर अनुभव ज्ञान की अपेक्षा भी होती है जिसे देने में गुरु ही समर्थ हैं। साथ ही विभिन्न शंकाओं का समाधान करने में पदस्थ गुरु ही सक्षम होते हैं अत: जिनवाणी की उत्सूत्र प्ररूपणा न हो और वह सम्यक रूप से जीवन एवं आचरण में उतरे। इस हेतु गुरुगम पूर्वक ही आगम वाचना ली जाती है।

योगोद्वहन के माध्यम से शिष्य के अंतर में ऋजुता, लघुता, सरलता आदि गुण विकसित करने का प्रयास किया जाता है।

यह शोध कृति मूलत: आगम शास्त्रों के अध्ययन सम्बन्धी विधि-विधानों से संपृक्त है। फिर भी इसमें तत्सम्बन्धी समग्र विषय का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है जो निम्नलिखित सात अध्यायों में इस प्रकार है–

प्रथम अध्याय जैन आगमों से सम्बन्धित अनेक पक्षों का सम्यक परिचय करवाता है। वस्तुत: इसमें आगम शब्द का अर्थबोध करवाते हुए आगम के प्रकार, आगमों के रचयिता, आगम वाचनाएँ कब और कहाँ? आगमों का विच्छेद काल, आगमों की मौखिक परम्परा का इतिहास आदि आवश्यक बिन्दुओं को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अनध्याय विधि का दिग्दर्शन करवाया गया है। आगम ग्रन्थों को अनध्याय काल में नहीं पढ़ना चाहिए, इसलिए द्वितीय क्रम पर इस विधि को स्थान दिया गया है।

सामान्यतया प्रस्तुत अध्याय में अनध्याय के प्रकार, अनध्याय किन-किन स्थितियों में? अनध्यायकाल में स्वाध्याय करने से लगने वाले दोष आदि का वर्णन किया गया है।

आगमों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है इसलिए **तृतीय अध्याय** में स्वाध्याय विधि का अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है। मुख्यत: स्वाध्याय के प्रकार, स्वाध्याय का फल, स्वाध्याय आवश्यक क्यों? स्वाध्याय न करने के दोष, स्वाध्याय काल सम्बन्धी कुछ अपवाद ऐसे विशिष्ट तथ्यों को उजागर करते हुए स्वाध्याय को भाव रोगों का चिकित्सक सिद्ध किया है।

चतुर्थ अध्याय योगोद्वहन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता है।

पंचम अध्याय में योगोद्वहन काल में उपयोगी विधियों का प्राचीन एवं अद्य प्रचलित स्वरूप बताया गया है।

षष्ठम अध्याय आगम अध्ययन की मौलिक विधि से सम्बन्धित है। इसमें सामान्य रूप से आचारांग आदि ग्यारह अंग सूत्र, बारह उपांग सूत्र, छह छेद सूत्र, चार मूल सूत्र, प्रकीर्णक सूत्र ऐसे लगभग पैंतालीस आगमों के अध्ययन की तप विधि बतलाई गई है। इसी के साथ योगवाहियों की सुगमता के लिए तप यन्त्र भी दिया गया है।

अर्जित आगम पाठों की यथार्थ फलश्रुति पाने के लिए वसति एवं शरीर की शुद्धि होना आवश्यक है। **सप्तम अध्याय** में कल्पत्रेप विधि इसी से

सन्दर्भित है। इस विधि के द्वारा बाह्य-आभ्यन्तर समस्त प्रकार की अशुचि को दूर किया जाता है।

प्रस्तुत अध्याय में कल्पत्रेप का अर्थ, कल्पत्रेप किस दिन करें? कल्पत्रेप हेतु सामाचारी बद्ध नियम, किन स्थितियों में कल्पत्रेप करें? इत्यादि विषयों का सम्यक निरूपण किया गया है।

इस कृति में योगोद्वहन सम्बन्धी पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दों के विशिष्टार्थ एवं रहस्यार्थ भी बताए गए हैं जिससे शोध प्रबन्ध की मौलिकता शतगुणित हुई है।

यद्यपि इस विषय पर लेखनी चलाने का अधिकार आचार्यों एवं रत्नाधिक मुनियों को ही है, फिर भी शोध का अन्तर्गत विषय होने से यत्किंचिद् लिखने का क्षम्य प्रयास किया है। विषय की दुर्गमता, मार्गदर्शन की दुर्लभता, साधु जीवन की मर्यादा एवं अनुभवी सहायकों की अल्पता के कारण यह कृति सर्वतोभद्र या शत-प्रतिशत पूर्ण तो नहीं बन पाई है परंतु यथाशक्य प्रयासों के द्वारा इसे अधिकाधिक पूर्णता देने की कोशिश की है।

इस कृति को प्रमाणभूत बनाने एवं समय-समय पर यथासंभव मार्गदर्शन देने हेतु मैं अन्तस् भावों से आभारी हूँ बेजोड़ शासन प्रभावक पूज्य आचार्यश्री कीर्तियशसूरिजी म.सा. एवं उनके अनन्य सहयोगी, आगमविद् शिष्यरत्न मुनि श्री रत्नयशविजयजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने अपने अमूल्य निर्देशन एवं निरीक्षण के साथ अपेक्षित सुधार करके अनेक दुरूह विषयों को सुगम बनाकर इस कृति को सर्वग्राह्य बनाया।

यह रचना मूल शास्त्रों के सम्यक ज्ञानार्जन में, योगोद्वहन रूपी आगमिक क्रिया के समाचरण में, गूढ़ रहस्यमयी जिनवाणी के अनुशीलन में एवं श्रुत पिपासा के जागरण में मेढ़ीभूत आलंबन बनते हुए योगोद्वहन जैसे दुष्कर विषय को सर्वजन सुलभ बनाएँ। साथ ही ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञानार्जन के प्रति सम्मान भाव का वर्धन करने में सहायक बनें इन्हीं मंगल भावों के साथ–

आगम विरुद्ध अथवा जिनवाणी के विपरीत कुछ भी लिखने में आया हो अथवा किसी भी विषय का बोधगम्य स्पष्टीकरण न किया हो, शास्त्र अभिप्राय के विरुद्ध कुछ भी लिखा हो तो त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडम्।

●

कृतज्ञता ज्ञापन

जगनाथ जगदानंद जगगुरू, अरिहंत प्रभु जग हितकरं
दिया दिव्य अनुभव ज्ञान सुखकर, मारग अहिंसा श्रेष्ठतम्
तुम नाम सुमिरण शान्तिदायक, विघ्न सर्व विनाशकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।1।।

संताप हर्ता शान्ति कर्ता, सिद्धचक्र वन्दन सुखकरं
लब्धिवंत गौतम ध्यान से, विनय हो वृद्धिकरं
दत्त-कुशल मणि-चन्द्र गुरुवर, सर्व वांछित पूरकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।2।।

जन जागृति दिव्य दूत है, सूरिपद वलि शोभितम्
सद्ज्ञान मार्ग प्रशस्त कर, दिया शास्त्र चिन्तन हितकरं
कैलाश सूरिवर गच्छनायक, सद्बोधबुद्धि दायकम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।3।।

श्रुत साधना की सफलता में, जो कुछ किया निस्वार्थतम्
आशीष वृष्टि स्नेह दृष्टि, दी प्रेरणा नित भव्यतम्
सूरि 'पद्म' 'कीर्ति' 'राजयश' का, उपकार मुझ पर अगणितम्।
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।4।।

ज्योतिष विशारद युग प्रभाकर, उपाध्याय मणिप्रभ गुरुवरं
समाधान दे संशय हरे, मुझ शोध मार्ग दिवाकरम्
सद्भाव जल से मुनि पीयूष ने, किया उत्साह वर्धनम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।5।।

उल्लास ऊर्जा नित बढ़ाते, आत्मीय 'प्रशांत' गणिवरं
दे प्रबोध मुझको दूर से, भ्राता 'विमल' मंगलकरं
विधि ग्रन्थों से अवगत किया, यशधारी 'रत्न' मुनिवरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।6।।

हाथ जिनका थामकर, किया संयम मार्ग आरोहणम्
अनुसरण कर पाऊं उनका, है यही मन वांछितम्
सज्जन कृपा से होत है, दुःसाध्य कार्य शीघ्रतम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।7।।

कल्पतरू सा सुख मिले, शरणागति सौख्यकरम्
तप-ज्ञान रूचि के जागरण में, आधार हैं जिनका परम्
मुझ जीवन शिल्पी-दृढ़ संकल्पी, गुरू 'शशि' शीतल गुणकरम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।8।।

'प्रियदर्शना' सत्प्रेरणा से, किया शोध कार्य शतगुणम्
गुरु भगिनी मंडल सहाय से, कार्य सिद्धि शीघ्रतम्
उपकार सुमिरण उन सभी का, धरी भावना वृद्धिकरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।9।।

जिन स्थानों से प्रणयन किया, यह शोध कार्य मुख्यतम्
पार्श्वनाथ विद्यापीठ (शाजापुर, बनारस) की, मिली छत्रछाया सुखकरम्
जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) है, पूर्णाहुति साक्ष्य जयकरं
हो वन्दना नित वन्दना, है नगर कार्य सिद्धिकरम्।।10।।

साधु नहीं पर साधकों के, आदर्श मूर्ति उच्चतम्
श्रुत ज्ञानसागर संशय निवारक, आचरण सम्प्रेरकम्
इस कृति के उद्धार में, निर्देश जिनका मुख्यतम्
शासन प्रभावक सागरमलजी, किं करुं गुण गौरवम्।।11।।

अबोध हूँ, अल्पज्ञ हूँ, छद्मस्थ हूँ कर्म आवृतम्
अनुमोदना करुं उन सभी की, त्रिविध योगे अर्पितम्
जिन वाणी विपरीत हो लिखा, तो क्षमा हो मुझ दुष्कृतम्
श्रुत सिन्धु में अर्पित करुं, शोध मन्थन नवनीतम्।।12।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : जैन आगम : एक परिचय 1-61

1. आगम शब्द का अर्थ विचार 2. आगम की विभिन्न परिभाषाएँ 3. आगम के एकार्थवाची नाम 4. आगम के प्रकार 5. आगमों की मौखिक परम्परा का इतिहास एवं अवधारणाएँ 6. आगमों का विच्छेद क्रम 7. आगम वाचनाएँ कब और कहाँ? 8. आगम लेखन का प्रारम्भ कब से? 9. आगमों का वर्गीकरण 10. आगम रचना के प्रकार 11. आगमों की भाषा 12. आगमों के रचयिता कौन?13. आगमों की संख्या एवं नवीन वर्गीकरण 14. जैन आगमों का परिचय • ग्यारह अंग सूत्र • बारह उपांग सूत्र • चार मूल सूत्र • छः छेद सूत्र • चूलिका सूत्र • दस प्रकीर्णक सूत्र।

अध्याय-2 : अनध्याय विधि : एक आगमिक चिन्तन 62-98

1. अनध्याय का शाब्दिक अर्थ 2. अनध्याय के प्रकार–

(i) आगम साहित्य के अनुसार बत्तीस प्रकार • आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय • औदारिक सम्बन्धी दस अस्वाध्याय • महोत्सव सम्बन्धी चार अस्वाध्याय • महाप्रतिपदा सम्बन्धी चार अस्वाध्याय • सन्ध्या (काल) सम्बन्धी अस्वाध्याय।

(ii) आगमिक व्याख्या साहित्य के अनुसार दो प्रकार–

• आत्मसमुत्थ-तिर्यंच सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी।

• परसमुत्थ-संयमघाती, औत्पातिक, देवप्रयुक्त, व्युद्ग्रह और शरीर सम्बन्धी।

(iii) सामान्य कारण सम्बन्धी अस्वाध्याय।

3. अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के दोष 4. अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने के प्रयोजन • दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण

• दस औदारिक शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण • चार महामहोत्सव एवं चार महाप्रतिपदा सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण • चार सन्ध्या सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण • परसमुत्थ सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण 5. अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के आपवादिक कारण 6. दिगम्बर मान्यता में अस्वाध्याय।

• द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी अस्वाध्याय • सामान्य कारण सम्बन्धी अस्वाध्याय

7. अस्वाध्याय काल की ऐतिहासिक अवधारणा 8. तुलनात्मक विवेचन 9. उपसंहार।

अध्याय-3 : स्वाध्याय-भाव चिकित्सा की प्रयोग विधि 99-120

1. स्वाध्याय शब्द का मौलिक अर्थ 2. स्वाध्याय के मुख्य प्रकार 3. स्वाध्याय भूमि के प्रकार

• अभिशय्या या नैषेधिकी भूमि में गमन करने के प्रयोजन • अभिशय्या या नैषेधिकी भूमि में स्वाध्याय के उद्देश्य • अभिशय्या भूमि सम्बन्धी नियम।

4. स्वाध्याय के नियम 5. स्वाध्याय आवश्यक क्यों? 6. स्वाध्याय का फल 7. स्वाध्याय न करने के दोष 8. कालिक श्रुत सम्बन्धी स्वाध्याय के विकल्प 9. अकाल में कालिक श्रुत सम्बन्धी स्वाध्याय के विकल्प 10. दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्वाध्याय काल 11. स्वाध्याय काल संबंधी कुछ अपवाद 12. उपसंहार।

अध्याय-4 : योगोद्वहन : एक विमर्श 121-207

1. योगोद्वहन शब्द का अर्थ घटन 2. योग के प्रकार 3. योगवाही के लक्षण 4. योगोद्वहन प्रवर्त्तक गुरु के लक्षण 5. योगोद्वहन में सहायक मुनि के लक्षण 6. योगोद्वहन के लिए क्षेत्र कैसा हो? 7. योगोद्वहन कैसी वसति में किया जाए? 8. योगोद्वहन काल में स्थण्डिल भूमि कैसी हो? 9. योगवाही के लिए आवश्यक उपकरण 10. योगोद्वहन हेतु काल विचार 11. योगवहन के लिए शुभाशुभ मुहूर्त्त विचार 12. योगोद्वहन (आगम अध्ययन) सम्बन्धी सूचनाएँ 13. योगवाहियों के लिए कायोत्सर्ग सम्बन्धी सूचनाएँ 14. योगवाहियों के लिए नन्दी सम्बन्धी सूचनाएँ 15. योगवाहियों के लिए रात्रि अनुष्ठान सम्बन्धी सूचनाएँ 16. योगोद्वहन चर्या सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएँ 17. नष्ट दन्त विधि 18. आगम सूत्रों का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा काल 19. योगवाही के लिए विधि-निषेध सामाचारी 20. गणि

योगवाही की कल्प्याकल्प्य सामाचारी 21. योगवाही की विशिष्ट सामाचारी 22. योगोद्वहन सम्बन्धी प्रायश्चित्त 23. दीक्षा पर्याय के अनुसार आगमों का अध्ययन क्रम 24. आगमों के अध्ययन हेतु निश्चित दीक्षा पर्याय का विधान क्यों? 25. आगम शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन (योगोद्वहन) का क्रम 26. कौनसा आगम कब पढ़ना चाहिए? 27. साध्वियों के लिए मूल आगम पढ़ने का निषेध क्यों? 28. योगोद्वहन काल में करणीय अनुष्ठानों का क्रम 29. विविध दृष्टियों से योगोद्वहन की उपादेयता 30. आधुनिक संदर्भ में योगोद्वहन की प्रासंगिकता 31. शिक्षा प्रबंधन का आवश्यक अंग-योगोद्वहन 32. सूत्र देवता अधिष्ठित कैसे? 33. योगोद्वहन की ऐतिहासिक विकास यात्रा 34. उपसंहार।

अध्याय-5 : योगोद्वहन सम्बन्धी विविध विधियाँ 208-298

1. योग प्रवेश विधि 2. योगनन्दी विधि 3. उद्देश विधि 4. कालिक सूत्र के समय उद्देशादि की शेष विधि 5. उद्देश नन्दी एवं अनुज्ञा नन्दी के अतिरिक्त अन्य दिनों में करने योग्य उद्देशादि विधि 6. कालिक सूत्रयोग की समुद्देश विधि 7. कालिक सूत्रयोग की सन्ध्याकालीन विधि।

8. काल ग्रहण विधि • कौनसा काल, किस समय ग्रहण करें? • कौनसा काल, किन दिशाओं में ग्रहण करें? • किस काल को कितनी बार ग्रहण करें? • काल चतुष्क सम्बन्धी स्वाध्याय नियम • काल ग्रहण के अपवाद • काल ग्रहण सम्बन्धी सूचनाएँ • काल नाश के कारण • प्राभातिक काल नाश के कारण • काल मंडल नाश के कारण • कालग्राही एवं दांडीधर की विधि • काल मंडल प्रतिलेखन विधि।

9. वसति शुद्धि एवं स्वाध्याय काल प्रवेदन की विधि 10. प्रवेदन (पवेयणा) विधि 11. नोंतरा (काल मंडल प्रतिलेखन) विधि 12. कालमंडल (पाटली) विधि 13. संघट्टा–आउत्तवाणय ग्रहण विधि • संघट्ट ग्रहण की विशेष विधि • संघट्टा सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएँ 14. स्वाध्याय प्रस्थापना विधि • स्वाध्याय प्रस्थापना प्रतिक्रमण विधि • स्वाध्याय प्रस्थापना सम्बन्धी नियम • स्वाध्याय हेतु काल प्रतिलेखना विधि।

15. पाली पालटवानो (निर्दिष्ट तप के क्रम परिवर्तन की) विधि 16. योग निक्षेप (योग में से बाहर निकलने की) विधि 17. स्वाध्याय प्रतिष्ठापन-निष्ठापन विधि।

अध्याय-6 : योग तप (आगम अध्ययन) की शास्त्रीय विधियाँ 299-378

1. आवश्यकसूत्र योग विधि 2. दशवैकालिकसूत्र योग विधि 3. मण्डली प्रवेश तप योग विधि 4. उत्तराध्ययनसूत्र योग विधि।

अंग सूत्रों की योग विधियाँ– 5. आचारांगसूत्र योग विधि 6. सूत्रकृतांगसूत्र योग विधि 7. स्थानांगसूत्र योग विधि 8. समवायांगसूत्र योग विधि 9. भगवतीसूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) योग विधि 10. ज्ञाताधर्मकथासूत्र योग विधि 11. उपासकदशासूत्र योग विधि 12. अन्तकृतदशासूत्र योग विधि 13. अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र योग विधि 14. प्रश्नव्याकरणसूत्र योग विधि 15. विपाकसूत्र योग विधि।

उपाङ्गसूत्रों की योगविधियाँ– 16. प्रारम्भ के चार उपांग सूत्रों की विधि 17. पाँचवें से लेकर सातवें उपांग सूत्रों की तप विधि 18. आठवें से लेकर बारहवें उपांग सूत्रों की योग विधि।

छेदसूत्रों की योग विधियाँ– 19. निशीथसूत्र योग विधि 20. दशाश्रुत-बृहत्कल्प-व्यवहारसूत्र योग विधि 21. जीतकल्प-पंचकल्पसूत्र योग विधि 22. महानिशीथसूत्र योग विधि

प्रकीर्णक सूत्रों की योग विधि– 23. योगोद्वहन के दिनों की संख्या 24. तुलनात्मक विवेचन 25. उपसंहार।

अध्याय-7 : कल्पत्रेप विधि का सामाचारीगत अध्ययन 379-387

1. कल्पत्रेप शब्द का अर्थ विमर्श 2. कल्पत्रेप की गीतार्थ विहित परिभाषाएँ 3. कल्पत्रेप के लिए शुभदिन 4. कल्पत्रेप (छहमासिक कल्प उतारने) सम्बन्धी नियम 5. स्वाध्याय उत्क्षेपण (प्रस्थापन) विधि 6. स्वाध्याय निक्षेपण विधि 7. किन स्थितियों में कल्पत्रेप करें? 8. योगोद्वहन सम्बन्धी पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दों के विशिष्टार्थ एवं रहस्यार्थ 9. उपसंहार।

परिशिष्ट 388-400

सहायक ग्रन्थ सूची 401-410

अध्याय-1

जैन आगम : एक परिचय

जैन आगम भारतीय साहित्य की अनमोल धरोहर है। जैन धर्म एवं दर्शन के प्रचार-प्रसार में आगम निहित सिद्धान्तों का विशिष्ट योगदान रहा है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में वेद, बौद्धों में त्रिपिटक, ईसाईयों में बाईबिल, पारसियों में अवेस्ता और मुस्लिमों में कुरानशरीफ आदि धर्मग्रन्थ पवित्र और पूज्य माने जाते हैं उसी प्रकार जैन परम्परा में भी 'आगम' का पूज्य स्थान है।

श्रमण धर्म में तीर्थंकरों के उपदेश को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। आगमों में उन्हीं के उपदेशों का संकलन है। सभी तीर्थंकरों के उपदेशों में प्राय: एकरूपता होती है इसलिए आप्तवाणी को अनादि अनंत कहा गया है फिर भी वर्तमान आगम अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के उपदेशों का संकलन है और इन्हीं के आधार पर वर्तमान में जैन संघ की शासन व्यवस्था चलती है।

आगम शब्द का अर्थ विचार

• आगम का सामान्य अर्थ है– आप्तवचन के आधार पर गणधरों एवं स्थविरों द्वारा रचित श्रुत ग्रन्थ।

• आगम, यह शब्द 'आ' उपसर्ग एवं 'गम्' धातु से निर्मित है। 'आ' उपसर्ग पूर्णता का सूचक है तथा 'गम्' धातु ज्ञानार्थक है। स्पष्टार्थ यह है कि जिससे वस्तु तत्त्व का पूर्ण ज्ञान हो वह आगम है अथवा जो ज्ञान परम्परा से प्राप्त हुआ है, वह आगम है।

• संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार परम्परागत सैद्धान्तिक, औपदेशिक एवं धार्मिक ग्रन्थ आगम है।[1]

• प्राकृत कोश में आगम का अर्थ शास्त्र या सिद्धान्त किया है।[2] आचारांग सूत्र में आगम शब्द जानने के अर्थ में प्रयुक्त है।[3] स्थानांगसूत्र[4], भगवतीसूत्र[5], एवं अनुयोगद्वार में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत है।

• कई ग्रन्थों में आप्त के उपदेश को आगम कहा गया है। रत्नाकरावतारिका के अनुसार आप्त के वचन द्वारा आविर्भूत (उत्पन्न) हुआ

अर्थ–संवेदन (अर्थ-ज्ञान) आगम कहलाता है। उपचारत: आप्त वचन भी आगम कहे जाते हैं।[6]

• आगम शब्द में प्रयुक्त 'आ' 'ग' 'म' इन अक्षरों के निम्न अर्थ भी किए हैं– 'आ' अर्थात जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ 'म' अर्थात मर्यादा वाला 'ग' अर्थात ज्ञान प्राप्त हो वह आगम है।[7]

आगम की विभिन्न परिभाषाएँ

आवश्यकचूर्णि में आप्तवचन को आगम कहा गया है। यह व्याख्या अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है।[8]

आवश्यक टीका में कहा गया है कि अनन्त ज्ञानी केवली भगवान भव्य आत्माओं के प्रतिबोध के लिए तप-नियम-ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर ज्ञान पुष्पों की वृष्टि करते हैं, गणधर अपने बुद्धि पटल पर उन सकल कुसुमों को ग्रहण कर प्रवचन माला गूंथते हैं, वही आगम है।[9]

आवश्यक निर्युक्ति एवं धवलाटीका के अनुसार तीर्थंकर केवल अर्थ का उपदेश देते है और गणधर उसे सूत्रबद्ध करते हैं उसके बाद वह सूत्र (आगम) शासन हित के लिए प्रवृत्त होता है।[10]

नन्दीटीका के मतानुसार जो समस्त श्रुतगत विषयों से व्याप्त है, मर्यादा से सम्पन्न है, यथार्थ प्ररूपणा के कारण जिससे अर्थ जाने जाते हैं तथा अर्थों को अलग-अलग कर जिससे स्पष्टता की जाती है वह आगम है।[11]

आचार्य सिद्धसेन के अनुसार आचार्यों की परम्परा से वासित होकर जो (जिनवचन) प्राप्त होते हैं वे आगम हैं।[12] इस व्याख्या में 'वासित' शब्द, जीत क्रम से जो-जो आगम अविरुद्ध, असावद्य, संविग्न गीतार्थों द्वारा आचरित आचरणाएँ हैं उनसे सम्बन्ध रखता है।

विशेषावश्यकभाष्य में आगम अर्थ को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिससे अनुशासन प्राप्त होता है वह शास्त्र है, अथवा जो विशिष्ट ज्ञान रूप है वह शास्त्र है और आगम ही (ऐसा) शास्त्र है। परमार्थत: आगम शास्त्र ही श्रुतज्ञान है।[13]

परीक्षामुख के अनुसार आप्त के वचनों से होने वाले पदार्थों का ज्ञान आगम है।[14] तथा जो वाणी पूर्वापर दोष रहित और शुद्ध है वह आगम है।[15]

रत्नकरण्डक श्रावकाचार के मतानुसार जो आप्त कथित हो, वादी-

प्रतिवादी द्वारा अखण्डित हो, प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से अविरुद्ध हो, वस्तु स्वरूप को बताने वाला हो और मिथ्या मार्ग का खण्डन करने वाला हो ऐसा सत्यार्थ का प्रतिपादक शास्त्र ही आगम है।[16]

सारांश यह है कि पूर्वापर विरोध से रहित और सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक ऐसे आप्त के वचनों का संकलन आगम है।

आगम के एकार्थवाची नाम

अर्हत्मत में आगम के अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में आगम के लिए 'श्रुत' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, जिसका अर्थ है सुना हुआ। नंदीसूत्र में आगमों के लिए 'श्रुत' शब्द का ही प्रयोग है।[17] स्थानांगसूत्र में आगमकारों को 'श्रुतकेवली' एवं 'श्रुतस्थविर' कहा गया है।[18] अनुयोगद्वार एवं विशेषावश्यकभाष्य में आगम के लिए सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, प्रवचन, आज्ञा, उपदेश, प्रज्ञापना आदि शब्दों का उल्लेख किया गया है।[19] आचार्य उमास्वाति ने श्रुत, आप्तकथन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन, जिनवचन आदि शब्दों को 'आगम' कहा है।[20] भगवतीसूत्र में आगम के लिए 'प्रवचन' शब्द भी प्रयुक्त किया गया है।[21]

धवला टीका में आगम, सिद्धांत और प्रवचन को एकार्थवाची बतलाया है।[22] इस प्रकार आगम शब्द के विभिन्न एकार्थक नाम उपलब्ध होते हैं।

आगम के प्रकार

अनुयोगद्वार में आगम के तीन प्रकार बतलाए हैं– सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम।[23] आगम के अन्य तीन प्रकार ये भी बताए गए हैं– आत्मागम, अनंतरागम और परम्परागम।[24] तीर्थंकरों के लिए अर्थ आत्मागम है। गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम है और अर्थ अनन्तरागम है। गणधरशिष्यों के लिए सूत्र अनंतरागम और अर्थ परम्परागम है। उसके बाद शेष सभी के लिए सूत्र और अर्थ दोनों ही परम्परागम है।

आगम के दो प्रकार निम्न रूप से भी उपदिष्ट हैं– 1. लौकिक आगम और 2. लोकोत्तर आगम।[25] अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और स्वच्छन्द बुद्धि वाले व्यक्तियों द्वारा विरचित आगम लौकिक कहलाते हैं जैसे– महाभारत, रामायण, कौटिल्य अर्थशास्त्र, कापिल आदि। अर्हन्तों द्वारा प्रणीत आगम लोकोत्तर आगम है।

आगमों की मौखिक परम्परा का इतिहास एवं अवधारणाएँ

लगभग 2500 वर्ष पहले से ही यह परम्परा अस्तित्व में रही है कि जिज्ञासुजन अपने धर्मग्रन्थों को अत्यन्त विनय एवं आदर पूर्वक गुरुजनों से श्रवण कर उन्हें कण्ठाग्र करते तथा उन पाठों को पुनरावर्त्तन-पृच्छना आदि स्वाध्याय के माध्यम से स्मृतिगत रखते थे। धर्मग्रन्थों की भाषा का उच्चारण शुद्ध हो, कहीं मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि का निरर्थक प्रवेश न हो जाये और उनका लोप न हो जाये, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था।

डॉ. सुभाषचन्द जैन ने लिखा है कि जैन परम्परा में सूत्रों की पद संख्या, अक्षर संख्या, संपदा आदि का विशिष्ट विधान था। सूत्रों का उच्चारण किस प्रकार किया जाये एवं उच्चारण करते समय किन-किन दोषों से बचना चाहिए, इस विषय में भी पूर्ण जानकारी रखी जाती थी। इस प्रकार विशुद्ध रीति से संचित श्रुतसाहित्य को गुरु अपने शिष्यों को सौंपते और शिष्य पुन: उस ज्ञान को अपने प्रशिष्यों को सौंपते थें, इस तरह धर्मशास्त्र (आगम शास्त्र) स्मृति द्वारा ही सुरक्षित रखे जाते थे। वर्तमान में जो साहित्य उपलब्ध है उनमें श्रुत, स्मृति आदि शब्दों का उल्लेख इस बात का प्रमाण है। जैसे ब्राह्मण परम्परा में पूर्व कालिक शास्त्रों को श्रुति तथा परवर्ती शास्त्रों को स्मृति कहा जाता है, वैसे ही श्रमण-परम्परा में मुख्य प्राचीन शास्त्रों को 'श्रुत' कहा जाता है। आचारांग के 'सुयं मे शब्द से पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि ये शास्त्र सुने हुए हैं और सुनते-सुनते कालक्रम से चले आए हैं।[26] प्राचीन काल में मौखिक परम्परा जीवंत रही है और आज भी अनेक जैन साधु-साध्वियों को कई आगम ग्रन्थ कण्ठस्थ है।

मौखिक परम्परा के प्रयोजन

प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि हमारे पूर्वजों को प्राचीनकाल से ही ताड़पत्र, कागज, स्याही, लेखनी आदि का परिचय एवं उनकी प्रयोग विधि ज्ञात थी तथा उनमें शास्त्र लिखने का सामर्थ्य भी था, फिर भी जैन परम्परा में श्रुतसाहित्य को स्मृति पटल पर सुरक्षित रखने का मानसिक भार क्यों उठाया गया?[27] इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि शास्त्र लेखन की परम्परा को विकसित न करने में जैन साधकों की आचार मर्यादाएँ एवं अहिंसा मूलक अवधारणाएँ बाधक रही हैं। इस विषयक निम्न पहलू मननीय है–

1. परिग्रह की सम्भावना– जैन मुनि मन, वचन, काया द्वारा हिंसा न करने, हिंसा न करवाने एवं हिंसा की अनुमोदना न करने की प्रतिज्ञा का यावज्जीवन पालन करते हैं। आचारांग आदि ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि साधु को उस तरह की वस्तु का निर्माण करने, करवाने या स्वीकारने का सर्वथा निषेध किया गया है जिसमें हिंसा की सम्भावना हो। जबकि शास्त्र का लेखन करना या करवाना प्रत्यक्षत: हिंसा जन्य है तथा इससे परिग्रह की वृद्धि भी होती है।

2. अहिंसा का पालन– जैन साधुओं द्वारा पुस्तक आदि का संचय किया जाये तो अहिंसा एवं अपरिग्रह दोनों व्रतों के खंडित होने की पूर्ण शक्यता रहती है। शनै: शनै: सभी व्रतों के दूषित होने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। अतएव लेखन की उपेक्षा की गई। बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार पुस्तक रखने वाले मुनि को प्रायश्चित्त आता है।

3. आन्तरिक तप– धर्मपाठों को मुखाग्र कर उनका बार-बार पुनरावर्त्तन करना, अनुप्रेक्षा करना, धर्मकथा करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय आभ्यन्तर तप का मुख्य प्रकार है। पुस्तक का आलम्बन प्राप्त होने से मन, वचन, काया की एकाग्रता खंडित होने लगती है, जबकि कंठाग्र पाठों का स्मरण करने से स्थैर्य गुण की वृद्धि होती है और उससे विपुल निर्जरा भी होती है अत: लेखन प्रवृत्ति को उचित नहीं माना गया।

जिनवाणी को लिपिबद्ध न करने के सम्बन्ध में निम्न कारण भी बताये गये है[28]–

- ताड़पत्रों पर कुरेदकर अक्षर आदि लिखने से कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इस तरह पुस्तक लेखन संयम विराधना का कारण है।
- पुस्तकों का संचय करने पर उन्हें एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाते समय कन्धे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते हैं।
- उनके छिद्रों की सम्यक प्रकार से प्रतिलेखना करना असम्भव होता है।
- विहार-यात्रा में वजन बढ़ने से शारीरिक थकावट आती है, जिससे संयमी जीवन की नियमित चर्याओं में भी विक्षेप होता है।
- कुन्थु आदि त्रस जीवों का आश्रय होने से अथवा चोर आदि के चुराये जाने पर पुस्तक आदि हिंसा के साधन हो जाते हैं।

- तीर्थंकरों ने पुस्तक रूप उपकरण रखने की अनुज्ञा नहीं दी है।
- पुस्तकें समीप में रहने से स्वाध्याय में प्रमाद होता है। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार साधु जितनी बार पुस्तकों को बाँधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का प्रायश्चित्त आता है और आज्ञा विराधना आदि दोष लगते हैं।[29]

परमार्थत: श्रुतलेखन निषिद्ध है। वह आपवादिक रूप से ही विधेय है। श्रुतनाश, धृति बल, संघयण ह्रास एवं शासन को अविच्छिन्न रखने के कारण ताड़पत्र, पुस्तक लेखन आदि की प्रवृत्ति विहित की है। ऐसे किसी कारण के उपस्थित होने पर इसमें हानि की अपेक्षा लाभ अधिक बताया गया है।

आचार्य 'गणिपिटक' के स्वामी होते हैं। श्रुतसम्पत्ति आचार्यों के अधीन होती है। गच्छ एवं संघ के हितार्थ आचार्य-गच्छाधिपति श्रुत भंडार अपने स्वाधीन रखते हैं जिससे सामान्य मुनि वर्ग श्रुत-समृद्धि का दुरुपयोग नहीं कर सकें। दूसरा योग्य शिष्य को ही श्रुत देने का विधान है, अयोग्य को कतई नहीं। श्रुतदान की मौखिक परम्परा का एक रहस्य यह भी है।

इस प्रकार उक्त कई कारणों से सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में लेखन कला का सम्यक ज्ञान होने पर भी जैन मुनियों ने धर्मग्रन्थों को लिपिबद्ध नहीं किया। जब परिस्थिति विशेष में लेखन परम्परा का प्रवर्त्तन किया गया तो उसमें प्राचीन मर्यादा एवं श्रुतलेखन की वर्तमान (पाश्चात्य) परम्परा का समन्वय होना जरूरी था।

आगमों का विच्छेद क्रम

आधुनिक शोधकर्त्ताओं के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात श्रमणों के क्रिया कलापों एवं आचार-विचारों में निष्क्रियता आने लगी। लगभग वीर निर्वाण के 600 वर्ष पश्चात जैन धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर ऐसे दो सम्प्रदायों में विभाजित हुआ तथा अचेलक एवं सचेलक परम्पराओं का सूत्रपात हुआ। श्रमण वर्ग अपरिग्रह को छोड़कर परिग्रह धारण करने लगे इससे स्वाध्याय वृत्ति में मन्दता आने लगी। साथ ही प्रकृति के प्रकोप (दुष्काल-अनावृष्टि आदि) के कारण भी आगम पाठों का यथावत स्वाध्याय करना कठिनतर होता गया। इस प्रकार आगम विच्छेद का क्रम शुरू हुआ।[30]

इस आगम विच्छेद के बारे में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार श्रुत स्वयं नष्ट होने लगे एवं दूसरे के अनुसार श्रुतधारकों का अभाव होने लगा।[31] धवला एवं जय धवला के मत से श्रुतधारक का अभाव हुआ है, श्रुत का नहीं, किन्तु दिगम्बर परम्परा श्रुत का ही विच्छेद मानती है।[32]

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे, श्वेताम्बर मान्यतानुसार इनका स्वर्गवास वीर निर्वाण के 170 वर्ष बाद एवं दिगम्बर मान्यतानुसार वीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद हुआ, माना गया है। इन्हीं के स्वर्गवास के साथ चतुर्दशपूर्वधर (श्रुतकेवली) का लोप हो गया और आगम विच्छेद का क्रम आरम्भ हुआ। वीर निर्वाण सम्वत् 216 में स्थूलिभद्र मुनि स्वर्गस्थ हुए, जो साढ़े नौ या पौने दस पूर्व के पूर्ण एवं अन्तिम सवा या साढ़े चार पूर्व के शाब्दिक ज्ञाता थे, इनके साथ अन्तिम साढ़े चार पूर्व भी नष्ट हो गए। इसके पश्चात आर्य वज्रस्वामी तक दस पूर्वों की परम्परा चली। ये वीर निर्वाण संवत् 551 (वि. सं. 81) में स्वर्ग सिधारे, उस समय दसवाँ पूर्व जो आंशिक रूप से बचा हुआ था वह भी नष्ट हो गया। उसके बाद दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वों के ज्ञाता थे, उनका स्वर्गवास वीर निर्वाण सम्वत् 604 (वि.सं. 134) में हुआ। उनके साथ नौवां पूर्व भी विच्छिन्न हो गया। इस प्रकार देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (वीर निर्वाण संवत् 800 से 900 के मध्य) तक पूर्वों का विच्छेद क्रम चलता रहा।[33] पं. दलसुखजी मालवणिया के अभिप्राय से आर्य वज्रस्वामी का स्वर्गवास वीर निर्वाण संवत् 584 वर्ष के बाद हुआ और उनके साथ ही दस पूर्वों का विच्छेद हो गया।[34] यद्यपि कुछ लोगों द्वारा यह माना जाता है कि देवर्द्धिगणि स्वयं एक पूर्व से कुछ अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। दिगम्बर मान्यतानुसार अन्तिम दस पूर्वी धरसेन हुए हैं और उनकी मृत्यु वीर निर्वाण 345 में हुई। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा में चतुर्दशपूर्वी (श्रुतकेवली) एवं दशपूर्वी का विच्छेद क्रम श्वेताम्बर परम्परा से क्रमशः 8 वर्ष और 239 वर्ष पहले ही स्वीकार किया गया है।[35]

आगम वाचनाएँ कब और कहाँ?

भगवान महावीर के कल्याणकारी उपदेशों को सुरक्षित रखा जा सके, एतदर्थ उनके निर्वाण के पश्चात आगम संकलना के उद्देश्य से प्रमुखतः पाँच वाचनाएँ हुई। उनका संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है–

प्रथम वाचना– आवश्यकचूर्णि के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी के समय (लगभग 160 वर्ष पश्चात) पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। समस्त श्रमणसंघ छिन्न-भिन्न हो गया। दुर्भिक्ष के कारण अनेक श्रुतधर मुनि काल-कवलित हो गए। सुभिक्ष होने पर पुन: श्रमणसंघ पाटलीपुत्र में एकत्रित हुआ और आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में ग्यारह अंग संकलित किए गए। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद को जानने वाला कोई मुनि वहाँ नहीं था। उस समय इस ग्रन्थ के एक मात्र ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु स्वामी महाप्राण ध्यान की साधनार्थ नेपाल देश की पहाड़ियों में ध्यानस्थ थे। संघ ने परामर्श कर एक संघाटक (दो मुनि) वहाँ भेजा गया तथा पाटलिपुत्र पधारकर दृष्टिवाद की वाचना देने हेतु निवेदन किया गया। आचार्य भद्रबाहु ने कहा– इतना समय दुष्काल होने से महाप्राण की साधना अभी प्रारम्भ की है, अत: वाचनार्थ आने में असमर्थ हूँ। मुनियों ने लौटकर सारा वृत्त संघ को सुनाया। पुन: एक संघाटक भेजा गया और कहलवाया कि वाचना न देने पर प्रायश्चित्त लेना होगा। तब भद्रबाहु ने कुछ मेधावी साधुओं को भेजने के साथ-साथ प्रतिदिन सात वाचनाएँ देने का संदेश भिजवाया। संघ ने संघाटक से यह संवाद ज्ञातकर स्थूलिभद्र आदि पाँच सौ मेधावी मुनियों को वहाँ भेजा। वाचना-क्रम धीमी गति से प्रारम्भ हुआ प्रथम एक भिक्षाचर्या से आने के बाद, द्वितीय स्वाध्याय के समय, तृतीय शौच से आने के बाद, चतुर्थ विकाल वेला में एवं अन्तिम (5-7) तीन वाचनाएँ प्रतिक्रमण के बाद रात्रि में देते थे। प्राय: सभी मुनि न पढ़ सकने के कारण एक, दो या तीन महीनों में पाटलीपुत्र लौट गए, केवल स्थूलिभद्र निष्ठा से अध्ययन में संलग्न रहे और दस पूर्व तक अर्थ सहित वाचना ग्रहण की। तदनन्तर साधनाकाल पूर्ण हो जाने से अधिक समय तक वाचना देने का अवसर आया तभी यक्षा आदि साध्वियाँ भ्राता स्थूलिभद्र के दर्शनार्थ आयी, तब स्थूलिभद्र ने सिंह का रूप धारण कर उन्हें चमत्कार दिखलाया। जब भद्रबाहु इस घटना से अवगत हुए तो उन्होंने स्थूलिभद्र को वाचना देने से इन्कार कर दिया। मुनि स्थूलिभद्र द्वारा क्षमा माँगने एवं अनुनय-विनय करने पर शेष चार पूर्वों की वाचना केवल मूल पाठ के रूप में प्रदान की।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य भद्रबाहुस्वामी द्वारा भले ही पूर्वों की वाचना नेपाल देश में दी गई हो, किन्तु श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रथम प्रयास तो पाटलीपुत्र में ही किया गया और वहाँ ग्यारह अंग भी संकलित

किए गए। अत: इस वाचना को 'पाटलीपुत्र' वाचना कहते हैं।[36]

द्वितीय वाचना– आगम संकलन की दूसरी वाचना वीर निर्वाण 300 से 330 के मध्य राजा खारवेल के सत्प्रयासों से सम्पन्न हुई। हिमवन्त थेरावली के अनुसार जैन धर्मोपासक राजा खारवेल ने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का एक सम्मेलन करवाया और मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उन्हें संकलित कराया।[37] इस संघ के प्रमुख सुस्थित एवं सुप्रतिबद्ध दोनों सहोदर थे। खण्डगिरि व उदयगिरि में जो शिलालेख उत्कीर्ण है, उससे स्पष्ट है कि आगम संकलन हेतु यह सम्मेलन किया गया था।[38]

तृतीय वाचना– आगम संकलन का तृतीय प्रयास वीर निर्वाण 827-840 के मध्य में हुआ। नन्दीचूर्णि[39] के अनुसार उस समय बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। इस प्रभाव से अनेक वृद्ध एवं बहुश्रुत श्रमण परलोकवासी हो गये और कुछ युवक मुनि विशुद्ध आहार की अन्वेषणा-गवेषणा के लिए दूर-दूर क्षेत्रों की ओर चले गये तथा समयाभाव वश कंठाग्र पाठों का यथावत स्वाध्याय न कर पाने के कारण उनके सूत्र पाठ भी काफी विस्मृत हो गये। दुष्काल की सम्पन्नता के बाद मथुरा में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में विशाल श्रमण संघ एकत्रित हुआ। इस सम्मेलन में मधुमित्र, संघहस्ति आदि 150 श्रमण उपस्थित थे।[40] जिसको जो याद था, वह संकलित किया गया। इस समय भी केवल अंग सूत्रों की ही वाचना हुई और इन सूत्रों के लिए कालिक शब्द व्यवहृत हुआ। यह वाचना मथुरा में सम्पन्न होने के कारण 'माथुरी वाचना' कहलाई।

एक मान्यता यह है कि इस द्वादशवर्षीय दुष्काल में श्रुत नष्ट नहीं हुआ था। जो विशिष्ट अनुयोगधर साधु थे, वे काल कवलित हो गये। एकमात्र स्कन्दिलाचार्य ही अनुयोगधर बचे। उन्होंने मथुरा में पुन: से अनुयोग का प्रवर्त्तन किया, इसलिए इसे 'माथुरी वाचना' कहा गया तथा यह स्कन्दिलाचार्य का अनुयोग कहलाया।

चतुर्थ वाचना– आगम संकलन का चतुर्थ प्रयास मथुरा सम्मेलन के समय वीर निर्वाण 827-840 के आस-पास वल्लभीपुर (सौराष्ट्र) में नागार्जुनसूरि की अध्यक्षता में हुआ, जो 'वल्लभी वाचना' या 'नागार्जुनी वाचना' के नाम से प्रसिद्ध है।[41] इस वाचना के समय जो श्रमण संघ एकत्रित हुआ, उन्हें बहुत कुछ श्रुत विस्मृत हो चुका था, परन्तु जो स्मृति में था उनका संकलन किया गया।

कुछ चूर्णियों में नागार्जुन नाम से पाठान्तर मिलते हैं। पण्णवणा जैसे अंगबाह्य सूत्रों में भी इस प्रकार के पाठान्तरों का निर्देश है।[42]

पंचम वाचना– आगम संकलन का पांचवाँ प्रयास वीर निर्वाण के 900 वर्षों के बाद (980-993 के मध्य) वल्लभीपुर में देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में हुआ। आधुनिक विद्वानों के अभिप्रायानुसार वीर निर्वाण के 900 वर्ष बाद कालजन्य स्थिति के प्रभाव से बहुश्रुत मुनियों की स्मृति भी दुर्बल हो चुकी थी, विशाल ज्ञान को स्मृति में रख पाना कठिन हो गया था अत: मुनियों का सम्मेलन किया गया और स्मृति में शेष सभी सूत्र पाठों को संकलित किया गया। साथ ही उन्हें पुस्तकारूढ़ भी कर दिया गया।[43] यह पुस्तक रूप में लिखने का प्रथम प्रयास था। कहीं-कहीं यह उल्लेख भी आता है कि आचार्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन के समय ही आगम पुस्तकारूढ़ कर दिये गये थे।[44]

इस वाचना काल में आगम-पाठों को पुस्तकारूढ़ करते समय माथुरी और वल्लभी वाचनाओं का समन्वय कर उनमें एकरूपता लाने का प्रबल प्रयास किया गया। जहाँ मत-मतान्तरों की बहुलता थी वहाँ माथुरी वाचना को मूल स्थान दिया तथा वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। यही कारण है कि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का निर्देश मिलता है। इसी के साथ जहाँ-जहाँ समान पाठ आये, वहाँ पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए विशेष ग्रन्थ या स्थल का निर्देश किया जैसे– 'जहा उववाइए, जहा पण्णवणाए।' एक ही आगम में एक बात अनेक बार आने पर 'जाव' शब्द का प्रयोग कर उसका अन्तिम शब्द सूचित कर दिया गया जैसे– 'णागकुमारा जाव विहरंति' 'तेणं कालेणं जाव परिसा णिग्गया'। इसके अतिरिक्त भगवान महावीर के पश्चात की कुछ मुख्य घटनाओं को भी आगमों में स्थान दिया गया। इस प्रकार यह वाचना वल्लभी में होने के कारण 'वल्लभी वाचना' कही गई। इसके पश्चात आगमों की सर्वमान्य एक भी वाचना नहीं हुई तथा वीर निर्वाण की दसवीं शती के अनन्तर, पूर्वधर आचार्य की परम्परा ही विलुप्त हो गई।[45]

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके बाद उनमें किसी तरह का परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं हुआ, ऐसा

माना जाता है।[46] आगम वाचना की तालिका इस प्रकार है–

नगर	नेतृत्व	वाचना नाम	समय	संदर्भ-ग्रन्थ
प्रथम वाचना–				
पाटलीपुत्र	आचार्य स्थूलिभद्र आचार्य भद्रबाहु	पाटलीपुत्र	वीर निर्वाण दूसरी शती (160 वर्ष)	आवश्यकचूर्णि
द्वितीय वाचना–				
खण्डगिरि उदयगिरि	आयोजक–राजा खारवेल आर्य सुस्थितसूरि आर्य सुप्रतिबद्धसूरि	उदयगिरि खण्डगिरि (उड़ीसा) वर्तमान भुवनेश्वर के समीप	वीर निर्वाण चतुर्थ शती (300-330 के मध्य)	हिमवंत थेरावली एवं खारवेल का अभिलेख
तृतीय वाचना–				
मथुरा	आचार्य स्कन्दिलसूरि	माथुरी	वीर निर्वाण नौंवी शती (827-840)	नंदीचूर्णि
चतुर्थ वाचना–				
वल्लभीपुर	आचार्य नागार्जुनसूरि	वल्लभी	वीर निर्वाण नौंवी शती (827-840)	कहावली भद्रेश्वरसूरि
पंचम वाचना–				
वल्लभीपुर	देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण	वल्लभी	वीर निर्वाण दसवीं शती (980-993)	सामाचारी शतक

यहाँ ध्यातव्य है कि आर्य स्कंदिल सूरिजी की (माथुरी) वाचना एवं आर्य नागार्जुनसूरिजी की (वल्लभी) वाचना दोनों का एक समय होने से कहीं-कहीं दोनों को एक वाचना के रूप में भी गिना गया है। वस्तुतः वे अलग-अलग वाचनाएँ ही है। आर्य रक्षितसूरिजी महाराज ने वीरात् 502 में मंदसौर (दशपुरनगर म.प्र.) में आगम अनुयोग पृथक्कीकरण की वाचना भी की थी।

आगम लेखन का प्रारम्भ कब से?

जैन धर्म का विशाल साहित्य सर्वप्रथम चौदह पूर्वों एवं बारह अंगों में

संरक्षित था। वीर निर्वाण की नवीं शती तक यह श्रुतसाहित्य मौखिक परम्परा के आधार पर सुरक्षित रहा। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि पूर्वाचार्यों को लेखन परम्परा का ज्ञान नहीं था, क्योंकि लिपि का प्रादुर्भाव प्राग ऐतिहासिक काल में ही हो चुका था। प्रज्ञापनासूत्र में अठारह लिपियों का उल्लेख है।[47] भगवतीसूत्र में मंगलाचरण में 'नमो बंभीए लिविए' कहकर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है।[48] भगवान ऋषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियाँ सिखलाई थी।[49] अत: यह स्पष्ट है कि आगम लेखन से पूर्व ही लेखन कला एवं सामग्री का विकास हो चुका था परन्तु अपरिग्रह व्रत का खंडन, हिंसाजन्य प्रवर्त्तन, स्वाध्याय विघटन, विहारयात्रा में विक्षेप आदि कारणों से धर्मशास्त्रों को कंठाग्र रखने पर जोर दिया गया। यही परम्परा बौद्ध एवं वैदिक धर्म में भी थी। इसी कारण इन तीन परम्पराओं से सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थों के लिए क्रमश: श्रुतं, सुत्वं एवं श्रुति शब्द प्रयुक्त हुआ है।

द्वितीय माथुरी वाचना के पूर्व आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारसूत्र की रचना की। उसमें द्रव्यश्रुत के लिए 'पत्तय पोत्थयलिहिय' शब्द का प्रयोग हुआ है।[50] इससे सिद्ध होता है कि आर्यरक्षित के पूर्व लिखने की परम्परा तो थी, किन्तु जैनागम लिखे गये हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि भगवान महावीर निर्वाण की 10वीं शती के अन्त में आगम लेखन की परम्परा का विकास हुआ। इस सम्बन्ध में एक प्रमाण यह भी है कि आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के काल से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार आगम लेखन युग का प्रारम्भ ईसा की 5वीं शताब्दी मान सकते हैं। उपर्युक्त विवरण से इस बात का भी निश्चय हो जाता है कि उत्सर्गत: मुनियों के लिए लेखन कार्य का निषेध किया गया है फिर भी आगम ग्रन्थों का विच्छेद न हो जाये, एतदर्थ आगम लिखे गये।[51] दूसरे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व आगम वाचनाएँ तो हुई, किन्तु आगम लेखन उनके ही समय प्रारम्भ हुआ।

आगमों का वर्गीकरण

जैन वाङ्मय में आगम साहित्य को अनेक भागों में वर्गीकृत किया जाता रहा है। प्रमुख रूप से 1. पूर्व और अंग 2. अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य, कालिक और उत्कालिक 3. अनुयोग और 4. अंग, उपांग, मूल, छेद, प्रकीर्णक एवं चूलिका– ऐसे चार प्रकार का विभाजन उपलब्ध होता है।

प्रथम वर्गीकरण

जैनागमों का प्रथम वर्गीकरण समवायांगसूत्र में प्राप्त होता है।[52] यहाँ आगम को दो भागों में विभक्त किया है– पूर्व और अंग। इसमें पूर्वों की संख्या चौदह और अंगों की संख्या बारह बतलाई गई है।

पूर्व– नन्दीचूर्णि के अनुसार तीर्थंकर तीर्थ प्रवर्त्तन के समय गणधरों के समक्ष सर्वप्रथम पूर्वों का विश्लेषण करते हैं तथा ये पूर्व समस्त सूत्रों के आधार भूत हैं अत: पूर्व कहलाते हैं।[53] स्थानांग टीका के अभिमत से द्वादशांगी के पहले पूर्व साहित्य संकलित किया गया, इस कारण इनका नाम पूर्व पड़ा।[54] परन्तु यह मत रचना की दृष्टि से समझना चाहिए, स्थापना की दृष्टि से नहीं। स्थापना की दृष्टि से आचारांग का स्थान पहला है। विद्वानों की मान्यता है कि प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परा के आगम 'पूर्व' नाम से जाने जाते हैं तथा भगवान महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण इन्हें 'पूर्व' कहना उचित भी है। इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के आगम 'पूर्व' है और भगवान महावीर के गणधरों द्वारा रचित आगम 'अंग' है। यहाँ विद्वानों के मत के प्रतिपक्ष में पूज्य आगमविज्ञ रत्नयशविजयजी म.सा. का कहना यह है कि हर तीर्थंकरों के शासन में सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र की रचना होती है क्योंकि शासन स्थापना के दिन दैवसिक प्रतिक्रमण करना होता है। दिन की सज्झाय आदि विधि भी जरूरी होती है। साध्वाचार पहले दिन से ही प्रारम्भ हो जाता है अत: उसके सूत्र भी जरूरी होने से गणधर भगवंत सर्वप्रथम आवश्यक रचते हैं। तत्पश्चात पूर्वों की रचना होती है। उसके बाद आचारांग आदि अंग आगम रचे जाते हैं।

अंगों के क्रम में आचारांग सूत्र प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में प्रथम होता है। रचना के क्रम में आवश्यकसूत्र एवं तत्पश्चात पूर्वगत श्रुत होता है। इस प्रकार केबल प्रभु पार्श्वनाथ भगवान के आगम 'पूर्व' कहलाते थे यह मान्यता तथ्यहीन है। वर्तमान में पूर्व साहित्य को बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत ही समाहित कर लिया गया है। दृष्टिवाद का एक विभाग पूर्वगत है और इसी पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं। नन्दीसूत्र में दृष्टिवाद को पाँच भागों में विभक्त किया है– 1. परिकर्म 2. सूत्र 3. पूर्वानुयोग 4. पूर्व और 5. चूलिका।[55] यहाँ 'पूर्व' नामक चतुर्थ विभाग में चौदह पूर्व का ज्ञान समाविष्ट है। इस दृष्टि से जो द्वादशांगी के ज्ञाता हैं वे पूर्वों के भी ज्ञाता होते हैं। इस प्रकार अंग साहित्य की रचना के पश्चात चौदह पूर्वों और अन्य ग्रन्थों को मिलाकर दृष्टिवाद का नाम

दे दिया गया, किन्तु दुर्भाग्य से यह पूर्व साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। वस्तुत: वीर निर्वाण की दूसरी शती से पूर्वों का विच्छेद होना प्रारम्भ हो चुका था और दसवीं शती के अन्त तक ये सर्वथा लुप्त हो गये। चौदह पूर्वों के नाम ये हैं–

1. उत्पाद पूर्व 2. अग्रायणी पूर्व 3. वीर्यप्रवाद पूर्व 4. अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व 5. ज्ञानप्रवाद पूर्व 6. सत्यप्रवाद पूर्व 7. आत्मप्रवाद पूर्व 8. कर्मप्रवाद पूर्व 9. प्रत्याख्यान पूर्व 10. विद्यानुप्रवाद पूर्व 11. अवन्ध्य पूर्व 12. प्राणायुप्रवाद पूर्व 13. क्रियाविशाल पूर्व 14. लोकबिन्दुसार पूर्व।[56]

अंग– सामान्यतया भारतीय दर्शन की जैन बौद्ध एवं वैदिक तीनों परम्पराओं में 'अंग' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैन परम्परा में 'अंग' शब्द आचारांग आदि बारह आगम सूत्रों के लिए प्रयुक्त है।

बारह अंगों के नाम इस प्रकार हैं– 1. आचारांग 2. सूत्रकृतांग 3. स्थानांग 4. समवायांग 5. भगवती 6. ज्ञाताधर्मकथा 7. उपासकदशा 8. अन्तकृतदशा 9. अनुत्तरोपपातिकदशा 10. प्रश्नव्याकरण 11. विपाक और 12. दृष्टिवाद।[57] वैदिक परम्परा में वेदाध्ययन में सहयोगी ग्रन्थों को 'अंग' कहा गया है तथा वे ग्रन्थ छह प्रकार के बतलाए गए हैं– 1. शिक्षा 2. कल्प 3. व्याकरण 4. निरूक्त 5. छन्द 6. ज्योतिष। बौद्ध पिटकों में बुद्ध के वचनों को नवांग और द्वादशांग कहा गया है। नवांग के नाम ये हैं–

1. सुत्त– बुद्ध का गद्यमय उपदेश। 2. गेय्य– बुद्ध का गद्य-पद्य मिश्रित अंश। 3. वैयाकरण– बुद्ध के व्याख्यात्मक ग्रन्थ 4. गाथा– पद्य निर्मित ग्रन्थ 5. उदान– बुद्ध के मुखारविन्द से नि:सृत प्रीति-उद्‌गार। 6. इतिवुत्तक– लघु प्रवचन 7. जातक– बुद्ध के पूर्व भव 8. अब्भुत धम्म– चमत्कारिक वस्तुओं एवं विभूतियों के वर्णन परक ग्रन्थ 9. वेदल्ल– प्रश्नोत्तर शैली में रचित ग्रन्थ।

इन्हीं नौ प्रकारों में– अवदान, वैपुल्य एवं उपदेशधर्म इन तीन को मिलाने से बौद्धों के द्वादशांग होते हैं।[58] इस प्रकार मूलत: अंग शब्द विशिष्ट ग्रन्थों के लिए व्यवहृत है।

द्वितीय वर्गीकरण

मूलागमों का द्वितीय वर्गीकरण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय अर्थात वीर निर्वाण के 1000 वर्ष के आस-पास हुआ था। उन्होंने आगम साहित्य के अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य ऐसे दो भेद किए हैं।[59]

अंगप्रविष्ट– गणधरों द्वारा रचित बारह अंग, द्वादशांग अथवा गणिपिटक अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में अंग प्रविष्ट के निम्न अर्थ बताए गए हैं– 1. जो गणधर के द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित हो। 2. जो गणधर द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रज्ञप्त हो। 3. जो शाश्वत सत्य का प्रतिपादक होने से ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन हो ऐसा श्रुत अंगप्रविष्ट कहा जाता है।[60]

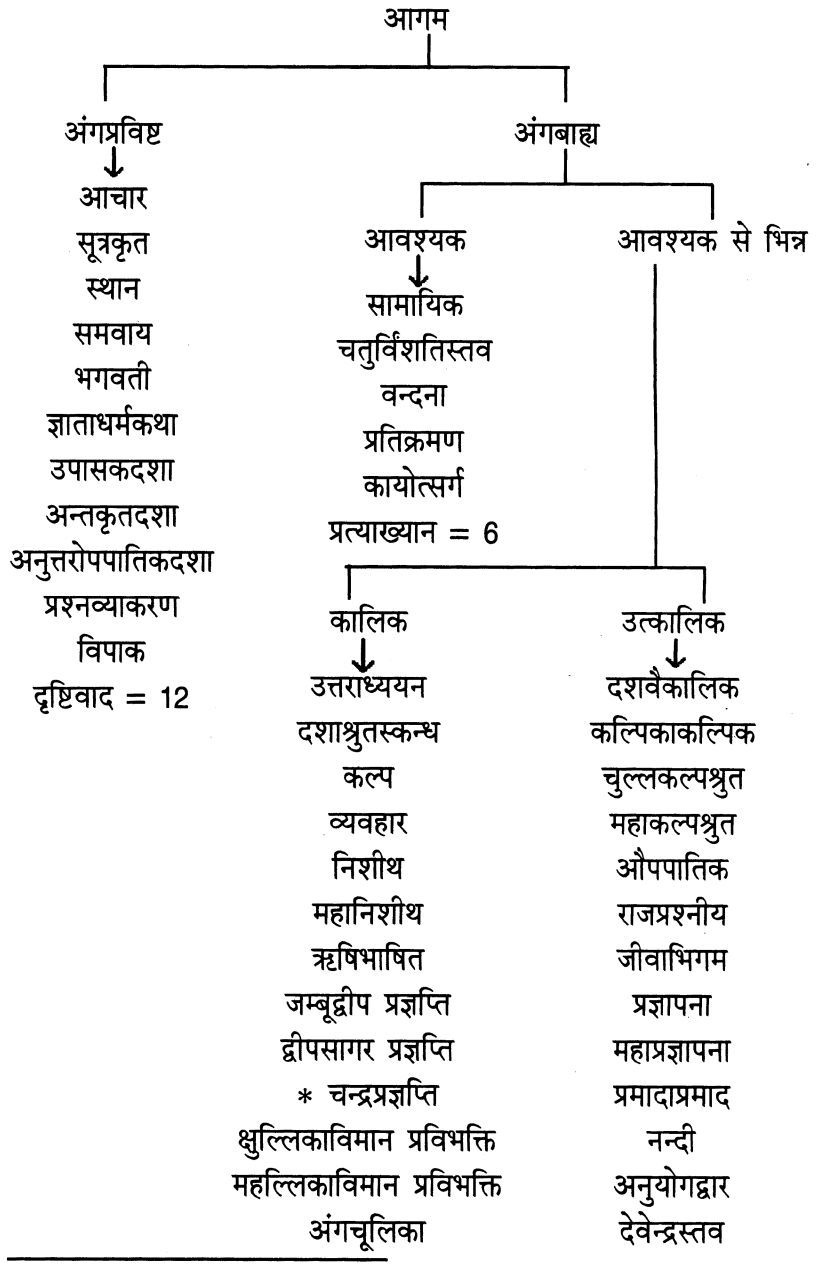
अंगबाह्य– आचार्यों एवं स्थविरों द्वारा विरचित आगम उपांग, अनंग प्रविष्ट या अंगबाह्य कहलाते हैं। अंग बाह्य आगम गणधरों द्वारा रचित भी हो सकते हैं। जैसे कि आवश्यकसूत्र खुद गणधरों की ही रचना है और वह अंगबाह्य ही है। अधिकतर अंगबाह्य आगम स्थविरों की रचना है ऐसा नन्दी टीका में कहा गया है। आवश्यक टीका में अंगबाह्य के निम्नोक्त अर्थ बतलाये हैं–

1. आचार्य भद्रबाहुस्वामी आदि स्थविरों द्वारा रचित आवश्यकनिर्युक्ति आदि टीका ग्रन्थ अनंग प्रविष्ट हैं।
2. तीर्थंकरों के द्वारा गणधरों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के प्रश्नों का जो समाधान दिया गया, उस आधार पर जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि की रचना हुई, यह अनंग प्रविष्ट है।
3. सब तीर्थंकरों के तीर्थ में जो अनियत श्रुत है, वह अनंग प्रविष्ट है। यह व्याख्या नन्दीसूत्र की मलयगिरि टीका में भी की गई है।[61]

तत्त्वार्थभाष्य में वक्ता की अपेक्षा से भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे दो भेद किए गए हैं।[62] दिगम्बर परम्परावर्ती तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार जिस आगम के मूल प्रणेता तीर्थंकर हों और संकलनकर्त्ता गणधर हों वह अंगप्रविष्ट है तथा आरातीय (जिनवाणी के आज्ञा पालक) आचार्यों द्वारा निर्मित आगम अंग प्रविष्ट अर्थ के निकट होने के कारण अंगबाह्य कहलाते हैं।[63]

नंदीसूत्र में अंगबाह्य के आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक के रूप में सभी आगमों का वर्णन किया गया है वह संक्षेप में निम्न प्रकार है–[64]

नन्दीसूत्र में वर्गीकृत आगम सूत्रों की तालिका



(* पाक्षिक सूत्रानुसार सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति दोनों कालिक सूत्र हैं)

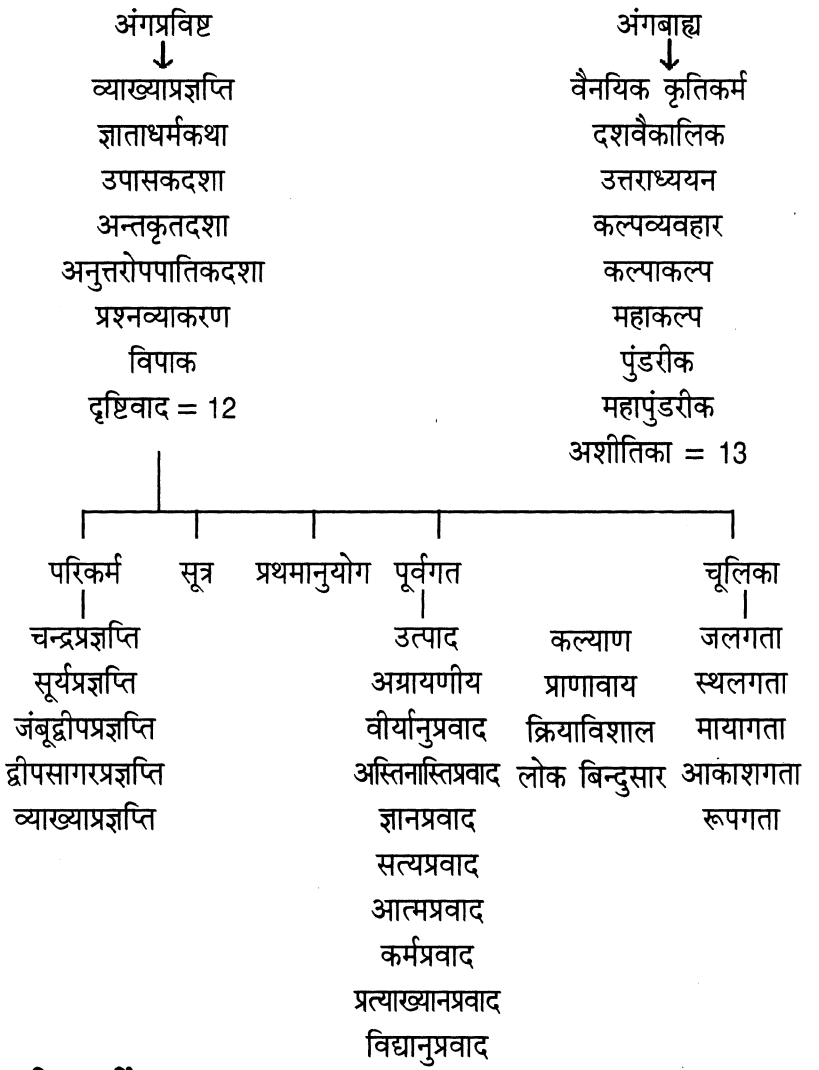
कालिक	उत्कालिक
↓	↓
वर्गचूलिका	तन्दुलवैतालिक
विवाहचूलिका	चन्द्रवेध्यक
अरुणोपपात	सूर्यप्रज्ञप्ति
वरुणोपपात	पौरुषीमंडल
गरूड़ोपपात	मंडलप्रवेश
धरणोपपात	विद्याचारण विनिश्चय
वैश्रवणोपपात	गणिविद्या
वेलन्धरोपपात	ध्यान विभक्ति
देवेन्द्रोपपात	मरण विभक्ति
उत्थानश्रुत	आत्मविशोधि
समुत्थानश्रुत	वीतराग श्रुत
नागपरितापनिका	संलेखना श्रुत
निरयावलिका	विहारकल्प
कल्पिका	चरणविधि
कल्पावतंसिका	आतुर प्रत्याख्यान
पुष्पिका	महा प्रत्याख्यान = 29
पुष्पचूलिका	
वृष्णिदशा	

आशीविष भावना, दृष्टिविष भावना,
महास्वप्न भावना, चारणस्वप्न भावना,
तेजोनिसर्ग भावना = 36

दिगम्बर मान्यतानुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है–[65]

आगम

अंगप्रविष्ट	अंगबाह्य
↓	↓
आचार	सामायिक
सूत्रकृत	चतुर्विंशतिस्तव
स्थान	वन्दना
समवाय	प्रतिक्रमण



तृतीय वर्गीकरण

आगम साहित्य का तृतीय वर्गीकरण वीर निर्वाण की छठी शती में हुआ और यह विभाजन आर्यरक्षितसूरि ने अनुयोगों के आधार पर किया। आर्यरक्षित नौ पूर्व और दसवें पूर्व के 24 यविक के ज्ञाता एवं आचार्य तोसलिपुत्र के शिष्य थे। सूत्र के अनुरूप अर्थ की योजना करना अनुयोग कहलाता है। आर्यरक्षित द्वारा किया गया विभागीकरण इस प्रकार है–[66]

1. **चरणकरणानुयोग–** व्रत, समिति, प्रतिलेखना, भावना, तप आदि आचार प्रधान विषयों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरण-करणानुयोग कहलाते हैं जैसे– कालिकश्रुत, महाकल्प, छेद सूत्र आदि।
2. **धर्मकथानुयोग–** धार्मिक व वैराग्यप्रद कथाओं का आख्यान करने वाले ग्रन्थ धर्मकथानुयोग कहलाते हैं जैसे– ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
3. **गणितानुयोग–** सूर्यादि ग्रहों के माप-संख्या-गति आदि का वर्णन करने वाले, तिथि-नक्षत्र-योग आदि का निरूपण करने वाले और द्वीप-समुद्र एवं क्षेत्रादि की लम्बाई-चौड़ाई बतलाने वाले ग्रन्थ गणितानुयोग कहलाते हैं जैसे– सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि।
4. **द्रव्यानुयोग–** द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व, कर्म, बंध आदि विषयों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ द्रव्यानुयोग कहलाते हैं जैसे– दृष्टिवाद आदि।

उक्त वर्गीकरण विषय सादृश्य की दृष्टि से किया गया है। विशेषावश्यक भाष्य में व्याख्या क्रम की दृष्टि से भी आगमों के दो रूप मिलते हैं, जो अनुयोग के रूप में विभक्त है तथा पहला क्रम आर्यरक्षित से पूर्ववर्ती है– 1. अपृथक्त्वानुयोग[67] और 2. पृथक्त्वानुयोग।[68]

1. अपृथक्त्वानुयोग– अपृथक्त्व का अर्थ है– एकीभाव-अविभाग। जहाँ प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग एवं द्रव्यानुयोग– इन चारों अनुयोगों से की जाती है वह अपृथक्त्व-अनुयोग कहलाता है। यह व्याख्या पद्धति अत्यधिक क्लिष्ट और स्मृति-सापेक्ष होती है।

2. पृथक्त्वानुयोग– पृथक्त्व का अर्थ है– विभाग, खण्ड। जहाँ प्रत्येक सूत्र की व्याख्या एक-एक अनुयोग से की जाती है वह पृथक्त्व-अनुयोग कहलाता है। पृथक्त्व-अनुयोग का सूत्रपात आर्यरक्षित ने किया है। आवश्यक टीका में वर्णन आता है कि आर्यरक्षित के चार शिष्य थे– 1. दुर्बलिकापुष्यमित्र 2. फल्गुरक्षित 3. विन्ध्य और 4. गोष्ठामाहिल। इनमें विन्ध्य प्रबल मेधावी था। उसने आर्यरक्षित से अनुनय किया कि सहपाठ से अत्यधिक विलम्ब होता है अत: मुझे शीघ्र पाठ मिल सके, ऐसा प्रबन्ध चाहता हूँ। आचार्य के आदेश से विन्ध्य को वाचना देने का कार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने अपने अधिकार में लिया। वाचना-क्रम चलता रहा। कुछ समय के बाद दुर्बलिकापुष्पमित्र यथावस्थित स्वाध्याय न कर पाने के कारण नौवें पूर्व को विस्मृत करने लगे, आर्यरक्षित ने

देखा कि पुष्यमित्र जैसा बुद्धि, मेघा और धारणा से सम्पन्न शिष्य भी श्रुतरूप समुद्र का अवगाहन कठिनाई से कर रहा है तब भविष्य में अल्पमेघावी मुनि सम्पूर्ण श्रुत का समग्रता से अवगाहन कैसे कर पायेंगे? तब युग, क्षेत्र और काल के अनुरूप शासन पर अनुग्रह कर पृथक्त्व-अनुयोग की व्यवस्था की।

इस प्रकार आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग का प्रचलन था जो व्याख्यात्मक पद्धति से क्लिष्ट होने के कारण सामान्य मुनियों के श्रुत अध्ययन हेतु कठिन समझा जाने लगा। इसी पद्धति को सुबोधपूर्ण बनाने के लिए आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्त्तन किया। यह ज्ञातव्य है कि उक्त वर्गीकरण करने के उपरान्त भी इस प्रकार नहीं कहा जा सकता है कि प्रथमानुयोग आदि से प्रतिबद्ध ग्रन्थों में अन्य अनुयोगों की विषय वस्तु का वर्णन नहीं है अर्थात अनुयोगबद्ध ग्रन्थों में अन्य वर्णन भी है। जैसे उत्तराध्ययनसूत्र में धर्मकथाओं के अतिरिक्त दार्शनिक तत्त्व भी पर्याप्त रूप से है। भगवतीसूत्र में सभी विषयों का निरूपण है। सारांश यह है कि कुछ आगमों को छोड़कर शेष में चारों अनुयोगों का संमिश्रण है इस कारण यह स्थूल वर्गीकरण ही रहा।[69]

दिगम्बर परम्परा मूल आगमों का अभाव मानती है, यद्यपि कुछ ग्रन्थों एवं ग्रन्थांशों को आगम के समकक्ष महत्त्व देती है तदनुसार अनुयोग रूपात्मक वर्गीकरण इस प्रकार है–

1. प्रथमानुयोग– महापुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन करने वाले ग्रन्थ जैसे– पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण आदि।
2. करणानुयोग– लोकालोक विभक्ति, काल, गणित आदि का निरूपण करने वाले ग्रन्थ जैसे– सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जयधवला आदि।
3. चरणानुयोग– आचार प्रधान विषयों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ जैसे– मूलाचार, त्रिवर्णाचार, रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि।
4. द्रव्यानुयोग– द्रव्य, गुण, पर्याय तत्त्व आदि का विश्लेषण करने वाले ग्रन्थ जैसे– प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, आप्तमीमांसा आदि।[70]

चतुर्थ वर्गीकरण

आगम साहित्य का अन्तिम वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल एवं छेद के रूप में उपलब्ध होता है। इस उत्तरवर्त्ती विभाजन का सर्वप्रथम उल्लेख प्रभावक चरित्र (वि.सं. 1334) में प्राप्त होता है।[71] यदि विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो

मूलागमों में 'अंग' शब्द का ही उल्लेख मिलता है। नन्दीसूत्र में अंग के सिवाय कालिक, उत्कालिक आदि का विभाग है, किन्तु उपांग आदि सूत्रों का विभागीकरण नहीं है। यहाँ 'उपांग' के अर्थ में अंगबाह्य शब्द का उल्लेख है। सर्वप्रथम तत्त्वार्थभाष्य में उपांग शब्द का प्रयोग देखा जाता है।[72] तत्पश्चात सुबोधा सामाचारी,[73] विधिमार्गप्रपा,[74] आचारदिनकर[75] आदि वैधानिक ग्रन्थों में उपांग शब्द पढ़ने को मिलता है। पं. बेचरदासजी के अभिमतानुसार चूर्णि साहित्य में भी उपांग शब्द का प्रयोग किया गया है। मूलत: अंग साहित्य के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए उपांगों की रचना हुई है और आगमयुग में यह श्रुत-साहित्य अंगबाह्य के नाम से प्रचलित रहा है।

मूलसूत्रों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। उपाध्याय समयसुन्दरजी ने दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति एवं उत्तराध्ययन को मूलसूत्र माना है। डॉ. सारपेन्टियर, डॉ. विन्टरनित्ज और डॉ. ग्यारीनो ने उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक एवं पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्र माना है।[76] डॉ. शुब्रिंग ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिंडनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्र माना है।[77] स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी एवं अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं।[78] विद्वानों के अनुसार लगभग विक्रम की 14वीं शती के पहले किसी आगम का मूलसूत्र के रूप में नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता है किन्तु यह विधान परीक्षणीय है। क्योंकि जब से 45 आगमों की गिनती शुरू हुई है तभी से मूलसूत्र की भी गिनती प्राय: की गई है।

छेदसूत्रों की संख्या एवं नामों को लेकर भी विभिन्न मत हैं– सामाचारीशतक में दशाश्रुत, व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ, महानिशीथ एवं जीतकल्प को छेदसूत्र कहा गया है।[79] नन्दीसूत्र में जीतकल्प को छोड़कर शेष पाँचों का उल्लेख है, किन्तु इनकी गिनती छेदसूत्र में न करके कालिक सूत्र के अन्तर्गत की गई है।[80] वर्तमान स्थानकवासी परम्परा में दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, बृहत्कल्प एवं निशीथ ये चार ही छेदसूत्र माने जाते हैं। यदि ऐतिहासिक-क्रम की अपेक्षा कहें तो छेदसूत्रों का प्रथम उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में हुआ है।[81] इसके अनन्तर विशेषावश्यक भाष्य, निशीथ भाष्य आदि में भी छेदसूत्रों का उल्लेख है। उक्त वर्णन से इतना स्पष्ट होता है कि छेदसूत्र मूलसूत्र से पहले अस्तित्व में आये हैं।

इस प्रकार प्रारम्भिक युग से अब तक आगम साहित्य का चार तरह से विभागीकरण किया गया जिसमें आज उत्तरवर्ती विभाजन को प्राथमिकता दी जाती है।

आगम रचना के प्रकार

तीर्थंकर (आप्त) उपदिष्ट वाणी दो प्रकार से संकलित है– 1. कृत और 2. निर्यूहण। जो आगम स्वतंत्र रूप से निर्मित हुए हैं वे कृत कहलाते हैं जैसे– गणधरों द्वारा आचारांग आदि सूत्रों एवं स्थविरों द्वारा औपपातिक आदि उपांग सूत्रों की रचना कृत है यानी अंग एवं उपांग सूत्र स्व-रचित ग्रन्थ होने से कृत कहे जाते हैं। जो आगम पूर्वों एवं द्वादशांगी से उद्धृत करके निर्मित हुए हैं वे निर्यूढ कहलाते हैं। ये आगम स्थविरों द्वारा संकलित मात्र होते हैं। वर्तमान में निम्न आगमों को निर्यूढ़ माना है– 1. आचारचूला 2. दशवैकालिक 3. निशीथ 4. दशाश्रुतस्कन्ध 5. बृहत्कल्प 6. व्यवहार 7. उत्तराध्ययन का परीषह नामक द्वितीय अध्ययन।[82] ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि आचारचूला– चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहुसूरि द्वारा निर्यूढ़ की गई है। दशवैकालिक– दशवैकालिकसूत्र की विषयवस्तु का निर्यूहण चतुर्दशपूर्वी शय्यंभवसूरि द्वारा विभिन्न पूर्वों से किया गया है जैसे– चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किए गए हैं। द्वितीय मान्यतानुसार दशवैकालिक द्वादशांगी से उद्धृत है।[83]

निशीथ– आचार्य भद्रबाहुस्वामी द्वारा प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से निर्यूढ किया गया है।[84] दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहार– ये तीनों भद्रबाहु के द्वारा प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूहित है।[85] इन निर्यूढ ग्रन्थों के सम्बन्ध में अन्य मत-मतान्तर भी हैं।

सारांशत: निर्यूढ़ आगम भिन्न-भिन्न पूर्वों एवं अंगों से उद्धृत किए गए हैं। यद्यपि निर्यूढ़ रचनाओं के अर्थ प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्र रचयिता गणधर है। इसके बावजूद भी ये आगम जिन पूर्वधरों या श्रुतस्थविरों द्वारा उद्धृत किए गए, वे ही उसके कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध हो गये। जैसे– दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यंभव, निशीथ आदि छेद सूत्रों के कर्त्ता भद्रबाहु आदि।

उत्तराध्ययनसूत्र की बृहद् टीका के अनुसार उत्तराध्ययन का परीषह नामक दूसरा अध्ययन नौवें पूर्व के 17वें प्राभृत से उद्धृत है।

आगमों की भाषा

जैनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी है।[86] अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। देवता इसी भाषा में बोलते हैं अत: यह देववाणी भी मानी गई है। निशीथचूर्णि के अनुसार यह भाषा मगध के अर्ध भाग में बोली जाने के कारण अर्धमागधी कही जाती है।[87] एक अन्य मत के अनुसार इस भाषा में अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण है। इस प्रकार मागधी एवं देशज शब्दों के मिश्रण के कारण भी अर्धमागधी कहलाती है।

आगम साहित्य में इससे सम्बन्धित उल्लेख भी मिलते हैं। जैसे भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी द्वारा प्रश्न किया गया कि देव किस भाषा में बोलते हैं? तब भगवान महावीर ने उत्तर दिया–'देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं तथा सभी भाषाओं में यह भाषा श्रेष्ठ और विशिष्ट है।'[88] समवायांग[89] एवं औपपातिकसूत्र[90] के अनुसार तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में इस भाषा को बोलने वाले को भाषार्य कहा है।[91]

नन्दी टीका में कहा गया है कि सारा प्रवचन (आगम) अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध है, क्योंकि तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्म देशना देते हैं।[92]

इस प्रकार आगम ग्रन्थों की मुख्य भाषा अर्धमागधी ही है। सम्भवत: समग्र आगम साहित्य का रचनाकाल भिन्न-भिन्न होने से उन पर शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि भाषाओं का यत्किंचित प्रभाव अवश्य ही देखा जाता हो, फिर भी आचारांग आदि प्राचीनतम आगमों की भाषा अर्धमागधी ही है।

आगमों के रचयिता कौन?

परमार्थत: तीर्थंकर परमात्मा ही आगम सूत्रों के रचयिता हैं, क्योंकि अरिहन्त परमात्मा के वचन के आधार पर आगम रचना होती है। गणधर अर्थ रूप श्रुत का संकलन कर इसे सूत्र रूप में गूंथते हैं।[93] गणधरों में सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि होती है, इसी कारण वे आचारांग आदि के अर्थ को सूत्रबद्ध करने में समर्थ होते हैं।[94] इस प्रकार आगम सूत्र गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध किये जाने के कारण प्रामाणिक है। क्योंकि जैसे अरिहंत देव अर्थ के वाचक होने से पूज्य हैं वैसे गणधर देव सूत्र के वाचक होने से पूज्य हैं अत: गणधरों के वचन भी

पूर्णत: प्रामाणिक है। दूसरा तथ्य यह है कि गणधरकृत द्वादशांगी का ही मूलागमों में समावेश है उन्हें ही गणिपिटक कहा गया है, शेष आगम स्थविरकृत हैं। वस्तुत: जो रचनाएँ त्रिपदी को आधार बनाकर गणधरों द्वारा अल्प अवधि में की गई है वे अंगप्रविष्ट, द्वादशांगी एवं गणिपिटक कहलाती हैं।

यहाँ यह जानना भी आवश्यक है कि गणधर केवल अंगप्रविष्ट आगमों को ही सूत्रबद्ध नहीं करते, वे अन्य ग्रन्थ भी रचते हैं जैसे– आवश्यक सूत्र। प्रकीर्णक ग्रन्थ भी भगवान की वाणी का विस्तार करते हुए उनके शिष्यों द्वारा रचे जाते हैं। गणिपिटक का मुख्य अर्थ चौदह पूर्व द्वादशांगी है परन्तु चौदह पूर्व में दुनिया का समस्त श्रुतज्ञान समाहित हो जाता है। अत: अनंग प्रविष्ट (अंग बाह्य) आदि आगम साहित्य का मूल भी चौदह पूर्व होने से और चौदह पूर्व गणधरों की रचना होने से उनके भी तत्त्वत: कारक गणधर ही कहे जा सकते हैं। उसका भी मूल तीर्थंकर की अर्थ व्याख्या होने से यह आगमिक समग्र साहित्य आप्त प्रमाण है। जो रचनाएँ त्रिपदी के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से निर्मित हुई हैं उनके रचयिता श्रुतधर या पूर्वाचार्य कहलाते हैं।[95]

आगमों की संख्या एवं नवीन वर्गीकरण

जैन अवधारणा में आगम सम्बन्धी संख्या को लेकर अनेक मतभेद हैं। मूलत: अंग-साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर[96] सभी एकमत हैं। सभी परम्पराएँ अंगों की संख्या बारह मानती है। परन्तु अंग बाह्य की संख्या में मत वैभिन्य है। श्वेताम्बरवर्ती स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा कुल बत्तीस आगम मानते हैं वहीं श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में पैंतालीस आगमों की मान्यता है, इनमें भी कुछेक गच्छ चौरासी आगम भी मानते हैं। दिगम्बर परम्परा आगम के अस्तित्व को स्वीकार तो करती है, परन्तु उनकी मान्यतानुसार सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

यहाँ आगम संख्या के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि नन्दीसूत्र में जिन आगम ग्रन्थों का उल्लेख है, उनमें से आज कालिक और उत्कालिक वर्ग के अनेक आगम ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। जहाँ आवश्यक वर्ग के अन्तर्गत छह स्वतन्त्र आगमों का उल्लेख हैं, वहाँ वर्तमान में उसे एक ही आगम माना जाता है। इस प्रकार वर्तमान में आगमों की संख्या 45 तक सीमित हो जाती है। सम्प्रति में इस संख्या के आधार पर आगमग्रन्थों को अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका एवं प्रकीर्णक सूत्र के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इस नये

वर्गीकरण के द्वारा वर्तमान में उपलब्ध कौनसा आगम किस वर्ग में आता है? यह स्पष्ट हो जाता है। नव्य वर्गीकरण निम्नानुसार है–[97]

1. अंग आगम– 1. आचारांग 2. सूत्रकृतांग 3. स्थानांग 4. समवायांग 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति 6. ज्ञाताधर्मकथा 7. उपासकदशा 8. अन्तकृतदशा 9. अनुत्तरोपपातिकदशा 10. प्रश्न व्याकरण 11. विपाकश्रुत और 12. दृष्टिवाद (यह अंगसूत्र विच्छिन्न है)।

2. उपांग आगम– 1. औपपातिक 2.राजप्रश्नीय 3. जीवाभिगम 4. प्रज्ञापना 5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 6. सूर्यप्रज्ञप्ति 7. चन्द्रप्रज्ञप्ति 8. निरयावलिका 9. कल्पावतंसिका 10. पुष्पिका 11. पुष्पचूलिका और 12. वृष्णिदशा।

3. मूल आगम– 1. उत्तराध्ययन 2. दशवैकालिक 3. आवश्यकसूत्र और 4. पिण्डनिर्युक्ति। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में आवश्यकसूत्र एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर क्रमशः नन्दी सूत्र एवं अनुयोगद्वार को मूलसूत्र माना गया है।

4. छेदसूत्र– 1. दशाश्रुतस्कन्ध 2. बृहत्कल्प 3. व्यवहार 4. निशीथ 5. महानिशीथ और 6. जीतकल्प। स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय में महानिशीथ एवं जीतकल्प को छोड़कर शेष चार सूत्रों को ही छेदसूत्र के रूप में स्वीकारा गया है।

5. चूलिकासूत्र– 1. नन्दीसूत्र 2. अनुयोगद्वार।

6. प्रकीर्णकसूत्र– 1. चतुःशरण 2. आतुर प्रत्याख्यान 3. महा प्रत्याख्यान 4. भक्तपरिज्ञा 5. तंदुलवैतालिक 6. संस्तारक 7. गच्छाचार 8. गणिविद्या 9. देवेन्द्रस्तव 10 मरणसमाधि। समाचारी भेद या परम्परा भेद से प्रकीर्णक सूत्रों में नामान्तर भी मिलते हैं। इस प्रकार 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 6 छेद, 2 चूलिका, 10 प्रकीर्णक ये कुल 45 आगम होते हैं।

बत्तीस आगमों का वर्गीकरण– स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा मान्य 32 आगमों की वर्गीकृत सूची इस प्रकार है–

अंग– एक से ग्यारह अंगसूत्रों के नाम पूर्ववत है। **उपांग–** एक से बारह उपांग सूत्रों के नाम पूर्ववत है। **मूलसूत्र–** 1. दशवैकालिक 2. उत्तराध्ययन 3. अनुयोगद्वार 4. नन्दीसूत्र। **छेदसूत्र–** 1. निशीथ 2. व्यवहार 3. बृहत्कल्प 4. दशाश्रुतस्कन्ध। **आवश्यकसूत्र–** इस प्रकार 11 + 12 + 4 + 4 + 1 ऐसे कुल बत्तीस आगम होते हैं।

चौराशी आगमों के नाम– 1 से 45 तक आगमों के नाम पूर्ववत जानना चाहिए। शेष आगमों के नाम इस प्रकार हैं–

46. कल्पसूत्र 47. यतिजीतकल्प 48. श्राद्धजीतकल्प 49. पाक्षिकसूत्र 50. क्षमापनासूत्र– ये दोनों आवश्यकसूत्र के अंग है। 51. वंदित्तु 52. ऋषिभाषित 53. अजीवकल्प 54. गच्छाचार 55. मरणसमाधि 56. सिद्ध प्राभृत 57. तीर्थोद्गार 58. आराधनापताका 59. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति 60. ज्योतिष करण्डक 61. अंग विद्या 62. तिथि-प्रकीर्णक 63. पिण्डविशुद्धि 64. सारावली 65. पर्यन्ताराधना 66. जीवविभक्ति 67. कवच प्रकरण 68. योनि प्राभृत 69. अंग चूलिका 70. वर्ग चूलिका 71. वृद्ध चतु:शरण 72. जम्बू पयन्ना 73. आवश्यक निर्युक्ति 74. दशवैकालिक निर्युक्ति 75. उत्तराध्ययन निर्युक्ति 76. आचारांग निर्युक्ति 77. सूत्रकृतांग निर्युक्ति 78. सूर्यप्रज्ञप्ति 79. बृहत्कल्प निर्युक्ति 80. व्यवहार निर्युक्ति 81. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति 82. ऋषिभाषित निर्युक्ति 83. संसक्तनिर्युक्ति 84. विशेषावश्यक भाष्य।[98]

जैन आगमों का परिचय

बारह अंग सूत्र

तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों द्वारा रचित आचारांग आदि आगम शास्त्र अंग आगम कहलाते हैं। अंग आगम की कल्पना श्रुत पुरुष के रूप में की गई है। जैसे पुरुष के हाथ-पैर आदि बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुत रूपी पुरुष के भी आचार आदि बारह अंग होते हैं। जो ग्रन्थ श्रुतपुरुष के अंगरूप माने गये हैं, वे अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। आचार्य मलयगिरि ने द्वादशांगी को श्रुतपुरुष के रूप में इस प्रकार उपमानित किया है–[99]

पुरुष के अंग	श्रुतपुरुष के अंग
दो चरण	आचार, सूत्रकृत
दो जंघा	स्थान, समवाय
दो उरू	भगवती, ज्ञाताधर्मकथा
उदर, पीठ	उपासकदशा, अन्तकृतदशा
भुजाद्वय	अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण
ग्रीवा	विपाकश्रुत
सिर	दृष्टिवाद

इस प्रकार आचारांग आदि बारह आगमों को अंग आगम कहा गया है। इन आगमों का सामान्य निरूपण इस प्रकार है–

1. आचारांगसूत्र– द्वादशांगी में आचारांग का प्रथम स्थान है। इसका नाम इतना सार्थक है कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह आचार सम्बन्धी ग्रन्थ है। आचारांग निर्युक्ति में आचारांग को अंगों का सार कहा गया है।[100] इस आगम में दो श्रुतस्कन्ध है।प्रथम श्रुतस्कन्ध में 9 अध्ययन और 44 उद्देशक हैं। इस प्रथम श्रुतस्कन्ध के 9 अध्ययनों में जीव हिंसा का निषेध, कर्मबंधन से मुक्ति, परीषहों पर विजय, रत्नत्रय की महत्ता आदि का विवेचन किया गया है। नौवें अध्ययन में भगवान महावीर की तपस्या एवं साधना का विस्तृत वर्णन है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में साध्वाचार का विस्तृत वर्णन है। इसके 16 अध्ययन चार चूलिकाओं में विभक्त है। उनमें श्रमणों की आहार चर्या, शय्या, वस्त्र एवं पात्र ग्रहण, ठहरने के स्थान, स्थंडिल भूमि प्रेक्षा (मल-मूत्र आदि की विसर्जन भूमि) आदि पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण निशीथसूत्र के नाम से अलग कर दी गई है। इसका काल ई.पू. प्रथम या दूसरी शती माना जाता है।

सामान्यत: इसमें दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, पिच्यासी उद्देशक एवं पिच्यासी समुद्देशक हैं। नन्दीसूत्र में इसकी पद संख्या अठारह हजार है जबकि वर्तमान उपलब्ध संस्करण में इसकी श्लोक संख्या 2644 एवं 2654 दोनों मानी गई है।[101]

2. सूत्रकृतांगसूत्र– सूत्रकृतांग द्वितीय अंग आगम है। सूत्रकृतांग के सूतगड-सूत्रकृत, सुत्तकड (सूत्रकृत), सूयगड–सूचाकृत नाम भी मिलते हैं।

1. सूतगड– सूत अर्थात उत्पन्न, कृत अर्थात किया हुआ अर्थात यह भगवान महावीर से उत्पन्न और गणधरों द्वारा ग्रथित (कृत) है इसलिए इसका नाम सूतकृत है।

2. सुत्तकडं– नन्दी टीका मलयगिरि (पृ. 213) के अनुसार जिसमें सूत्रानुसार तत्त्वबोध दिया जाता है वह सूत्रकृत कहा जाता है। इस व्याख्या से सभी आगम सूत्रकृत कहे जा सकते हैं। पर रूढ़ि से यह आगम ही सूत्रकृत कहा जाता है।

3. सूयगडं– इसमें स्व और पर सिद्धान्त को सूचित किया गया है अत: इसका नाम सूचाकृत है।[102]

उपलब्ध सूत्रकृतांगसूत्र में दो श्रुतस्कन्ध है– प्रथम श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन हैं। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्त्वों का विश्लेषण है एवं नवदीक्षित श्रमणों के लिए हित-शिक्षाओं का उपदेश है। इसमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी एवं 32 विनयवादी ऐसे कुल 363 मतों का निरूपण किया गया है। द्वितीय श्रुतस्कंध के अध्ययनों में विभिन्न संप्रदायों के भिक्षुओं के आचार, कर्मबंध के तेरह स्थान, निर्दोष भिक्षा की विधि, मूलगुण एवं उत्तरगुणों की विवेचना हुई है। साथ ही इस श्रुतस्कन्ध के अन्त में लोकमूढ मान्यताओं का खण्डन, आर्द्रकुमार का दार्शनिक संवाद तथा गौतम स्वामी द्वारा नालंदा में दिये गये उपदेशों का वर्णन है। यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें उस युग में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक मत मतान्तरों की जानकारी दी गई है।

नन्दी सूत्र के अनुसार इस द्वितीय अंग में दो श्रुतस्कन्ध, तेईस अध्ययन, तैंतीस उद्देशक हैं। इसके उद्देशन एवं समुद्देशन काल भी तैंतीस हैं। इसमें छत्तीस हजार पद है। वर्तमान उपलब्ध संस्करण में इसकी श्लोक संख्या 2100 है।[103]

3. स्थानांगसूत्र– स्थानांग द्वादशांगी का तृतीय अंग है। स्थान शब्द अनेकार्थी है। नन्दीसूत्र में स्थानांगसूत्र की दो परिभाषाएँ बताई गई हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार कूट, शिखर, कुब्ज, कुण्ड, गुहा, आकर, ह्रद आदि स्थानों की यथावस्थित प्ररूपणा जिसमें की गई है वह स्थानांग कहलाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार इसमें एक से लेकर दस की संख्या तक के जीव और पुद्गलों की विविध अवस्थाओं अर्थात स्थानों का वर्णन किया गया है अत: इसका नाम स्थानांग है।[104]

इसके प्रत्येक अध्ययन में अध्ययन की संख्या के अनुसार वस्तुओं का वर्णन किया गया है, जैसे प्रथम अध्ययन में एक लोक, एक अलोक आदि। दूसरे अध्ययन में दो क्रियाएँ, आत्मा के दो भेद आदि का निरूपण किया गया है जिससे एक, दो या तीन संख्या वाली वस्तु कौन-कौन सी है? इसका बोध होता है। स्थानांगसूत्र के अध्ययन भी स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों में तत्त्वज्ञान, ज्ञानमीमांसा, स्वसमय और परसमय, श्रद्धा, भक्ति, धर्म, दर्शन, आत्मा, जीव, जगत, हिंसा-अहिंसा आदि अनेक विषय समाहित है। तीर्थंकर,

चक्रवर्ती आदि के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ हैं। यह ग्रन्थ कोश शैली में ग्रथित है एवं स्मरण रखने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

नन्दीसूत्र के अनुसार इस तृतीय अंग में एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, इक्कीस उद्देशक, इक्कीस समुद्देशक एवं बहत्तर हजार पद हैं। वर्तमान में इसकी श्लोक संख्या 3770 अथवा 3750 है।

4. समवायांगसूत्र– द्वादशांगी में समवायांग का चतुर्थ स्थान है। इस आगम में जीव-अजीव आदि पदार्थों का विवेचन है। इस आगम का नाम समवाय या समवाओ है। स्थानांग के समान समवायांग भी संख्या शैली में रचा गया है किन्तु इसमें संख्या एक से प्रारम्भ होकर कोटानुकोटि तक जाती है। इसमें जीव, अजीव, लोक, अलोक, आहार, लेश्या, इन्द्रिय कषाय, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेव के वर्णन के साथ जैन भूगोल एवं खगोल की सामग्री भी संकलित है। स्थानांग और समवायांग जैसी कोश शैली वैदिक परम्परा के ग्रन्थ महाभारत के वनपर्व (अध्याय 134) एवं बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय एवं 'पुग्गल पन्नत्ति' में भी प्राप्त होती है। समवायांग प्राकृत गद्य में रचित है, परन्तु जो अंश संग्रहणी सूत्रों से लिये गये हैं वे पद्य में भी हैं। वस्तुविज्ञान, जैन दर्शन एवं जैन इतिहास की दृष्टि से यह आगम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

नन्दीसूत्र के मतानुसार इस चतुर्थ अंग में एक अध्ययन, एक श्रुतस्कन्ध और एक उद्देशक है। इसका उद्देशन एवं समुद्देशन काल भी एक है। इसमें एक लाख चवालीस हजार पद हैं। वर्तमान संस्करण में इसकी श्लोक संख्या सोलह सौ सतसठ तथा दूसरी मान्यतानुसार सतरह सौ सतसठ है।

5. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र– व्याख्याप्रज्ञप्ति पंचम अंग आगम है। इसका प्राकृत नाम 'विवाह पण्णत्ति' है। टीकाकार के अनुसार 1. जिस ग्रन्थ में विषय का विविध रूपों में स्पष्टतया निरूपण किया गया हो उस ग्रन्थ को व्याख्या प्रज्ञप्ति कहते है। 2. व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति = व्याख्या-कुशलता से, प्रज्ञावान आप्त द्वारा प्राप्त ज्ञान जिस ग्रन्थ में है, वह व्याख्याप्रज्ञप्ति है।[105] 3. समवायांग एवं नन्दीसूत्र के मतानुसार व्याख्या प्रज्ञप्ति में 36000 प्रश्नों का व्याकरण है अतः इसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है।[106]

इस आगम की विषय वस्तु अन्य आगम ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विशाल है। इसमें एक तरह से लेकर सभी तरह के विषय समाहित हैं तथा जनमानस में

इस आगम के प्रति विशेष श्रद्धा है अत: इसका दूसरा नाम 'भगवती' है और वर्तमान में यही नाम अधिक प्रचलित है।

यह आगम जैन सिद्धान्त, इतिहास, भूगोल, समाज और संस्कृति की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। इसमें इक्कीसवें शतक से लेकर तेईसवें शतक तक वनस्पतियों का वर्गीकरण विशिष्ट प्रकार से किया गया है। गणित की दृष्टि से पार्श्व संतानीय गांगेय अणगार के प्रश्नोत्तर भी पठनीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से आजीवक संघीय मंखली गोशालक, जमालि, शिवराजर्षि, स्कन्दक आदि के प्रकरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ती, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अणगार, सोमिल ब्राह्मण, तुंगिया नगरी के श्रावकों से सम्बन्धित प्रकरण भी मननीय है। यह आगम गद्य प्रधान है किन्तु संग्रहणी सम्बन्धी गाथाएँ उद्धृत होने के कारण इसमें पद्य भाग भी प्राप्त होता है।

नन्दीसूत्र के कथनानुसार इस पंचम अंग आगम में एक श्रुतस्कन्ध, कुछ अधिक सौ अध्ययन, दस हजार उद्देशक, दस हजार समुद्देशक, छत्तीस हजार प्रश्नों का व्याकरण एवं दो लाख अठासी हजार पद हैं। वर्तमान संस्करण में इसकी श्लोक संख्या सोलह हजार तथा मतान्तर से पन्द्रह हजार आठ सौ स्वीकारी गई है।

6. ज्ञाताधर्मकथासूत्र– यह छठा अंग आगम है। इसका अन्वर्थक यह है कि जिसमें ज्ञात अर्थात उदाहरणों द्वारा धर्मकथाएँ प्रज्ञप्त हैं अथवा जिस कथा में उदाहरणों के द्वारा विषय समझाया गया है वह ज्ञाताधर्मकथा है।[107] डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार इसमें ज्ञातृवंशीय महावीर द्वारा आख्यात कथारूपकों का संकलन है अत: इसका नाम ज्ञाताधर्मकथा है। सामान्यतया इसमें न्याय-नीति आदि के सामान्य नियमों को दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है तथा मेघकुमार आदि की ऐतिहासिक एवं अण्डक, तुम्ब आदि की रूपक कथाएँ उल्लिखित कर भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया गया है।

इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों में मुख्य रूप से मेघकुमार, शैलक राजर्षि, द्रौपदी, चिलातीपुत्र, पुण्डरीक-कण्डरीक आदि के कथानकों के माध्यम से तप-संयम की प्रेरणा दी गई है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में इन्द्रों की अग्रमहिषियों (मुख्य इन्द्राणियों) के रूप में उत्पन्न होने वाली स्त्रियों की कथाएँ हैं।

नन्दी के अनुसार इसमें दो श्रुतस्कन्ध, उनतीस अध्ययन, उनतीस उद्देशक, उनतीस समुद्देशक एवं संख्येय हजार पद हैं। जबकि वर्तमान संस्करण

के आधार पर इसकी श्लोक संख्या 5250, 5500, 5627, 5750 एवं 6000 मानी गई हैं।

7. उपासकदशासूत्र– सातवाँ अंग आगम उपासकदशासूत्र है। उपासक अर्थात गृहस्थ साधक, दशा अर्थात अवस्था या दस की संख्या वाला। इसमें भगवान महावीर के दस उपासकों का आदर्श जीवन चरित्र संकलित है अत: इसका नाम उपासकदशा है। यदि यहाँ दशा शब्द का अर्थ अवस्था करें तो इसमें उपासकों की अविरत, विरत एवं साधक अवस्थाओं का वर्णन होने से भी इसका उपासकदशा नाम अन्वर्थक सिद्ध होता है।

इस आगम में क्रमश: आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुलनीशतक, कुण्डकोलिक, शकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालिही पिता– इन दस श्रावकों की ऋद्धि, समृद्धि, उनके द्वारा व्रत ग्रहण, उनकी समाधि-मरण की साधना तथा साधनाकाल में उपस्थित उपसर्गों का वर्णन है। जहाँ आचारांग समग्रता से श्रमणाचार का निरूपण करता है वहाँ उपासकदशा एक मात्र गृहस्थाचार का वर्णन करता है।

नन्दीसूत्र के अनुसार इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, दस उद्देशक, दस समुद्देशक एवं संख्येय हजार पद हैं। वर्तमान संस्करण में इसकी श्लोक संख्या 912, 872 एवं 812 मानी गई है।

8. अन्तकृतदशासूत्र– द्वादशांगी का आठवाँ अंग सूत्र अन्तकृतदशा है। जो साधक जीवन के अन्तिम क्षणों में केवलज्ञान प्राप्ति के साथ ही जन्म-मरण की परम्परा का अन्त कर लेते हैं वे अन्तकृत कहलाते हैं। इसमें अन्तकृत साधकों की जीवन गाथा का वर्णन होने से इस आगम का नाम अन्तकृतदशा है। इस आगम में प्रमुखतया श्रीकृष्ण वासुदेव की पत्नियों, पुत्र, वधुओं, उनके लघुभ्राता गजसुकुमाल आदि एवं श्रेणिक राजा की रानियों तथा अन्य अनेक राजकुमारों की दीक्षा, तपस्या एवं अन्तिम आराधना पूर्वक मोक्षगमन का उल्लेख है। इसमें कनकावली, रत्नावली आदि उत्कृष्ट तपश्चर्याओं का भी उल्लेख किया गया है। इस श्रुतांग में अनेक कथानक पूर्ण रूप से वर्णित नहीं है, अपितु 'वण्णवो' एवं 'जाव' शब्द का संकेत कर अधिकांश वर्णन मात्र सांकेतिक रूप में सूचित किए गए हैं।

नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग, आठ उद्देशक, आठ समुद्देशक एवं संख्यात हजार पद हैं। वर्तमान में जो अन्तकृतदशा उपलब्ध

है उसमें एक श्रुतस्कन्ध एवं आठ वर्ग हैं। इसका श्लोक परिमाण नौ सौ है।

प्रथम वर्ग में गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, काम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेनजित और विष्णु ये दस अध्ययन हैं। इसी तरह द्वितीय वर्ग में आठ, तृतीय वर्ग में तेरह, चतुर्थ वर्ग में दस, पंचम वर्ग में दस, षष्ठम वर्ग में सोलह, सप्तम वर्ग में तेरह और अष्टम वर्ग में दस अध्ययन हैं।

ज्ञातव्य है कि अन्तकृतदशासूत्र की विषयवस्तु का उल्लेख सर्वप्रथम स्थानांगसूत्र में प्राप्त होता है वहाँ अन्तकृतदशा के दस अध्ययन बताये गये हैं। वर्तमान उपलब्ध संस्करण में आठ वर्गों के अन्तर्गत जिनके नामों का उल्लेख किया गया है उनमें से स्थानांग में किंकम और सुदर्शन– ये दो नाम ही प्राप्त होते हैं, शेष सारे नाम भिन्न हैं।

समवायांग के अनुसार इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन और सात वर्ग हैं जबकि उपलब्ध अन्तकृतदशा में आठ वर्ग हैं। इस विषयक विस्तृत स्पष्टीकरण हेतु आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन अभिनन्दन ग्रन्थ (पृ. 70) अवलोकनीय है।

9. अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र– यह नौवां अंग आगम है। इसमें भगवान महावीर के समय के ऐसे मुनिवरों का वर्णन हैं जो उत्कृष्ट चारित्र का पालन कर अनुत्तर विमानवासी देव बने, अतः इसका अनुत्तरोपपातिकदशा यह नाम सार्थक है। अनुत्तरवासी देव एक मनुष्य भव करके सीधे मोक्ष में जाते हैं।

इस आगम में एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग और तैंतीस अध्ययन हैं। इसके प्रथम वर्ग में धारिणी पुत्र जालि-मयालि आदि दस राजकुमारों, द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन आदि तेरह राजकुमारों एवं तृतीय वर्ग में धन्यकुमार आदि दस कुमारों के वीतरागपथ पर अग्रसर होने का वर्णन है। ये सभी राजकुमार संयम-पथ अंगीकार कर अनुत्तरविमान नामक देवलोक में देव हुए। वहाँ से आयु पूर्णकर नरभव के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इस आगम के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी समुचित ज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

नन्दीसूत्र के अनुसार इस नवम अंग आगम में एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग, तीन उद्देशक, तीन समुद्देशक एवं संख्येय हजार पद हैं। वर्तमान संस्करण में इसकी श्लोक संख्या एक सौ बरानवे हैं।

10. प्रश्नव्याकरणसूत्र– द्वादशांगी में प्रश्नव्याकरण सूत्र का दशवाँ स्थान है। इसका शाब्दिक अर्थ है– प्रश्नों का व्याकरण अर्थात निर्वचन, उत्तर या निराकरण। समवायांग एवं नन्दीसूत्र के निर्देशानुसार इसमें निमित्त शास्त्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। इस दृष्टि से ही इसका नाम प्रश्नव्याकरण होना चाहिए। किन्तु वर्तमान में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो संस्करण उपलब्ध है उसमें दस अध्ययन पाँच आश्रवद्वार और पाँच संवरद्वार में विभक्त हैं। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म एवं परिग्रह– ये आश्रवद्वार हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह– ये संवर द्वार हैं। इसमें बताया गया है कि हिंसा आदि आश्रव द्वारों के सेवन से जीव की दुर्गति होती है तथा अहिंसा आदि संवर द्वारों का आसेवन करने से आत्मा सद्गति का उपार्जन करती है।

नन्दीसूत्र के अनुसार इस सूत्र में एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न, एक सौ आठ प्रश्न-अप्रश्न, दिव्य विद्यातिशय तथा नाग और देवों के साथ हुए संवादों का आख्यान किया गया है।

यहाँ उक्त वर्णन का स्पष्टार्थ यह है कि वर्तमान में उपलब्ध प्रश्न व्याकरणसूत्र में निमित्त शास्त्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर प्राप्त नहीं होते हैं। समवायांग एवं नन्दीसूत्र में किए गए निर्देश किसी मुख्यता को लेकर किए होंगे। उस समय पाँच आश्रव एवं पाँच संवर रूप 10 अध्ययन गौणता से होंगे, अत: निर्देश नहीं होगा। यदि निर्देश किया भी होगा तो वहाँ की पंक्तियाँ लुप्त हो सकती है। जो कुछ भी हो आज के संस्करण में तो दस अध्ययन पाँच आश्रव–पाँच संवर रूप ही मिलते हैं।

इसकी प्राकृत भाषा गद्यात्मक एवं विशेषणों से भरपूर है। विद्वानों की मान्यतानुसार प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु में कालक्रम की अपेक्षा परिवर्तन होता रहा है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार इस आगम की प्राचीनतम विषयवस्तु ऋषिभाषित और उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध होती है।[108]

इसमें मूल रूप से एक श्रुतस्कन्ध, पैंतालीस अध्ययन, पैंतालीस उद्देशक, पैंतालीस समुद्देशक एवं संख्येय हजार पद हैं। वर्तमान उपलब्ध संस्करण में इसकी श्लोक संख्या बारह सौ पचास है।

11. विपाकश्रुत– यह ग्यारहवाँ अंग आगम है। विपाक का अर्थ शुभ एवं अशुभ कर्मों का परिणाम (अनुभव) है। इसमें पुण्य एवं पाप कर्मों के विपाक (उदय) का वर्णन किया गया है अत: इसका नाम 'विपाकश्रुत' है।

प्रस्तुत आगम में दो श्रुतस्कन्ध एवं बीस अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में दुष्कर्मों का फल दिखाने के लिए क्रमशः मृगापुत्र, उज्झितकुमार, अभग्गसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उदुम्बरदत्त, शौर्यदत्त, देवदत्त और अंजूश्री के कथानक वर्णित हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुकृतों का फल बताने हेतु क्रमशः सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महाचन्द्र और वरदत्तकुमार की कथाएँ वर्णित है। इन व्यक्तियों ने पूर्वभव में सुपात्रदान आदि शुभ कार्य किए, जिनके परिणामस्वरूप इन्हें अपार सम्पदा प्राप्त हुई।

कर्मसिद्धान्त की अपेक्षा से यह शास्त्र अत्यन्त उपयोगी है। इसमें इस सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया गया है। पुनश्च इसमें दो श्रुतस्कन्ध, बीस अध्ययन, बीस उद्देशक, बीस समुद्देशक काल हैं एवं संख्येय हजार पद हैं। वर्तमान संस्करण में इसकी श्लोक संख्या बारह सौ पचास है।

12. दृष्टिवादसूत्र– दृष्टिवाद बारहवाँ अंग आगम है। इसमें संसार के सभी दर्शनों एवं नयों का निरूपण किया गया है अथवा जो सभी नयों की दृष्टि से कथन करने वाला तथा जिसमें समस्त भावों की प्ररूपणा हो वह सूत्र दृष्टिवाद है। इसके अपर नाम दृष्टिपात एवं भूतवाद है। यह बारहवाँ अंग आचार्य भद्रबाहु के निर्वाण के बाद से विलुप्त होने लग गया था तथा वीर निर्वाण की दसवीं शती के अन्त तक पूर्णतया विनष्ट हो गया। समवायांग एवं नन्दीसूत्र में इसके पाँच विभाग है– 1. परिकर्म 2. सूत्र 3. पूर्वगत 4. अनुयोग और 5. चूलिका।[109]

विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि दृष्टिवाद में सभी पदार्थों का वर्णन है।[110] इससे सिद्ध होता है कि दृष्टिवाद में समस्त दर्शनों का समावेश था।

बारह उपांग सूत्र

जैन आगम साहित्य मूलतः दो भागों में विभक्त है– 1. अंगप्रविष्ट और 2. अंगबाह्य। अंग की भाँति उपांगों की संख्या भी बारह ही है। प्राचीन साहित्य में उपांग की गणना अंगबाह्य ग्रन्थों में की गई है। नन्दीसूत्र में अंगबाह्य शब्द का ही उल्लेख है। सबसे पहले तेरहवीं शती के ग्रन्थों में उपांग शब्द प्राप्त होता है। स्वरूपतः उपांग शब्द अंग से सम्बन्धित प्रतीत होता है किन्तु विषय वर्णन आदि की दृष्टि से उपांगों की अंगों के साथ कोई संगति नहीं बैठती है।

सामान्यतया प्रत्येक अंग का एक उपांगसूत्र है। इस प्रकार उपांग बारह है इनका सामान्य परिचय निम्नानुसार है–

1. औपपातिकसूत्र– यह प्रथम उपांग सूत्र है। उपपात का अर्थ प्रादुर्भाव या जन्मान्तर संक्रमण है। उपपात शब्द ऊर्ध्वगमन एवं सिद्धिगमन के अर्थ में भी प्रयुक्त है। अभिधानराजेन्द्र कोश के अनुसार इस अंग में नरक एवं स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले तथा सिद्धि प्राप्त करने वाले जीवों का वर्णन है, इसलिए इसका नाम औपपातिक है।[111]

इसमें दो अध्ययन हैं। प्रथम का नाम समवसरण और द्वितीय का नाम उपपात है। इन अध्ययनों की विषय वस्तु को तीन अधिकारों में बाँटा गया है– 1. समवसरणाधिकार 2. औपपातिकाधिकार और 3. सिद्धाधिकार।

प्रथम समवसरण अधिकार में नगर, उद्यान, वृक्ष, राज्य आदि का वर्णन किया गया है। इसमें भगवान महावीर के गुणों, उपदेशों एवं समवसरण की रचना का भी चित्रण है।

द्वितीय औपपातिक अधिकार में विभिन्न परिणामों, विचारों, भावनाओं के आधार पर व्यक्ति का पुनर्जन्म किस रूप में होगा? इसका प्रतिपादन है।

तृतीय सिद्ध अधिकार में सिद्धों के स्वरूप एवं उनके सुख आदि का वर्णन किया गया है। इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, दार्शनिक एवं धार्मिक आदि अनेक विषयों का विशद विवेचन है।

इस आगम का प्रारम्भिक भाग गद्यात्मक एवं अन्तिम भाग पद्यात्मक है तथा मध्य में गद्य-पद्य का सम्मिश्रण है। वर्तमान में यह आगम 1167 एवं मतान्तर से 1500 श्लोक परिणाम है।

2. राजप्रश्नीयसूत्र– उपांग सूत्रों में यह दूसरा उपांग है। विद्वज्जनों के अभिमतानुसार इस आगम के नाम का सीधा सम्बन्ध राजा प्रसेनजित से है। पं. बेचरदास जी ने इसी आधार पर इसका नाम 'रायपसेणइयं' माना है[112] परन्तु वर्तमान में उपलब्ध कथानक में राजा का नाम प्रसेनजित के स्थान पर प्रदेशी बताया जाता है। संभवत: प्राकृत शब्द 'पसेणी' के आधार पर राजा को प्रदेशी मान लिया है। मूलत: 'पसेनीय' होकर उसका संस्कृत रूप 'प्रसेनजित' करना चाहिए। यह आगम दो भागों में विभक्त है। प्रथम विभाग सूर्याभदेव के पूर्वजन्म से सम्बन्धित है। एकदा भगवान महावीर के समवसरण में सूर्याभदेव उपस्थित होता है तब गौतम स्वामी उसके विषय में प्रश्न पूछते हैं– तब भगवान सूर्याभ

का पूर्वभव बतलाते हुए कहते हैं कि यह पूर्वभव में राजा पसेनीय या प्रदेशी था।

द्वितीय विभाग में राजा प्रदेशी अपने अनात्मवादी, अपुनर्जन्मवादी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण को लेकर केशीश्रमण के समक्ष अनेक प्रश्न प्रस्तुत करता है। श्रमण केशीकुमार उनका युक्ति संगत समाधान देते हैं। अन्ततः राजा प्रदेशी सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं और पत्नी द्वारा भोजन में विष खिला देने पर वे समभाव पूर्वक आमरण अनशन स्वीकार कर लेते हैं।

यह आगम आर्य देश की प्राचीन सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें बत्तीस प्रकार के नाटकों, सप्तस्वरों, लेखनकला एवं साम,दामादि नीतियों का प्रतिपादन किया गया है। इस आगम के अध्ययन से भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा सम्बन्धी अनेक जानकारियाँ प्राप्त होती है। वर्तमान संस्करण में यह आगम 2509, 2079 या 2120 श्लोक संख्या वाला माना गया है।

3. जीवाजीवाभिगमसूत्र– यह तीसरा उपांगसूत्र है। इसमें भगवान महावीर और गौतम गणधर के मध्य हुए प्रश्नोत्तरों के माध्यम से जीव-अजीव के भेद-प्रभेदों की चर्चा की गई है अतः इसका नाम जीवाजीवाभिगम है। जीव + अजीव + अभिगम (ज्ञान) अर्थात जीव एवं अजीव का ज्ञान कराने वाला होने से इसे जीवाजीवाभिगम कहा जाता है।

इस आगम में एक अध्ययन, नौ प्रतिपत्ति, 272 गद्य सूत्र और 81 पद्य गाथाएँ हैं। यद्यपि इसका प्रतिपाद्य विषय जीव एवं अजीव का स्वरूप वर्णन है तथापि इसमें अवान्तर विषय भी उपलब्ध होते हैं, जैसे– द्वीप, सागर, सोलह प्रकार के रत्नों, विविध आभूषणों तथा ग्राम-नगर आदि की भी चर्चा है। इसमें त्योहारों और उत्सवों का भी वर्णन है। आर्य देश के प्राचीन लोक जीवन की दृष्टि से भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वर्तमान में इसका श्लोकपरिमाण 4700 या 5200 माना गया है।

4. प्रज्ञापनासूत्र– प्रज्ञापना चतुर्थ उपांगसूत्र है। इसका शाब्दिक अर्थ है– प्रकर्ष रूप से ज्ञापन (प्रतिपादन) अथवा प्रकर्ष रूप से ज्ञान का आख्यान या विवेचन है। इसमें जीव-अजीव का प्रतिपादन होने से इसका नाम प्रज्ञापना है। यह ध्यातव्य है कि जैसे अंगों में भगवतीसूत्र सबसे बड़ा है वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापनासूत्र सबसे बड़ा है। इसमें छत्तीस पद (अध्याय) है। यह भी प्रश्नोत्तर शैली में है। इसके पहले, तीसरे, पाँचवें, दसवें एवं तेरहवें पद में जीव-अजीव

का वर्णन है। सोलहवें एवं बत्तीसवें पद में मन, वचन, काया योग एवं आश्रव का और तेईसवें पद में बन्ध का विवेचन है। छत्तीसवें पद में संवर, निर्जरा एवं मोक्ष का प्रतिपादन है। शेष पदों में भाषा, लेश्या, समाधि एवं लोकस्वरूप का निरूपण है।

प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य हैं। इसे दृष्टिवाद से उद्धृत माना जाता है।[113] आचार्य मलयगिरि[114] ने इसे समवायांग का और आचार्य तुलसी ने इसे भगवती का उपांगसूत्र कहा है।[115] वर्तमान संस्करण में इस आगम का श्लोक परिमाण 7989, 8100 या 7787 है।

5. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र– इस आगम को कहीं पाँचवें तो कहीं छठें उपांग सूत्र के रूप में स्वीकारा गया है। प्रज्ञप्ति का अर्थ है निरूपण। इसमें जम्बूद्वीप के स्वरूप का निरूपण है इसलिए इसका नाम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है। इस उपांग सूत्र में एक अध्ययन है, जो सात भागों में विभक्त है। वर्गीकृत भाग को वक्षस्कार कहा गया है। उनमें क्रमशः निम्न विषय वर्णित हैं– 1. जम्बूद्वीप 2. कालचक्र और ऋषभ चरित्र 3. भरत चरित्र 4. जम्बूद्वीप का विस्तृत वर्णन 5. तीर्थंकरों का जन्माभिषेक 6. जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति एवं 7. ज्योतिष चक्र। इसमें कालचक्र के सन्दर्भ में अवसर्पिणी के अत्यन्त कष्टमय छठवें आरे का भी वर्णन है जो प्रलयकाल के समरूप माना जा सकता है। वर्तमान संस्करण के अनुसार इसका श्लोक परिमाण 4458 एवं मतान्तर से 4146 है।

6. सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र– सूर्यप्रज्ञप्ति को कहीं पाँचवां तो कहीं छठा उपांगसूत्र माना गया है। इसमें सूर्य आदि ज्योतिष चक्र का निरूपण है अतः इसका नाम सूर्यप्रज्ञप्ति है।

इस ग्रन्थ में बीस प्राभृत और 108 सूत्र हैं।[116] इनमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतियों का सुविस्तृत वर्णन है। मुख्यतया इस सूत्र में ज्योतिष सम्बन्धी मान्यताओं का संकलन किया गया है। इस अपेक्षा से इसे ज्योतिष, भूगोल, गणित एवं खगोल विज्ञान का अद्वितीय कोश कह सकते हैं।

7. चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र– चन्द्रप्रज्ञप्ति सातवाँ उपांग सूत्र है। इसके नाम से तो यह प्रतीत होता है कि इसमें चन्द्रमा सम्बन्धी वर्णन होना चाहिए, किन्तु मंगलाचरण रूप एवं बीस प्राभृतों का संक्षेप सार बताने वाली अठारह गाथाओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की सामग्री सूर्यप्रज्ञप्ति से अक्षरशः मिलती है। इस आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मूलतः ये दोनों एक ही ग्रन्थ थे और इसका

नाम 'सूर्य-चन्द्र प्रज्ञप्ति' होगा। कालान्तर में बारह उपांगों की संख्या पूर्ति करने हेतु इसे विभाजित कर दिया गया। यहाँ आगमविज्ञ रत्नयशविजयजी महाराज साहब के अनुसार विद्वानों का पूर्वपक्ष समुचित नहीं है क्योंकि दोनों ही ग्रन्थ स्वतन्त्र होने से ही इनके पृथक-पृथक उल्लेख हुए हैं। उपांगसूत्रों में भी दोनों की अलग-अलग गिनती करने पर ही 12 उपांग बने हैं। दोनों में कतिपय सूत्र रचना समानता का कारण दोनों की एक-दूसरे से रही अपेक्षा मालूम होती है। जैसे सायन व निरयन ज्योतिष प्रणाली में एक में सूर्य को प्रधान मानकर गिनती होती है जबकि दूसरे में चन्द्र को प्रधान मानकर गिनती होती है। फल तो दोनों का एक ही आता है वैसा ही इन सूत्रों में है।

पाक्षिक सूत्र में पाँच महाव्रत एवं छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत के आलापक समान ही लगते हैं। जो विभिन्नता है वह नाम एवं विषय की ही है वैसा ही इसमें हो सकता है। अत: विरोध नहीं है। पाक्षिक सूत्रानुसार चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति दोनों कालिकसूत्र हैं जबकि नंदीसूत्रानुसार एक कालिक सूत्र तो दूसरा उत्कालिक सूत्र है।

नव तेरापंथ के मुनि नगराजजी ने इस सन्दर्भ में एक सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है। उसका आशय यह है कि शब्द अनेकार्थक होते हैं अत: यह भी संभव है कि इनकी शब्दावली तुल्य होने पर भी भाव अभीष्ट ग्रन्थानुसार हो।[117] आचार्य देवेन्द्रमुनि जी ने चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में समानता अनुज्ञापित करते हुए भी चन्द्रप्रज्ञप्ति की नौ विशेषताएँ बतलायी है।[118] वर्तमान उपलब्ध संस्करण में इस उपांग का श्लोक परिमाण 2058 है।

8.निरयावालिकासूत्र– इस उपांग के अन्तर्गत पाँच उपांगसूत्रों का समावेश इस प्रकार किया गया है– 1. कल्पिका 2. कल्पवतंसिका 3. पुष्पिका 4. पुष्पचूलिका और 5. वह्निदशा। विद्वानों के अनुसार पूर्वकाल में उक्त पाँचों उपांग निरयावलिका के नाम से प्रख्यात थे, किन्तु कालान्तर में बारह उपांगों का बारह अंगों से सम्बन्ध स्थापित करने हेतु इनकी गणना पृथक रूप में की गई। निरयावलिका का शाब्दिक अर्थ है– निरय अर्थात नरक, आवलिका अर्थात पंक्तिबद्ध इसमें नरक में जाने वाले जीवों का क्रमश: वर्णन किया गया है इसलिए इसका निरयावलिका नाम है। इसका अपर नाम कल्पिका है। इसके दस अध्ययनों में क्रमश: श्रेणिक राजा के दस पुत्र सुकाल, महाकाल, कण्ह,

महाकण्ह, सुकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह और महासेनकण्ह का वर्णन है।

इसमें राजा कोणिक एवं राजा चेटक के बीच हुए महाशिलाकण्टक-संग्राम का भी उल्लेख है तथा राजा श्रेणिक का जीवनवृत्त भी बताया गया है।

9. कल्पावतंसिकासूत्र– कल्प अर्थात देवलोक, अवतंसिका अर्थात निवास करने वाले। इसमें देवलोक में निवास करने वाले जीवों का वर्णन होने से इसका नाम कल्पावतंसिका है। इसमें राजा श्रेणिक के दस पौत्रों- पद्म, महापद्म, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनंद और नंदन का दीक्षा ग्रहण एवं उनके देवलोक गमन का वर्णन है। इस आगम में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि श्रेणिक के कालकुमार आदि दस पुत्र कषाय के वशीभूत होकर नरकगामी बनते हैं वहीं श्रेणिक के पौत्र एवं उक्त दस कुमारों के दस पुत्र संयम ग्रहण कर कषाय विजयी होकर देवगति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति का उत्थान एवं पतन स्वयं के कर्मों पर आधारित है।

10. पुष्पिकासूत्र– पुष्पिका विमान विशेष का नाम है। कुछ देव पुष्पिका नामक विमान में बैठकर भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाते हैं और नाटक आदि द्वारा प्रभु की भक्ति करते हैं अत: इसका नाम पुष्पिका है। इसके तीसरे वर्ग में दस अध्ययन हैं। इनमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिका देवी, पूर्णभद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृष्टि की कथाएँ हैं, ये सब देव हैं। ये देव परमात्मा महावीर के समक्ष उपस्थित होते हैं तब उनकी विशिष्ट ऋद्धि देखकर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि इनको यह ऋद्धि कैसे मिली? तब भगवान बताते हैं कि इन्होंने पूर्वभव में दीक्षा ली थी, किन्तु विराधना करने के कारण देवयोनि में उत्पन्न हुए हैं। यहाँ से च्यवकर ये महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और संयम पथ स्वीकार करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार तीसरे वर्ग में संयम की आराधना और विराधना के फल का सुन्दर प्रतिपादन है। इस आगम की कथाओं में कौतुहल तत्त्व की प्रधानता है। इसमें पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त का भी सम्यक विवेचन किया गया है।

11. पुष्पचूलासूत्र– पुष्पचूला भी विमान विशेष का नाम है। इस चतुर्थ वर्ग में दस अध्ययन हैं। इनमें क्रमश: श्रीदेवी, ह्रीदेवी, धृतिदेवी कीर्तिदेवी,बुद्धिदेवी,लक्ष्मीदेवी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गंधदेवी की कथाएँ वर्णित हैं। ये सभी देवियाँ हैं, जो पूर्वभव में भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा

में संयम अंगीकार करती हैं किन्तु शरीर आसक्ति के कारण संयम विराधना कर देवलोक में देवियों के रूप में उत्पन्न होती हैं। ये देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह में जन्म लेंगी और चारित्र अंगीकार कर मोक्षपद प्राप्त करेंगी।

12. वृष्णिदशासूत्र– यह बारहवाँ उपांग सूत्र है। इसमें वृष्णिवंश के बारह राजकुमारों का जीवन चारित्र वर्णित होने से इसका नाम वृष्णिदशा है। ये सभी संयम साधना का सम्यक पालन कर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ से महाविदेह में जन्म लेकर मोक्ष जायेंगे, इसका वर्णन है। राजकुमारों के नाम ये हैं– 1. निषध 2. मायनी 3. वण्ह 4. वध 5. प्रगति 6. ज्योति 7. दशरथ 8. दृढ़रथ 9. महाधनु 10. सप्तधनु 11. दशधनु और 12. शतधनु।

इसमें कथा तत्त्व की अपेक्षा पौराणिक आख्यानों का प्राधान्य है। साथ ही द्वारिका नगरी एवं भगवान अरिष्टनेमि का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। वर्तमान संस्करण के अनुसार निरयावलिका आदि पाँच उपांग 1109 श्लोक परिमाण है।

चार मूलसूत्र

मूलसूत्र की अवधारणा कब अस्तित्व में आई, निश्चित रूप से कह पाना असम्भव है, यद्यपि इस नाम का उल्लेख सर्वप्रथम प्रभावक चरित्र (वि.सं. 1334) में पढ़ने को मिलता है। आचार्य देवेन्द्रमुनि के अनुसार जिन सूत्रों में मुख्य रूप से श्रमणाचार के मूलगुणों–महाव्रतों, समिति-गुप्ति आदि का वर्णन है, जो श्रमण की जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन ग्रन्थों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वथा आवश्यक है, मूलसूत्र कहलाते हैं।[119] श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकसूत्र पिण्डनिर्युक्ति या ओघनिर्युक्ति– ये चार आगम मूलसूत्र के रूप में माने गये हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. उत्तराध्ययनसूत्र– यह अर्धमागधी साहित्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूलसूत्रों में उत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम स्थान है। कालिकश्रुत में भी इसका स्थान सर्वप्रथम है।[120] इसमें उत्तर और अध्ययन ऐसे दो शब्द हैं। निर्युक्तिकार के अनुसार ये अध्ययन आचारांग के अध्ययन के पश्चात अर्थात उत्तरकाल में पढ़े जाते थे, इसलिए इन्हें उत्तर अध्ययन कहा गया है।[121] आचार्य शय्यंभव के पश्चात भी ये अध्ययन दशवैकालिक के अध्ययन के पश्चात अर्थात उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे, अत: इनका नाम उत्तर अध्ययन ही रहा।

उत्तराध्ययन में छत्तीस अध्ययन हैं। जिनमें विनय, संयम, तप, धर्म, रत्नत्रय, मोक्षमार्ग, परीषह आदि साध्वाचार सम्बन्धी सभी विषय उपलब्ध हैं। इस सूत्र में जीवन की दुर्लभता, देह की अनित्यता, मरण प्रकार, कर्मप्रकृति, बहुश्रुतता, लेश्या आदि अन्य आवश्यक विषयों का भी प्रतिपादन है। इस आगम में महावीर की अन्तिम देशना संकलित है, ऐसा भी माना जाता है। अभी यह आगम 2000, 2300 अथवा 2100 श्लोक संख्या से युक्त है।

2. दशवैकालिकसूत्र– मूलसूत्रों में दशवैकालिक का द्वितीय स्थान है। नन्दीसूत्र[122] एवं पक्खीसूत्र[123] आदि में प्राप्त वर्गीकरण के अनुसार उत्कालिक सूत्रों में इसका प्रथम स्थान है। इसमें दस अध्ययन हैं और उनमें मुनि जीवन के आचार एवं गोचरी सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसकी रचना विकाल में हुई, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक है, किन्तु उत्कालिक सूत्रों में इसकी गणना होने से प्रतीत होता है कि यह सूत्र विकाल में भी पढ़ा जा सकता है अत: इसका नाम दशवैकालिक है।

यह रचना श्रुतकेवली शय्यंभवसूरि ने अपने पुत्र मनक के लिए की थी। इसका रचनाकाल वीर संवत 72 के आस-पास का है। दशवैकालिक यह सूत्र पाँचवें आरे के अंत तक विद्यमान रहेगा ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है। संयम धर्मोन्मुख श्रावक-श्राविका वर्ग दशवैकालिक के चार अध्ययनों के मूल पाठ का एवं पाँचवें अध्ययन का केवल अर्थबोध प्राप्त कर अध्ययन कर सकते हैं– ऐसा अनेक ग्रन्थों में कहा गया है। इससे अधिक आगम सूत्रों के पठन का (पंचांगी सहित) अधिकार श्रावक-श्राविका वर्ग को नहीं है। वे केवल श्रवण के अधिकारी हैं।

वर्तमान में इस सूत्र का सर्वाधिक महत्त्व है। नवदीक्षित साधु-साध्वियों की साधना में भी यह शास्त्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। वर्तमान में यह आगम 700 श्लोक परिमाण में है।

3. आवश्यकसूत्र– जो साधक के लिए अवश्य करणीय है, उनका वर्णन जिस सूत्र में किया गया हो उसका नाम आवश्यकसूत्र है। अवश्य करणीय छ: कार्य हैं, इसलिए आवश्यकसूत्र के छ: विभाग हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वन्दन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान। इसमें इन छ: आवश्यकों का वर्णन होने से इसे षडावश्यक भी कहते हैं।

प्रथम 'सामायिक' नामक अध्ययन में सावद्य व्यापार से निवृत्त एवं समभाव में प्रवृत्त होने की बात कही गई हैं। द्वितीय 'चतुर्विंशतिस्तव' अध्ययन में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है तथा उनसे आरोग्य एवं बोधिलाभ की याचना की गई है। तृतीय 'वन्दन' अध्ययन में गुरुवन्दन विधि का प्रतिपादन है। चतुर्थ अध्ययन में आत्मिक शुद्धि एवं व्रत पालन में हुई स्खलनाओं से विरत होने के लिए प्रतिक्रमण का निरूपण है। पंचम 'कायोत्सर्ग' अध्ययन में आत्मा और देह की भिन्नता का अवबोध कराने वाली कायोत्सर्ग साधना का वर्णन है। षष्ठम 'प्रत्याख्यान' अध्ययन में त्रैकालिक दुष्प्रवृत्तियों के त्याग (प्रतिज्ञा) का विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान से आत्मा संयम में स्थिर होती है।

इन छह आवश्यकों के द्वारा आत्मा की त्रैकालिक शुद्धि होती है जैसे- सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन एवं कायोत्सर्ग से वर्तमान के पापों की शुद्धि होती है, प्रतिक्रमण से अतीत के पापों की शुद्धि होती है तथा प्रत्याख्यान से भविष्य में आत्मा कर्मबद्ध युक्त न हो, इसकी पुष्टि होती है।

4. पिण्डनिर्युक्तिसूत्र– जैन दर्शन में पिण्ड का अर्थ भोजन किया है। इस सूत्र में मुनि की आहार विधि का वर्णन किया गया है इसलिए इसका नाम पिण्डनिर्युक्ति है। इसमें 671 गाथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्ति में मुख्य रूप से आठ अधिकार हैं- 1. उद्गम 2. उत्पादन 3. एषणा 4. संयोजना 5. प्रमाण 6. अंगार 7. धूम और 8. कारण। इन अधिकारों में इनके नाम के अनुसार विषय का वर्णन किया गया है।

विद्वानों की मान्यता है कि यह दशवैकालिक निर्युक्ति का एक भाग है। दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। सम्भवत: यह निर्युक्ति इस अध्ययन पर लिखी गई है तथा बृहद् हो जाने के कारण इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकारा गया है। कुछ विद्वान पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्र मानते हैं।[124] यह आगम 7691 श्लोक परिमाण में उपलब्ध है।

5. ओघनिर्युक्तिसूत्र– ओघ का अर्थ सामान्य या साधारण है। इसमें मुनि जीवन की समाचारी का सामान्य कथन किया गया है अत: इसका नाम ओघनिर्युक्ति है। पिण्डनिर्युक्ति की भाँति इसमें भी श्रमणों के आचार-विचार का प्रतिपादन होने से इसे निर्युक्ति के स्थान पर मूलसूत्र भी माना है। कुछ विज्ञों का मत है कि यह आवश्यक निर्युक्ति का ही एक अंश है तथा इसमें उदाहरण के

माध्यम से प्रतिपाद्य विषयों को स्पष्ट किया गया है। इसमें सात द्वार एवं 811 गाथाएँ हैं। इन द्वारों में अनुक्रमश: प्रतिलेखना, पिण्डैषणा, उपधि, अनायतन, प्रतिसेवना, आलोचना और विशुद्धि की चर्चा की गई है। संक्षेपत: इस ग्रन्थ में मुनिचर्या का सुन्दर विवेचन है। वर्तमान संस्करण में इसका श्लोक परिमाण 1460 है।

छ: छेदसूत्र

छेद शब्द का सम्बन्ध चारित्र एवं प्रायश्चित्त दोनों से है। चारित्र पाँच प्रकार के कहे गए हैं– 1. सामायिक 2. छेदोपस्थापनीय 3. परिहार विशुद्धि 4. सूक्ष्मसंपराय और 5. यथाख्यात चारित्र। प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं– आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक।

वर्तमान में सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र ही जीवन्त है, शेष तीन चारित्र विच्छिन्न हो गए हैं। सामायिक चारित्र अल्पकालिक होता है एवं छेदोपस्थापना चारित्र जीवन पर्यन्त रहता है। अत: यह संभव है कि छेदोपस्थापना चारित्र से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध होने के कारण इनका नाम छेदसूत्र दिया गया हो। मूल सूत्रों की तरह छेदसूत्रों की संख्या में भी मत वैभिन्य है। सामाचारीशतक में प्रतिपादित छ: छेदसूत्रों का संक्षिप्त वर्णन निम्न है–

1. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र– दशाश्रुतस्कन्ध के दो नाम मिलते हैं। नन्दीसूत्र[125] में इसका नाम 'दशा' एवं स्थानांगसूत्र में इसका नाम 'आयारदशा' है।[126] इसमें दस अध्ययन हैं अत: इसका नाम दशा है। इसमें मुनि जीवन के आचार एवं उसमें लगने वाले दोषों से बचने के उपायों का निरूपण हैं इस तरह विषय प्रतिपादन की अपेक्षा से इसका नाम 'आयारदशा' है।

इस सूत्र के दस अध्ययनों के अन्तर्गत पहले में बीस असमाधिस्थान, दूसरे में इक्कीस शबल दोष, तीसरे में गुरु की तैंतीस आशातनाएँ, चौथे में आचार्य की आठ गणि संपदाएँ, पाँचवें में दस चित्तसमाधि के स्थान, छट्ठे में ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ, सातवें में बारह भिक्षु प्रतिमाएँ, आठवें में पर्युषणा सामाचारी, नौवें में तीस महामोहनीय स्थान और दसवें में नौ निदानों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार इस आगम में चित्त समाधि एवं धर्म स्थिरता की सुन्दर प्रेरणा दी गई है। वर्तमान संस्करण में इसका श्लोक परिमाण 1380 माना गया है।

2. बृहत्कल्पसूत्र– इस सूत्र का अपर नाम कल्प भी है। जब पर्युषणाकल्प कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ तब इसका नाम बृहत्कल्प हो गया। विद्वानों की मान्यतानुसार बृहत्कल्प-व्यवहारसूत्र का पूरक है, क्योंकि दोनों में साध्वाचार का निरूपण है।[127]

'कल्प' शब्द का अर्थ है– मर्यादा, आचार संहिता आदि। इसमें श्रमण धर्म की मर्यादा अथवा आचार का प्रतिपादन होने से इसका 'बृहतकल्प' नाम सार्थक है। इसमें छः उद्देशक, इक्यासी अधिकार और 206 सूत्र हैं। इसका श्लोक परिमाण 400 या 473 है। इसके प्रथम उद्देशक में मुनि की मासकल्प या विहारकल्प सम्बन्धी मर्यादाएँ बताई गई है। द्वितीय उद्देशक में उपाश्रय एवं शय्यातर सम्बन्धी मर्यादाओं का वर्णन किया गया है। तीसरे उद्देशक में साधु-साध्वी के पारस्परिक व्यवहार की मर्यादाओं पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ उद्देशक में रात्रिभोजन को दोषयुक्त बताकर उसके सेवन का निषेध किया गया है। पंचम उद्देशक में ब्रह्मचर्य एवं आहार सम्बन्धी नियमों पर विचार किया गया है। छठवें उद्देशक में मुनि के लिए छः प्रकार के असत्य वचनों को वर्जनीय माना गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में साधु-साध्वी के आचार व्यवहार से सम्बन्धित अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है।

3. व्यवहारसूत्र– व्यवहार का अर्थ है– आलोचना, शुद्धि या प्रायश्चित्त। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय आलोचना एवं प्रायश्चित्त होने से इस सूत्र का नाम व्यवहार रखा गया है। इसमें दस उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में आलोचक मुनि कैसा हो और आलोचना किसके समक्ष की जाए इसका वर्णन है। द्वितीय उद्देशक में समान सामाचारी वाले साधुओं की प्रायश्चित्त विधि कही गई है। तीसरे उद्देशक में विहार सम्बन्धी नियमों का विवेचन है। इसमें आचार्यादि पद स्थापना कब और किस विधि पूर्वक की जाए इसका भी सम्यक निरूपण है। चतुर्थ उद्देशक में आचार्यादि के साथ विहार एवं वर्षावास में कितने साधु रहने चाहिए इसका वर्णन है। पाँचवें उद्देशक में प्रवर्तिनी आदि साध्वियों की विहारचर्या आदि का निरूपण है। छठवें उद्देशक में आचार्यादि की विशिष्टता एवं सम्बन्धियों के यहाँ जाने की विधि का प्रतिपादन है। सातवें उद्देशक में दीक्षा के योग्य पात्र आदि का वर्णन है। आठवें उद्देशक में शय्या आदि ग्रहण करने की विधि बतलाई गई है। नवें उद्देशक में शय्यातर के अधिकृत आहार आदि को अकल्पनीय बताया है। दसवें उद्देशक में व्यवहार

के पाँच प्रकार यवमध्य एवं वज्र मध्य चन्द्रप्रतिमाओं की विधि, आचारांग आदि सूत्रों का काल एवं दस प्रकार के वैयावृत्य का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार इस आगम में साधु-साध्वी के आचार शुद्धि विषयक नियमों का विधान बतलाया गया है।

4. निशीथसूत्र– निशीथ का सामान्य अर्थ अंधकार है। यह सूत्र अपवाद बहुल है। जन सामान्य में प्रकाशित करने योग्य नहीं है, गोपनीय है इसलिए इसका नाम निशीथ है। दूसरी परिभाषा के अनुसार जिस प्रकार निशीथ अर्थात कतकफल को पानी में डालने से कचरा नीचे बैठ जाता है इसी प्रकार इस शास्त्र के अध्ययन से भी आठ प्रकार के कर्मरूपी मल का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है, इसलिए इसका नाम निशीथ है।[128] इस सूत्र अध्ययन के अधिकारी परिणामक (परिपक्व बुद्धि सम्पन्न) साधक ही होते हैं।

इसमें बीस उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में गुरु मासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम उद्देशकों में लघुमासिक प्रायश्चित्त के विषयों का निरूपण है। छठवें से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का प्रतिपादन है। बारहवें से उन्नीसवें तक लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का उल्लेख है। बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त दान की विधि कही है। सार रूप में कहें तो निशीथ के उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान है और बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की विधि दी गई है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रायश्चित्त के माध्यम से जीवन शुद्धि का पथ प्रशस्त करता है। वर्तमान में यह आगम 812 श्लोक सम्बन्धी संख्या में उपलब्ध है।

5. महानिशीथसूत्र– इस ग्रन्थ नाम से ऐसा ज्ञात होता है कि यह निशीथसूत्र का बृहद् रूप है। इसमें छः अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। इसका गाथा परिमाण 4554 हैं। इसके प्रथम अध्ययन में पापरूपी शल्य को दूर करने के लिए अठारह पाप स्थानकों का वर्णन है। दूसरे में कर्म विपाक एवं पापों की आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे एवं चौथे अध्ययन में कुशील साधुओं से दूर रहने का निर्देश है। पाँचवें में गच्छ के स्वरूप का प्रतिपादन है। छठवें अध्ययन में प्रायश्चित्त के दस भेदों एवं आलोचना के चार प्रकारों का विवेचन है। चूलिकाओं में सुसढ़ आदि के कथानक हैं। प्राचीन मान्यता के अनुसार ये मूल ग्रन्थ दीमकों के द्वारा क्षतिग्रस्त हो चुका था। तत्पश्चात आचार्य

हरिभद्रसूरिजी ने क्षतिग्रस्त हस्त प्रति के आधार पर जिसकी पुनर्रचना की थी, वही महानिशीथ वर्तमान में 4544 पद परिमाण में उपलब्ध है।

6. जीतकल्पसूत्र– जीत का अर्थ परम्परागत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित से सम्बन्धित व्यवहार है। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना व्यवहार कहलाता है। इस सूत्र में जैन मुनि के आचार सम्बन्धी मर्यादाओं (प्रायश्चित्तों) का विधान है अत: इसका जीतकल्प नाम अन्वर्थक है। इसमें 103 गाथाएँ हैं। इसके रचयिता सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण माने जाते हैं। इसमें मुख्य रूप से प्रायश्चित्त के दस भेदों का निरूपण हैं। तत्पश्चात इसमें यह बताया गया है कि अन्तिम के दो प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य और पारांचिक चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी के समय तक ही प्रवर्त्तित थे, उसके पश्चात लुप्त हो गए। वर्तमान में अधिक से अधिक आठ प्रायश्चित्त दिए जाते हैं।

चूलिकासूत्र

जिन ग्रन्थों में अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया गया हो वे चूलिका सूत्र कहलाते हैं। नन्दीचूर्णि के अनुसार मूलग्रन्थ में प्रतिपादित या अप्रतिपादित अर्थ का संक्षेप में निरूपण करने वाली ग्रन्थ पद्धति को चूला कहते हैं।[129] दशवैकालिक और महानिशीथ के अन्त में भी चूलिकाएँ-चूलाएँ-चूडाएँ प्राप्त होती हैं। वर्तमान युग की भाषा में इसे परिशिष्ट कह सकते हैं। नन्दी एवं अनुयोगद्वार ये दोनों सूत्र अध्ययन के लिए परिशिष्ट का कार्य करते हैं। अत: मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में इन दो आगमों को चूलिका रूप माना गया है।

1. नन्दीसूत्र– नन्दी शब्द का सामान्य अर्थ है आनन्द। चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं प्रमोद, हर्ष और कंदर्प।[130] यहाँ आनंद अर्थ अभिप्रेत है। इस आगम में ज्ञान के स्वरूप का वर्णन है और ज्ञान ही सबसे बड़ा आनंद है अत: इस ग्रन्थ का नाम नन्दी रखा गया है। नन्दीसूत्र की रचना गद्य और पद्य मिश्रित है। इसमें एक अध्ययन, 57 गद्यसूत्र और 97 पद्य गाथाएँ हैं। इसका श्लोक परिमाण 700 है।

इसके प्रारम्भ में भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात जिनशासन, 24 तीर्थंकर, 11 गणधर, जिनप्रवचन, सुधर्मा आदि स्थविरों को स्तुति पूर्वक वंदन किया है। इसके पश्चात पाँच ज्ञानों का सुविस्तृत

वर्णन है। सामान्यतया इसके रचयिता देवभद्रगणि कहे जाते हैं किन्तु कुछ विद्वान देवर्द्धिगणि को भी इसका रचयिता मानते हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शती है।

2. अनुयोगद्वारसूत्र– अनुयोग का अर्थ है– व्याख्या अथवा विवेचन। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार सूत्र का अपने अर्थ के अनुरूप या अनुकूल व्यापार होना अनुयोग कहलाता है अथवा अनुयोग में आगम सूत्रों का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। द्वितीय अर्थ के अनुसार इसमें आगम सूत्रों की व्याख्या पद्धति का निर्देश होता है। इसलिए इसका नाम अनुयोग है। इसमें व्याख्या पद्धति के चार अंग बताए हैं– 1. उपक्रम 2. निक्षेप 3. अनुगमन और 4. नय। निर्युक्तियाँ निक्षेप पद्धति मूलक होती हैं। यह सूत्र पाठों को सुगमता से समझने का एक प्रकार है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पंच ज्ञानों के द्वारा मंगलाचरण किया गया है। तदनन्तर इस सूत्र में आवश्यक आदि जैन पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण एवं अनुयोगों का सुविस्तृत विवेचन है। जैन आगमों की परिभाषा (terminalogy) समझने के लिए जरूरी बौद्धिक व्यायाम इस सूत्र के परिशीलन से प्राप्त होता है। इसमें चार द्वार हैं, 152 गद्य सूत्र हैं और 143 पद्य सूत्र हैं। यह 1899 श्लोक परिमाण में है।

यह ग्रन्थ सभी आगमों को एवं उनकी व्याख्याओं को समझने में कुंजी सदृश है। वर्तमान संस्करण के अनुसार इसका श्लोक परिमाण 1399 एवं मतान्तर से 1604, 1800 एवं 2005 माना गया है।

प्रकीर्णक सूत्र

सामान्य रूप से प्रकीर्णक शब्द का अर्थ-विविध, बिखरा हुआ आदि है। नंदी टीका के अनुसार अरिहंत प्रभु द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके जिन ग्रन्थों को निर्यूढ या संकलित किया जाता है वे सब प्रकीर्णक कहलाते हैं अथवा जिनमें अरिहंत के द्वारा उपदिष्ट मोक्ष मार्ग का सूत्रानुसारी प्रतिपादन किया जाता है, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं।[131] चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन में चौदह हजार प्रकीर्णक माने गये हैं, उनमें आज अनेक प्रकीर्णक प्राप्त होते हैं। जिसमें से 45 आगमों की गिनती में 10 प्रकीर्णकों का समावेश किया गया है। उन प्रकीर्णकों का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है–

1. चतुःशरण– चतुःशरण का दूसरा नाम कुशलानुबन्धी अध्ययन भी है। इसमें 63 गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय 'चार शरण' है। इसमें सांसारिक

प्राणियों को उद्‌बोधन देते हुए कहा गया है– 'हे चेतन! संसार का कोई भी पदार्थ शरण दाता नहीं है, इसलिए तूं किसी अन्य की शरण में न जाकर अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवली प्ररूपित धर्म की शरण को स्वीकार कर, यही सच्चा शरण है।' यहाँ चार शरण की मुख्यता होने से इस ग्रन्थ का नाम चतुःशरण है। ये चार शरण ही आत्मा की कुशलता के परम हेतु हैं तथा कुशल का अनुबन्ध कराने वाले हैं अतएव इसे कुशलानुबन्धी भी कहा जाता है।

इस प्रकीर्णक में षडावश्यक पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि सामायिक आवश्यक से चारित्र की शुद्धि होती है। चतुर्विंशति जिनस्तव से दर्शन की विशुद्धि होती है। वन्दन आवश्यक से ज्ञान में निर्मलता आती है। प्रतिक्रमण आवश्यक से ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों की शुद्धि होती है। कायोत्सर्ग से आत्मविशुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से पुरुषार्थ की शुद्धता होती है।[132]

चउसरण (चतुःशरण), आउर पच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान), भत्त परिण्णा (भक्त परिज्ञा) और मरणसमाहि पयण्णा (मरण समाधि परिज्ञा) इन चार प्रकीर्णकों की रचना प्रभु श्रीमहावीर के स्वहस्त दीक्षित श्री वीरभद्रसूरिजी नामक आचार्य ने की है– ऐसी पूर्वाचार्यों की मान्यता है।

मूलाचार नामक दिगम्बर ग्रन्थ में भी आतुरप्रत्याख्यान की महदंश गाथाएँ उद्‌धृत की जाने से यह ग्रन्थ उससे प्राचीन सिद्ध हो जाता है। चतुःशरण प्रकीर्णक पर पूज्य भुवनतुंग की वृत्ति एवं पूज्य गुणरत्न की अवचूरि भी प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्य में है।

2. आतुरप्रत्याख्यान– आतुर अर्थात रोगादि यानी मारणान्तिक कष्ट उपस्थित होने पर, प्रत्याख्यान अर्थात देह ममत्व का विसर्जन कर देना, आतुर प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रकीर्णक समाधिमरण से सम्बन्धित है, इस दृष्टि से इसे 'अन्तकाल' प्रकीर्णक भी कहा गया है। इसका एक नाम बृहदातुरप्रत्याख्यान भी है। यह प्राकृत पद्य की 70 गाथाओं में निबद्ध है। इसका कुछ भाग गद्य में भी है। इसके रचयिता वीरभद्रसूरि आचार्य है। इस प्रकीर्णक में मुख्यतया मरण के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है। 1. बाल मरण– मिथ्या दृष्टि आत्मा का मरण 2. बाल पंडित मरण– अविरत सम्यग्दृष्टि एवं देशविरतिधर का मरण और 3. पंडित मरण– विरतिधर साधु-साध्वी का मरण। मिथ्यादृष्टि जीव

बालमरण से मरकर दुर्लभ बोधि-विराधक बनता है। साधु-साध्वी का आराधना पूर्वक पंडित मरण होने से वे तीन भव में मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।[133]

इसके अतिरिक्त इसमें श्रावक के बारह व्रत, पाँच अणुव्रत ग्रहण करने की विधि, गृहीत व्रतों में लगने वाले अतिचारों की शुद्धि, अठारह पापस्थानकों के त्याग का उपदेश, एकत्व भावना का चिन्तन आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

3. महाप्रत्याख्यान– इस प्रकीर्णक में देह त्याग का विस्तृत विवेचन किया गया है अत: इसका नाम महाप्रत्याख्यान है। इसमें 142 गाथाएँ हैं। यह प्राकृत पद्य शैली में है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थंकरों, सिद्धों और संयमियों को नमस्कार किया गया है तथा पाप कार्य एवं दुष्चारित्र की निंदा करते हुए उनके त्याग पर बल दिया है। इसमें बताया गया है कि जीव को शल्य रहित होकर पापों की आलोचना करनी चाहिए, क्योंकि सशल्य की आराधना निरर्थक होती है और नि:शल्य की आराधना सार्थक होती है। इसमें यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यदि आलोचक की आराधना उत्कृष्ट हो तो वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है तथा जघन्य और मध्यम आराधना हो, तो सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकीर्णक का मुख्य ध्येय भोगों का त्याग करना है, क्योंकि त्याग से वैराग्य दृढ़ होता है और वैराग्य से आत्मा मोक्ष के निकट पहुँचती है।

4. भक्तपरिज्ञा– यह प्रकीर्णक भक्त परिज्ञा अनशन का विवेचन करता है अत: इसका नाम भक्तपरिज्ञा है। इसमें प्राकृत पद्य की 172 गाथाएँ हैं। कुछ विद्वानों ने इसके संकलन कर्त्ता आर्य वीरभद्र को माना है। इस प्रकीर्णक के प्रारम्भ में कहा गया है कि जिनाज्ञा का पालन करने से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है और पंडितमरण से आराधना सफल होती है।

तदनन्तर पंडितमरण के 1. भक्तपरिज्ञा (अनशन) 2. इंगिनी (अनशन) और 3. पादपोपगमन (अनशन) ये तीन प्रकार बतलाये गये हैं।[134] तदनन्तर भक्तपरिज्ञामरण के दो भेद कहे गये हैं– 1. सविचार और 2. अविचार। पुनश्च भक्तपरिज्ञा का वर्णन करते हुए कहा है कि जो आत्मा सम्यकदर्शन से भ्रष्ट है उसकी मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन से युक्त व्यक्ति ही मुक्ति का अधिकारी है, क्योंकि जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ ज्ञानादि चतुष्टय की प्रतिष्ठा है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक में मन को बंदर की उपमा दी गई हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पालन को मन वशीकरण का अमोघ उपाय बतलाया है। इसके अन्त में भक्तपरिज्ञा का फल बताते हुए कहा है कि जघन्य साधक सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होता है, मध्यम साधक अच्युत कल्प में पैदा होता है और उत्कृष्ट साधक सर्वार्थसिद्ध विमान अथवा सिद्ध पद को प्राप्त करता है।

5. तन्दुलवैचारिक– तन्दुल का अर्थ– चावल है। तन्दुलवैचारिक शब्द का आशय यह है कि सौ वर्ष का वृद्ध पुरुष कितने चावल खा सकता है, उसकी संख्या पर विशेष रूप से चिन्तन करने के कारण उपलक्षण से इसका नाम तन्दुलवैचारिक रखा गया है।[135] इस लाक्षणिक नामकरण का अन्य आशय क्या हो सकता है यह विद्वानों के लिए अन्वेषणीय है। इसमें प्राकृत भाषा की 149 गाथाएँ हैं। बीच-बीच में कुछ गद्य सूत्र भी हैं।

इसमें प्रमुखतया मानव जीवन के विभिन्न पक्षों, जैसे– गर्भावस्था, मानवीय शरीर की संरचना, उसकी शतायु के दस विभाग, उनमें होने वाली शारीरिक स्थितियाँ एवं उसके आहार आदि के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।

व्यावहारिक दृष्टि से काल की परिगणना करते हुए बताया गया है कि जिस तरह मुहूर्त्त, ऋतु, मास, वर्ष आदि का क्षय होता है उसी भाँति शरीर भी एक दिन नष्ट हो जाता है। यह व्याधि का मन्दिर है अत: देह के प्रति आसक्ति कम करने का उपदेश दिया गया है।

इस ग्रन्थ में नारी की प्रकृति एवं उसकी विकृति का भी चित्रण किया गया है। नर की प्रधानतया उपदेश प्रवृत्ति होने से नर के आध्यात्मिक पतन में निमित्त रूप बनती नारी का स्वरूप वर्णन करते हुए उसके व्युत्पत्तिपरक अनेक नामों की चर्चा की गई है, जैसे–नारी का पर्यायवाची 'प्रमदा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है– 'पूरिसे मत्ते करंति त्ति पमयाओ' अर्थात पुरुष को कामोन्मत्त करती है इसलिए नारी प्रमदा कहलाती है। इसी तरह स्त्री के पर्यायवाची रामा, अंगना, ललना, वनिता आदि शब्दों की भी सटीक व्युत्पत्ति की गई हैं। इन व्युत्पत्तियों के माध्यम से अशुचि भावना को स्पष्ट किया गया है।

6. संस्तारक– संस्तारक का सामान्य अर्थ है– बिस्तर या शय्या है। जैन परम्परा में संस्तारक से तात्पर्य जीवन के अन्तिम समय में आत्मनिरीक्षण द्वारा मृत्यु-शय्या पर स्थिर होकर समाधि मरण प्राप्त करना है। शोधकर्त्ताओं ने ममत्व

त्याग, पूर्वकृत दुष्कृत्यों की आलोचना, नि:स्पृहवृत्ति एवं नि:शल्य भाव पूर्वक साधना करते हुए प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु स्वीकार करने को संथारा कहा है।

वर्तमान में काल ज्ञानी (मृत्यु की सूचना देने वाले एवं समाधि की गारंटी देने वाले) गीतार्थ गुरुवरों का अभाव होने से निराकार (छूट रहित) अनशन या संथारा करने का निषेध है। भविष्य ज्ञान के अभाव में अनशन या संथारा करके भी आर्त्तध्यान वश दुर्गति हो सकती है। अत: इस कलिकाल में प्रतिदिन एक-एक उपवास का प्रत्याख्यान लेकर ही सागारी (छूटवाला) अनशन करने की अनुज्ञा है। मूर्तिपूजक गच्छों में सागारी अनशन ही शास्त्र युक्त माना गया है जबकि अन्य संप्रदाय (स्थानकवासी, तेरहपंथी एवं दिगम्बर) निराकार अनशन या संथारा भी करवाते हैं।

इस ग्रन्थ में 123 गाथाएँ हैं। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इस प्रकीर्णक में ग्रन्थकार संथारा का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे पर्वतों में मेरू, समुद्रों में स्वयम्भूरमण और तारिकाओं में चन्द्र श्रेष्ठ है वैसे ही सुविहित आराधनाओं में संथारा सर्वोत्तम है।[136]

इसमें संथारा ग्रहण करने वाली महान आत्माओं जैसे- अर्णिकापुत्र चिलातीपुत्र, गजसुकुमाल, अवन्ति कुमार आदि का संक्षेप में परिचय दिया गया है। इसमें यह भी प्रतिपादित है कि संथारा करने वाला साधक सकल जीवों से क्षमायाचना करके मैत्री भाव स्थापित करता है और पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता हुआ तीसरे भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

7. गच्छाचार– गच्छ अर्थात संघ या समुदाय। गच्छ में रहने वाले साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन करने वाला होने से इसका नाम गच्छाचार है। इसमें 137 गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक महानिशीथ, बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र के आधार पर लिखा गया है।[137]

इस प्रकीर्णक में मुख्य रूप से गच्छ कैसा हो, गच्छाचार्य कैसे हों एवं गच्छ में रहने वाले साधु कैसे हो? आदि का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इसमें गच्छ को सुदृढ़ एवं प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से उपदेश देते हुए कहा गया है कि साधु को साध्वी से अधिक परिचय नहीं रखना चाहिए, क्योंकि उनका परिचय अग्नि और विष के समान है। जैसे अग्नि के समीप घी रहने से वह पिघलता ही है वैसे ही मुनि के संसर्ग से साध्वी का चित्त विचलित हो सकता

है। इसीलिए मुनि को बाला, वृद्धा, दोहित्री और भगिनी के स्पर्श का भी निषेध किया गया है।

इसमें 'सुगच्छ' की परिभाषा बताते हुए कहा है कि जिस गच्छ में दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ मुनि अधिक मात्रा में हों वह सुगच्छ है। इसमें आचार्य को संघ का पिता कहते हुए गुरु और शिष्य दोनों एक दूसरे के आत्महितैषी बने इसकी प्रेरणा भी दी गई है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रकीर्णक में जैन संघ व्यवस्था का सजीव वर्णन किया गया है।

8. गणिविद्या– गणिविज्जा अर्थात गणितविद्या। यह जैन ज्योतिष का एक अलभ्य ग्रन्थ है। इसमें 82 गाथाएँ हैं। इसकी शैली पद्यात्मक है। इसमें मुख्य रूप से नौ विषयों का निरूपण किया गया है– 1. दिवस 2. तिथि 3. नक्षत्र 4. करण 5. ग्रहदिवस 6. मुहूर्त्त 7. शकुन 8. लग्न और 9. निमित्त। इस प्रकीर्णक के अनुसार दिवस से तिथि, तिथि से नक्षत्र, नक्षत्र से करण, करण से ग्रह, ग्रह से मुहूर्त्त, मुहूर्त्त से शकुन, शकुन से लग्न, लग्न से निमित्त बलवान होता है।

गणिविद्या में सामान्यतया दीक्षा, विहार, लोच, अध्ययन, आचार्य-पद समाधिमरण आदि के लिए शुभाशुभ तिथियों एवं नक्षत्रों का वर्णन किया गया है। इसी के साथ करण, शकुन आदि का भी उल्लेख किया गया है।

9. देवेन्द्रस्तव– इस प्रकीर्णक में बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है अत: इसका नाम देवेन्द्रस्तव है। इसमें 307 गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में किसी श्रावक द्वारा देवेन्द्रों से पूजित ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। उसके पश्चात भवनपति आदि इन्द्रों का स्वरूप बताया गया है तथा सिद्धशिला की महिमा पूर्ण स्तुति की गई है।

10. मरणसमाधि– मरणसमाधि का अपरनाम मरणविभक्ति भी है। इसमें 663 गाथाएँ हैं। यह अन्य सभी प्रकीर्णकों में बड़ा है। यह प्रकीर्णक निम्न आठ ग्रन्थों के आधार पर रचा गया है– 1. मरणविभत्ति 2. मरणविशोधि 3. मरण समाधि 4. संलेखनाश्रुत 5. भक्तपरिज्ञा 6. आतुर प्रत्याख्यान 7. महाप्रत्याख्यान 8. आराधनापताका।

इसमें समाधिमरण के आलम्बनभूत चौदह द्वारों का प्रतिपादन हैं- 1. आलोचना 2. संलेखना 3. क्षमापना 4. काल 5. उत्सर्ग 6. उद्गास 7. संथारा 8. निसर्ग 9. वैराग्य 10. मोक्ष 11. ध्यान विशेष 12. लेश्या 13. सम्यक्त्व 14. पादपोपगमन।

आलोचना नि:शल्य होकर करनी चाहिए, यह कहते हुए आलोचना के दस दोष बताए हैं। इसमें संलेखना के द्विविध प्रकारों एवं उसकी प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है। समाधिमरण द्वारा निर्वाण पद प्राप्त करने वाली आत्माओं के दृष्टांत भी दिए गए हैं। इसी के साथ अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं पर प्रकाश डाला है।[138]

कुछ ग्रन्थों में मरणसमाधि और गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिना है अत: इन दोनों का सामान्य वर्णन निम्न है-

चन्द्रवेध्यक- चन्द्रवेध का अर्थ है- राधावेध। इसमें राधावेध के दृष्टांत द्वारा साधक को अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया गया है। जैसे- तैयार हुआ व्यक्ति अल्पमात्र भी प्रमाद कर ले तो वह राधावेध सिद्ध नहीं कर सकता, उसी प्रकार जीवन की अन्तिम वेला में किंचित मात्र भी प्रमाद करने वाला साधक सिद्धि पद का वरण नहीं कर सकता। अत: मोक्षार्थी को सदा अप्रमत्त रहना चाहिए। इसमें सामान्यतया निम्न सात विषयों पर विवेचन किया गया है- विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण, ज्ञानगुण, चरणगुण एवं मरणगुण। इसमें 175 गाथाएँ हैं।

वीरस्तव- इस प्रकीर्णक में भगवान महावीर की स्तुति होने से इसका नाम वीरस्तव रखा गया है। इसमें 43 गाथाएँ हैं और उनमें प्रभु महावीर के 26 नामों का अलग-अलग अन्वयार्थ दिया गया है। वे 26 नाम ये हैं- 1. अरूह 2. अरिहंत 3. अरहंत 4. देव 5. जिन 6. वीर 7. परम कारूणिक 8. सर्वज्ञ 9. सर्वदर्शी 10.पारंग 11. त्रिकालविद् 12. नाथ 13. वीतराग 14. केवली 15. त्रिभुवनगुरु 16. सर्व 17. त्रिभुवनवरिष्ट 18. भगवन् 19. तीर्थंकर 20. शक्रनमस्कृत 21. जिनेन्द्र 22. वर्धमान 23. हरि 24. हर 25. कमलासन और 26. बुद्ध।

इसमें अरिहंत के तीन, अरहंत के चार और भगवान के दो अन्वयार्थ किए गए हैं। शेष नामों के एक-एक अन्वयार्थ किए गए हैं।[139]

उक्त प्रकीर्णकों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकीर्णक हैं। उनकी विषयवस्तु तत्संबंधी सूत्रों से समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में आगमों को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त हैं। व्यक्ति अपना आत्म-कल्याण कैसे कर सके, इसके विभिन्न आयाम प्रतिपादित हैं। संक्षेप में यथार्थ ज्ञाता और यथार्थ वक्ता के वचन ही आगम हैं। इन आगम ग्रन्थों का विधि पूर्वक अध्ययन करने वाला साधक जन्म-मरण की परम्परा का उन्मूलन कर स्वयमेव यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जिनागमों में मात्र आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक के चार अध्ययन सूत्रत: और पांचवाँ केवल अर्थत: श्रावक पढ़ सकता है। इससे अधिक पढ़ने का अधिकार उसे नहीं है, ऐसा कई शास्त्रों में उल्लेख है। आराधना का हेतु होने से चउ:सरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा एवं मरणसमाधि ये चार प्रकीर्णक भी श्रावक-श्राविका वर्ग गुर्वाज्ञा से तीन-तीन आयंबिल करके पढ़ सकते हैं।

साध्वी वर्ग आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन एवं आचारांग– इन चार सूत्रों का योगोद्वहन करके अध्ययन कर सकती हैं। प्रकीर्णकों में उपरोक्त चारों भी पढ़ सकते हैं। पूज्य आर्यरक्षितसूरिजी के पश्चात साध्वी समुदाय को अधिक आगमों के अध्ययन आदि का निषेध किया गया है। तपागच्छ में उपरोक्त प्रणालिका जारी है।

प्राच्य संस्कृति, परम्परा एवं धार्मिक नियमोपनियमों की जानकारी का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है प्राचीन साहित्य। जैन परम्परा की अमूल्य श्रुत निधि आगम के नाम से जानी जाती है। प्रस्तुत अध्याय में जैन आगमों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी विषयवस्तु से अवगत करवाने का प्रयास किया है। इससे जैन श्रुत गंगा घर-घर तक पहुँच पाएगी।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 106*
2. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 11*
3. *आगमेत्ता आणवेज्जा। आचारांगसूत्र, 1/5/149*
4. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 338*
5. *भगवतीसूत्र, अभयदेव टीका, 5/3/192*

6. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।

रत्नाकरावतारिका, 4/1

7. उत्तराध्ययनसूत्र एक दार्शनिक अनुशीलन, पृ.2

8. आगमो णाम अत्तवयणं।

आवश्यकचूर्णि, भाग 1, पृ. 28

9. तव नियम नाण रूक्खं..... तओ पवयणट्ठा।

आवश्यक मलयगिरि टीका, गा. 89-90, पृ. 104

10. अत्थं भासति अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं।
सासणस्स हितट्ठाए, तयो सुत्तं पवत्तती ॥

आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 92

11. आ– अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्ति रुपेण मर्यादया वा यथावस्थित प्ररूपणया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन सः आगमः।

(क) नन्दीमलयगिरि टीका, पृ. 249

(ख) आवश्यकमलयगिरि टीका, पत्र-48

12. आगच्छत्याचार्य परम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः।

सिद्धसेनगणिकृत भाष्यानुसारी टीका, पृ. 87

उद्धृत– जैन आगम साहित्य मनन एवं मीमांसा, पृ. 5

13. सासिज्जइ जेण तयं, सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं, आगम सत्थं तु सुयनाणं ॥

विशेषावश्यकभाष्य, गा. 559

14. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। परीक्षामुख, 3/99

15. नियमसार, गा. 8

16. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य, मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥

रत्नकरण्डक श्रावकाचार, गा. 9

17. नन्दीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, सू. 76

18. स्थानांगसूत्र, सू. 150

19. सुयसुत्तं ग्रन्थ सिद्धंत, सासणे आणवयण उवएसे।
पण्णवण आगमे या, एगट्ठा पज्जवासुत्ते॥
(क) अनुयोगद्वार, संपा. मधुकरमुनि, सू. 51
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गा. 894
20. श्रुतं मतिपूर्वंद्व्यनेक द्वादश भेदम्। तत्त्वार्थभाष्य, 1/20
21. पवयणं पुण दुवालसंगे गणि पिडगे।
भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 20/8/15
22. आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो।
धवला टीका 1/1.1.1/20/7, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 1, पृ. 227
23. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–सुत्तागमे अत्थागमे तदुभयागमे।
अणुओगदाराइं, सू. 550
24. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे।
अणुओगदाराइं, सू. 551
25. वही, सू. 547-549
26. उपासकदशांग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 9
27. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 1-16
28. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 42-43
29. जत्तियमेत्ता वारा ऊ मुंचई-बंधई व जति वारा जति अक्खराणि लिहति व तति लहुगा जं च अवज्जे। (क) बृहत्कल्पभाष्य, गा. 3831
(ख) निशीथभाष्य, गा. 4008
30. उपासकदशांग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 10
31. नन्दीचूर्णि, पृ. 8
32. जयधवला, पृ. 83
33. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 31
34. आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 16
35. उपासकदशा, मुनि आत्माराम, प्रस्तावना, पृ. 9
36. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 187-188
37. तित्थोगाली (पइण्णय सुत्ताइं भा.1), गा. 716-770
38. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. 1, पृ. 130
39. नन्दीचूर्णि, पृ. 9

40. प्रभावकचरित्र, पृ. 54
41. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, डॉ. हीरालाल जैन, पृ. 55
42. जैन दर्शन का आदिकाल, पं. दलसुख मालवणिया, पृ. 7
43. स्थानांगसूत्र, प्रस्तावना पृ. 27
44. जिनवचनं च दुष्षमालकालवशात् उच्छिन्नप्रायमितिमत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन स्कन्दिलाचार्य प्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ वृत्ति, प्रकाश 3, पृ. 207
45. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 38
46. दसवेआलियं, भूमिका पृ. 27
47. प्रज्ञापनासूत्र, संपा. मधुरकरमुनि, पद-1, सू. 107
48. भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 1-1-1
49. बंभीए दाहिणहत्थेण लेहो दाइतो। आवश्यकचूर्णि, पृ. 156
50. अनुयोगद्वार, सू. 31
51. कालं पुण पडुच्च, चरणकरणट्ठा अवोच्छित्ति।
निमित्तं च गेण्हमाणस्स, पोत्थए संजमो भइ ॥
दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पत्र 21
52. चउदस पुव्वा पण्णत्ता तं जहा।
(क) समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 14/93
दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ता तं जहा।
(ख) समवायांगसूत्र, सू. 511
53. नन्दीचूर्णि, 75
54. सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश।
(क) स्थानांगवृत्ति, 10/1
प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियामाणत्वात्।
(ख) समवायांगवृत्ति, पत्र 101
55. नन्दीसूत्र, सू. 93
56. वही, सू. 106
57. दुवालसंगे गणिपिडगे। समवायांगसूत्र, सू. 511
58. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 10-11
59. अहवा तं समवाओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा– अंग पविट्ठं अंगबाहिरं वा।
नन्दीसूत्र, सू. 79

60. गणहर थेरकयं वा, आएसा मुक्क-वागरणओ वा।
धुव-चल विसेसओ, वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥
विशेषावश्यकभाष्य, गा. 550
61. (क) आवश्यक मलयगिरि टीका, पत्र 47-48
(ख) तदनियतमतस्तदनङ्ग प्रविष्ट मुच्यते।
नन्दी मलयगिरि टीका, पृ. 203
62. वक्तृविशेषाद् द्वैविध्यम्। तत्त्वार्थभाष्य 1/20
63. आरातीयाचार्यकृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमंग-बाह्यम्। तत्त्वार्थ राजवार्तिक 1/20
64. (क) नन्दीसूत्र, सूत्र 82
(ख) योगनन्दी, मलयगिरि प्रत पृ. 254
65. तत्त्वार्थसूत्र –श्रुतसागरीयवृत्ति, 1/20 पृ. 65-70
66. (क) आवश्यक निर्युक्ति, गा. 777
(ख) आवश्यकभाष्य, गा. 124 की टीका, पृ. 273 उद्धृत आगमसुत्ताणि, भा. 24
67. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 2281
68. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 763 (निर्युक्ति संग्रह)
69. आवश्यक हरिभद्रीय टीका, पृ. 308
70. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 2/43-46
71. ततश्चतुर्विधः कायोऽनुयोगोऽतः परं मया ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्य ग्रन्थच्छेद कृतागमः। प्रभावकचरित्र, द्वितीय आर्यरक्षित प्रबन्ध
72. तत्त्वार्थभाष्य, 1/20, पृ. 43
73. सुबोधा सामाचारी, पृ. 31-34
74. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 168
75. आचारदिनकर, पृ. 103
76. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 22
77. ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिट्रेचर ऑफ दी जैन्स, पृ. 44-45
78. जैन दर्शन, पृ. 89
79. सामाचारी शतक, आगम स्थापना अधिकार
80. नन्दीसूत्र, सू. 81
81. आवश्यक निर्युक्ति, गा. 777

82. आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 21-22
83. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गा. 16-18
84. निशीथ भाष्य, गा. 6500
85. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गा. 1
86. पोराणमद्धमागह भासानिययं हवइ सुत्तं।
निशीथचूर्णि, उद्धृत– आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 33
87. मगद्धविसय भासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारस देसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं। निशीथचूर्णि, वही, पृ. 34
88. भगवती सूत्र, 5/4-24
89. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्म माइक्खइ। समवायांगसूत्र, पृ. 60
90. औपपातिक सूत्र, संपा. मधुकरमुनि, सू. 56
91. भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए, भासेंति। प्रज्ञापना सूत्र 1/107
92. सर्वमपि हि प्रवचनमर्द्धमागधिक भाषात्मकम् अर्धमागधिक भाषया तीर्थकृतां देशना प्रवृतेः। नन्दी मलयगिरिवृत्ति, पृ. 83
93. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 92
94. नन्दी मलयगिरि टीका, पृ. 203
95. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 7
96. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति, 1/20
97. उत्तराध्ययनसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन, पृ. 5
98. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 31-32
99. नन्दीमलयगिरि टीका, पत्र 203
100. आचारांगनिर्युक्ति, निर्युक्तिसंग्रह, गा. 16
101. (क) नन्दी (नवसुत्ताणि), सू. 81
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. 1, पृ. 29
102. सूतगडं सुत्तकडं सूयगडं चेव गोण्णाइं।
सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, निर्युक्तिसंग्रह, गा. 2
103. नन्दीसूत्र (नवसुत्ताणि), सू. 82
104. (क) तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवादयः पदार्था अस्मिन्निति स्थानम्।
(ख) जीवाः स्थाप्यन्ते यथाऽवस्थित स्वरूप प्ररूपणया व्यवस्थाप्यन्ते।
नन्दीसूत्र, पृ. 226

(ग) एकाद्येकोत्तरिकया वृद्धया दश स्थानकं यावद् विवर्द्धितानां।
भावानां प्ररूपणा आख्यायते यस्मिन् तद् स्थानांगम्॥
नन्दी टीका, पृ. 227

105. उत्तराध्ययनसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन, पृ.14
106. (क) समवायांगसूत्र, सू. 527, पृ. 179
(ख) नन्दीसूत्र, सू. 87
107. ज्ञातान्युदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा अथवा ज्ञातानि ज्ञाता ध्यानानि प्रथम श्रुतस्कन्धे धर्मकथा द्वितीये, यासु ग्रन्थ पद्धतिषु वा।
अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 4, पृ. 2009
108. उत्तराध्ययनसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन, पृ. 19
109. नन्दीसूत्र, सू. 92
110. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 551
111. उपपतनमुपपातो देवनारकजन्मसिद्धिगमनं तदधिकृतमध्ययनमौपपातिकमिदं चौपांगं वर्तते। अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 3, पृ. 100
112. जैन साहित्य की बृहद् इतिहास, भा-2, पृ. 27
113. प्रज्ञापना, गा. 3 -उवंग सुत्ताणि खं. 2, पृ. 3
114. प्रज्ञापना टीका, पत्र 1 उद्धृत –जैन आगम साहित्यः मनन और मीमांसा पृ. 228
115. उवंगसुत्ताणि, खण्ड 2, भूमिका पृ. 30
116. (क) गुरु के द्वारा शिष्यों को देश और काल के अनुसार जो ग्रन्थ सारणियाँ दी जाती हैं, उन्हें प्राभृत कहा जाता है। अभिधान राजेन्द्र कोश, भा. 5, पृ. 914
(ख) सम्पूर्ण शास्त्र के भिन्न-भिन्न भाग प्राभृत कहलाते हैं।
जैन प्रवचन किरणावलि, पृ. 368
117. जैनागम दिग्दर्शन, मुनि नगराज, पृ. 99-102
118. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 270
119. वही, पृ. 22
120. (क) नन्दीसूत्र, 78
(ख) पक्खिसूत्र, स्वाध्याय सौम्य सौरभ, पृ. 192
121. उत्तराध्ययननिर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह) गा. 3

122. नन्दी नवसुत्तणि, सू. 77
123. पक्खिसूत्र, स्वाध्याय सौम्य सौरभ, पृ. 191
124. उत्तराध्ययनसूत्र एक दार्शनिक अनुशीलन, पृ. 35
125. नन्दीसूत्र (नवसुत्ताणि) सू. 78
126. स्थानांग-अंगसुत्ताणि, खं. 1, 10/115
127. (क) छेदसूत्र एक परिशीलन, पृ. 32
(ख) आगम साहित्य एक अनुशीलन, पृ. 11
128. उत्तराध्ययन एक दार्शनिक अनुशीलन, साध्वी विनीतप्रज्ञा, पृ. 39
129. पुव्वभणितो अभणिओ य समासतो चूलाए अर्थोभण्यतेत्यर्थः।
नन्दीचूर्णि, पृ. 59
130. णंदणं णंदी, णंदंति वा अणयेति णंदी, णंदति वा नंदी पमोदो हरिसो कंदप्पो इत्यर्थः। नन्दीचूर्णि, पृ. 1
131. अरहंत मग्ग उपदिट्ठे जं सुतमणुसरित्ता किंचि णिज्जूहंते ते सव्वे पइण्णगा, अहवा सुत्तमणुसरतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्म देसणादिसु (गंथपद्धत्तिणा) भासंतो तं सव्वं पइण्णगं। नन्दीचूर्णि, पृ. 60
132. चतुःशरण, गा. 2-7, पृ. 34-35
133. आउर पच्चक्खाण, (पइण्णय सूत्ताइं) 211.1 भा.1, गा. 36
134. भत्तपरिन्ना, गा. 9
135. तंदुलाना वर्षशतायुष्क प्रतिदिन भोग्यानां संख्याविचारोपलक्षितं तंदुलवैचारिक
अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 4, पृ. 2168
136. मेरूव्व पव्वयाणं सयं भूरमणुव्वचेव उदहीणं।
चंदो इव ताराणं, तह संथारो सुविहियाणं॥
संस्तारक प्रकीर्णक, गा. 30
137. महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य।
साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धिअं॥
गच्छाचार प्रकीर्णक, गा. 135
138. मरणविभक्ति, गा. 572-638
139. उत्तराध्ययनसूत्र एक दार्शनिक अनुशीलन, पृ. 51

●

अध्याय-2

अनध्याय विधि : एक आगमिक चिन्तन

जैन श्रुत साहित्य में शास्त्रों के अध्ययन (जिनवाणी को आत्मस्थ करने) के लिए जो काल निर्धारित किया गया है उस काल में शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। इसके अतिरिक्त अन्य समय में शास्त्र अध्ययन करना अनध्याय कहलाता है। अत: आगम ग्रन्थों का अध्ययन योग्य काल में ही करना चाहिए।

जैनागमों का अध्ययन करने के लिए त्रिकरण एवं त्रियोग की शुद्धि, चित्त की एकाग्रता और विशिष्ट तप की साधना का होना भी आवश्यक है। इसे जैन शब्दावली में 'योगोद्वहन' कहा जाता है। योगवहन क्रिया को सम्पन्न करते समय अनध्याय सम्बन्धी दिवसों, तिथियों, देवकृत उपद्रवों एवं प्राकृतिक बाधाओं का विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि अनध्याय काल में अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन एवं अनधीत सूत्रों का ग्रहण करने पर महादोष लगता है अत: योगोद्वहन अधिकार में अनध्याय-विधि की चर्चा करना परम अनिवार्य है।

अनध्याय शब्द का प्रचलित अर्थ

स्वाध्याय शब्द का प्रतिपक्षी अनध्याय है। अत: अनध्याय का शाब्दिक अर्थ समझने के लिए स्वाध्याय शब्द का सम्यक अर्थ समझना आवश्यक है। सामान्य व्युत्पत्ति के अनुसार 'सुष्ठु अध्याय: स्वाध्याय:' अर्थात सम्यक प्रकार से अध्ययन करना या वाचन करना स्वाध्याय है। इसका फलित यह है कि जिस काल या जिन परिस्थितियों में शास्त्राध्ययन या शास्त्रवाचन का निषेध किया गया है उनमें अध्ययन करना, अनध्याय काल है अथवा स्वाध्याय का प्रतिषिद्ध काल अनध्याय काल है।

अनध्याय के प्रकार

जैनागमों के तृतीय अंग स्थानांगसूत्र में अनध्याय (स्वाध्याय न करने योग्य काल) के बत्तीस प्रकार बतलाये गये हैं। आगमिक व्याख्यामूलक

आवश्यकनिर्युक्ति आदि में स्वाध्याय के दो, तीन, पाँच आदि प्रकार कहे गये हैं। परवर्ती प्रवचनसारोद्धार आदि में यह उल्लेख पूर्ववर्ती ग्रन्थों के अनुसार ही किया गया है।

स्थानांगसूत्र में आकाश सम्बन्धी दस, औदारिक सम्बन्धी दस, महामहोत्सव सम्बन्धी चार, प्रतिपदा सम्बन्धी चार और संध्या सम्बन्धी चार ऐसे अस्वाध्याय के कुल बत्तीस प्रकार कहे गये हैं। उनका सामान्य वर्णन इस प्रकार है[1]–

आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय

आकाश अर्थात प्रकृति में होने वाले परिवर्तन सम्बन्धी अस्वाध्याय। इसके दस प्रकार निम्नोक्त हैं [2]–

1. उल्कापात– उल्का-तारा, पात–गिरना अर्थात बिजली गिरना, तारे का टूटना या स्थानान्तरित होना उल्कापात कहलाता है। तारा विमान के तिर्यक् गमन करने पर या देव के विकुर्वणा आदि करने पर आकाश में तारा टूटने जैसा दृश्य होता है। यह कभी लम्बी रेखायुक्त गिरते हुए दिखता है तथा कभी प्रकाशयुक्त गिरते हुए दिखता है। सामान्यत: आकाश में तारे टूटने जैसा क्रम प्राय: सदा बना रहता है, अत: जब वह विशिष्ट प्रकाश या रेखा युक्त हो तो अस्वाध्याय समझना चाहिए।

उल्कापात होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।

2. दिग्दाह– दिग–दिशा, दाह– जलना अर्थात एक या अनेक दिशाओं में कोई महानगर या जंगल जल रहा हो, ऐसी अवस्था दिखाई देना दिग्दाह है। यह भूमि से कुछ ऊपर दिखाई देता है। दिग्दाह होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय होता है।

3. गर्जन– बादलों का जोर से ध्वनि करना गर्जन कहलाता है। गर्जन होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है, किन्तु आर्द्रानक्षत्र से स्वातिनक्षत्र तक के वर्षा-नक्षत्रों में गर्जन होने पर अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है।

4. विद्युत– बिजली का चमकना विद्युत कहा जाता है। बिजली चमकने या तड़तड़ाने पर एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है, किन्तु उपर्युक्त वर्षा के नक्षत्रों में इसका अस्वाध्याय काल नहीं होता है।

5. निर्घात– निर्घात का अर्थ है– दारूण या घोर। आकाश में बिना बादल

के व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होना, बिजली का कड़कना अथवा बिजली का गिरना निर्घात कहलाता है। निर्घात होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

6. यूपक– शुक्ल पक्ष की एकम, बीज और तीज के दिन सूर्यास्त होने एवं चन्द्र अस्त होने की मिश्र अवस्था का काल यूपक कहलाता है। इन दिनों रात्रि के प्रथम प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।

7. यक्षादीप्त– यक्षाकार रूप में प्रकाश होना अथवा आकाश में प्रकाशमान पुद्गलों की अनेक आकृतियों का दृष्टिगोचर होना यक्षादीप्त कहलाता है। किन्हीं मतानुसार आकाश में जब तक यक्षादीप्त दीखता रहे तब तक अस्वाध्याय काल रहता है तथा किन्हीं के अभिप्राय से एक प्रहर तक अस्वाध्याय होता है।

8. धूमिका– अंधकारयुक्त धुंअर का गिरना धूमिका कहलाता है। कार्तिक से लेकर माघ तक चार महीनों का समय मेघों का गर्भमास कहलाता है। इन दिनों धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धुंध पड़ती है। यह धूंध जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय काल रहता है। इस समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

9. महिका– अंधकार रहित सामान्य धुंअर का गिरना महिका कहलाता है। शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध गिरती है। पर्वतीय क्षेत्रों में बादलों के गमनागमन करते रहने के समय भी ऐसा दृश्य होता है, किन्तु उनका स्वभाव धुंअर से भिन्न होता है अत: उनका अस्वाध्याय नहीं होता है। महिका (धूंअर) जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय काल रहता है।

10. रज-उद्घात– रज-धूल, उद्घात- आच्छादित होकर गिरना। आकाश में पवन वेग के कारण धूल का आच्छादित होना और उन रजकणों का गिरना रज-उद्घात कहलाता है।

आकाश में जब तक धूल छायी रहे तब तक अस्वाध्याय काल रहता है। निशीथभाष्य में बताया गया है कि तीन दिन तक निरन्तर सचित्त रज गिरती रहें तो उसके बाद स्वाध्याय के अतिरिक्त प्रतिलेखन आदि किसी प्रकार की आवश्यक क्रियाएँ भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सचित्त रज सर्वत्र व्याप्त हो जाती है।[3]

औदारिक (मनुष्य–तिर्यञ्च) सम्बन्धी अस्वाध्याय

औदारिक, यह जैन पारिभाषिक शब्द है। मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीवों का औदारिक शरीर होता है। 'उदारस्य भाव: औदार:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

औदारिक शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल से उदार – बड़े पुद्गल वाला होने से औदारिक कहलाता है। औदारिक शरीर को धारण करने वाले मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीवों से सम्बन्धित दस प्रकार का अस्वाध्याय होता है। वह निम्न प्रकार है[4]–

11-12-13. हड्डी, मांस और रुधिर– तिर्यञ्च की हड्डी या मांस 60 हाथ और मनुष्य की हड्डी या मांस 100 हाथ के भीतर दिखाई दें तो अस्वाध्याय होता है। हड्डियाँ जली हुई या धुली हुई हो तो उसका अस्वाध्याय नहीं होता है। नियत स्थान के भीतर हड्डी-मांस गिरा हुआ हो तो 12 वर्ष तक अस्वाध्याय रहता है। यह बात दाँत के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। **द्रव्य से** तिर्यञ्च जीवों के रुधिर आदि द्रव्य 60 हाथ के भीतर हो तो अस्वाध्यायिक माना गया है। **क्षेत्र से** 60 हाथ के बाहर हो तो स्वाध्याय कर सकते हैं अथवा क्षेत्र से तीन छोटी गलियाँ या एक राजमार्ग आड़ा हो तो स्वाध्याय कर सकते हैं। यह नगर की विधि है।

काल से तीन पौरुषी तक अस्वाध्याय रहता है अथवा काल से आघात स्थान (हिंसा की गई हो वहाँ) पर 8 प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है दूसरे दिन सूर्योदय से शुद्ध होता है।

भाव से आगम सूत्रों का अध्ययन नहीं करना।

इसी प्रकार मांस, अस्थि आदि धोने की या पकाने की क्रिया वसति के 60 हाथ के अंदर या बाहर होने पर चार भांगे बनते हैं। उनमें से तीन भांगों में 60 हाथ + 3 प्रहर दोनों का पालन करना चाहिए।

चौथा भांगा– वसति के 60 हाथ के बाहर धोया-पकाया हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। वसति शुद्ध कहलाती है। मनुष्य का रुधिर दीखने पर एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है।[5]

14. अशुचि– मनुष्य का शारीरिक मल अशुचि कहलाता है। जब तक मनुष्य का मल दिखता रहे या उसकी गंध आती रहे तब तक अस्वाध्याय रहता है। तिर्यंच के मल की दुर्गन्ध आती हो तो अस्वाध्याय होता है, अन्यथा नहीं। जहाँ मनुष्य के मूत्र की दुर्गन्ध आती हो ऐसे मूत्रालय आदि के निकट अस्वाध्याय होता है। जहाँ पर नगर की नालियाँ–गटर आदि की दुर्गन्ध आती हो वहाँ भी अस्वाध्याय होता है। अन्य कोई भी मनुष्य या तिर्यञ्च के शारीरिक पुद्गलों की दुर्गन्ध आती हो तो उसका भी अस्वाध्याय होता है।

15. श्मशान– श्मशान भूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना जाता है।

16. चन्द्रग्रहण– चन्द्र ग्रहण होने पर जघन्य से आठ प्रहर, उत्कृष्ट से बारह प्रहर और मध्यमत: आठ से बारह प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। यह अस्वाध्याय काल चन्द्र ग्रहण के प्रारम्भिक काल से ही समझना चाहिए अथवा जिस दिन चन्द्रग्रहण हो उस दिन अहोरात्रि तक जानना चाहिए।

17. सूर्यग्रहण– सूर्यग्रहण होने पर जघन्य से बारह और उत्कृष्ट से सोलह प्रहर का अस्वाध्याय काल होता है।

18. पतन– किसी नगर के राजा, मन्त्री आदि प्रमुख व्यक्ति की मृत्यु होने पर अस्वाध्याय होता है। राजा आदि मान्य पुरुष की मृत्यु होने पर जब तक उस नगरी में शोक का वातावरण बना रहे और नया राजा स्थापित न हो तब तक अस्वाध्याय काल मानना चाहिए तथा उसके पूरे राज्य में भी एक अहोरात्र का अस्वाध्याय काल मानना चाहिए।

19. राजा व्युद्ग्रह– जहाँ राजाओं के परस्पर में युद्ध चल रहा हो उस स्थल के निकट एवं उस देश की राजधानी में भी अस्वाध्याय काल होता है। युद्ध के समाप्त होने के पश्चात भी एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल रहता है।

20. औदारिक कलेवर– उपाश्रय में मृत मनुष्य का शरीर पड़ा हो तो जब तक कलेवर पड़ा रहे तब तक क्षेत्र से 100 हाथ के भीतर अस्वाध्याय काल होता है। तिर्यंच का मृत कलेवर पड़ा हो तो जब तक कलेवर पड़ा रहे तब तक 60 हाथ के भीतर अस्वाध्याय काल रहता है। परम्परागत मान्यता यह है कि औदारिक कलेवर जब तक रहे तब तक उस स्थान (उपाश्रय) की सीमा में अस्वाध्याय काल रहता है। मृत या टूटे हुए अंडे का तीन प्रहर का अस्वाध्याय रहता है।

महोत्सव सम्बन्धी अस्वाध्याय

लौकिक अवधारणा के अनुसार आषाढ़-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा एवं चैत्र-पूर्णिमा–ये चार दिन महोत्सव रूप माने गये हैं। निशीथसूत्र में इन तिथियों को क्रमशः इन्द्र महोत्सव, स्कन्द महोत्सव, यक्ष महोत्सव और भूत महोत्सव के रूप में माना जाता है। जैनाचार्यों ने इन दिनों में भी स्वाध्याय करने का निषेध किया है।[6]

महाप्रतिपदा (तिथि) सम्बन्धी अस्वाध्याय

1. आषाढ़ प्रतिपदा– आषाढ़ी पूर्णिमा के पश्चात आने वाली श्रावण मास की प्रतिपदा अर्थात एकम।

2. इन्द्रमह प्रतिपदा– आसोज मास की पूर्णिमा के पश्चात आने वाली कार्तिक की प्रतिपदा।

3. कार्तिक प्रतिपदा– कार्तिकी पूर्णिमा के पश्चात आने वाली मिगसर की प्रतिपदा।

4. सुग्रीष्म प्रतिपदा– चैत्री पूर्णिमा के पश्चात आने वाली वैशाख की प्रतिपदा।

सामान्यतया किसी महोत्सव के पश्चात आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहा जाता है। इन तिथियों में अस्वाध्याय काल रहता है अत: साधु-साध्वियों को इन दिनों में आगम सूत्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।[7]

सन्ध्या (काल) सम्बन्धी अस्वाध्याय

प्रात:काल, संन्ध्याकाल, मध्याह्न और अर्धरात्रि– इन चार संध्याओं में अस्वाध्याय काल रहता है अत: इस समय स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है।[8]

1. पूर्व संध्या– सूर्योदय के समय पूर्व दिशा में रहने वाली लालिमा 'पूर्व संध्या' कही जाती है। यह रात्रि और दिवस का संधिकाल है। इसमें सूर्योदय के पूर्व आकाश में अधिक समय तक लालिमा रहती है और सूर्योदय के बाद भी अल्प समय तक रहती हैं अत: सूर्योदय से पूर्व 48 मिनट और सूर्योदय के बाद 48 मिनट अथवा कुछ आचार्यों के अनुसार सूर्योदय के पूर्व और पश्चात 24-24 मिनट अस्वाध्याय काल रहता है।

2. पश्चिम संध्या– पूर्व सन्ध्या के समान ही पश्चिम संध्या सूर्यास्त के समय होती है। इसमें सूर्यास्त के पूर्व लाल दिशा कम समय तक रहती है और सूर्यास्त के बाद लाल दिशा अधिक समय तक रहती है। इस सम्पूर्ण लाल दिशा के काल को पश्चिम संध्या कहा जाता है। इस समय सूर्यास्त पूर्व 24 मिनट और सूर्यास्त पश्चात 24 मिनट तक अस्वाध्याय काल रहता है। इन संध्याओं का काल दिशा लाल रहे जब तक रहता है अत: उपरोक्त समयावधि से हीनाधिक भी हो सकता है।

3. अपराह्न या मध्याह्न संधिकाल– जितने मुहूर्त्त का दिन हो उसके बीच का एक मुहूर्त्त समय मध्याह्न काल कहा जाता है। इसे अपराह्न भी कहते हैं। यह समय लगभग बारह बजे से एक बजे के बीच में आता है। दिन के परिमाण अनुसार इससे कुछ पहले या पीछे भी हो सकता है।

4. अर्धरात्रि– रात्रि का मध्यकाल। इसे अपराह्न के समान समझना चाहिए। परम्परा से स्थूल रूप में दिन और रात्रि के बारह बजे से एक बजे तक का समय माना जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से दिन या रात्रि के मध्य भाग का एक मुहूर्त्त जितना समय होना चाहिए। इन सभी निषिद्ध स्थानों को मिलाने पर अस्वाध्याय के कुल 10 + 10 + 4 + 4 + 4 = 32 प्रकार होते हैं।

आगमिक व्याख्या साहित्य के अनुसार अस्वाध्याय के अन्य प्रकार (स्थान) निम्नानुसार हैं–

आवश्यकनिर्युक्ति में अस्वाध्याय के मुख्यत: दो प्रकार प्रतिपादित किये हैं– 1. आत्मसमुत्थ– स्वाध्याय कर्त्ता के शरीर से सम्बन्धित रूधिर, मांस आदि। 2. परसमुत्थ– स्वाध्याय कर्त्ता से भिन्न व्यक्ति से सम्बन्धित रूधिर, मांस आदि।[9]

परसमुत्थ अस्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है– 1. संयमघाती 2. औत्पातिक 3. देवप्रयुक्त 4. व्युद्ग्रह और 5. शारीरिक।[10]

1. संयमघाती– वह अस्वाध्याय काल जो संयम (चारित्र धर्म) का घात करता है, संयमघाती कहलाता है। संयम का घात करने वाले अस्वाध्यायिक काल तीन प्रकार के हैं– महिका, सचित्तरज एवं वर्षा।

(i) **महिका–** कुहरा। कार्तिक से माघ मास तक का काल। इसमें धुंअर पड़ती है, इससे समूचा वातावरण अप्कायमय हो जाता है अत: इस समय अस्वाध्याय काल रहता है।

(ii) **सचित्तरज–** हवा के वेग से उड़ने वाली चिकनी मिट्टी, जो हल्के लालवर्ण की होती है, वह व्यवहार सचित्त है। इसके निरन्तर गिरते रहने पर वह मिट्टी तीन दिन के पश्चात पृथ्वीकायमय अर्थात सचित्त बन जाती है अत: इस समय अस्वाध्याय काल होता है।

(iii) **वर्षा–** आकाश से पानी का गिरना वर्षा कहलाता है। वर्षा तीन तरह की होती है– बुद्बुद, बुद्बुद्वर्ज और जलस्पर्शिका।

बुद्बुद्– जिस पानी में बुलबुले उठते हों, वह बुद्बुद् वर्षा कहलाती है। प्रचलित परम्परा के अनुसार इस वर्षा में आठ प्रहर के पश्चात तथा अन्य मतानुसार तीन दिन के पश्चात समूचा वातावरण अप्कायमय हो जाता है अत: सूक्ष्म जीवों के रक्षणार्थ इस समय अस्वाध्याय काल रहता है।

बुद्बुद्वर्ज– वह वर्षा जिस पानी में बुलबुले न उठते हों, बुद्बुद्वर्ज कहलाती है। इस वर्षा में पाँच दिन पश्चात समूचा वातावरण अप्कायमय बन जाता है अत: इस काल में भी स्वाध्याय करने का निषेध है।

जलस्पर्शिका– वह वर्षा जिसमें बूंदाबांदी होती हो अर्थात भूमि पर जल का स्पर्श मात्र होता हो जलस्पर्शिका कहलाती है। इस वर्षा में सात दिन के पश्चात समूचा वातावरण अप्कायमय हो जाता है।[11]

संयमघाती अस्वाध्याय काल का परिहार द्रव्य आदि की अपेक्षा इस प्रकार करना चाहिए–

1. द्रव्यत:– धूंवर, सचित्तरज और वर्षा ये तीनों अस्वाध्याय के कारण हैं।

2. क्षेत्रत:– धूंवर आदि तीनों जितने क्षेत्र में गिरें उतने क्षेत्र में अस्वाध्याय रहता है अर्थात उस क्षेत्र में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

3. कालत:– धूंवर आदि जितने समय तक गिरें उतने समय तक अस्वाध्याय काल रहता है।

4. भावत:– धूंवर, सचित्तरज और वर्षा के गिरते समय गमनागमन, प्रतिलेखन, प्रवचन आदि किसी तरह की आवश्यक क्रियाएँ भी नहीं करनी चाहिए। श्वासोश्वास लिए बिना एवं पलक झपकाये बिना जीवन चल नहीं सकता अत: इन क्रियाओं की छूट है। शेष सभी निष्प्रयोजन क्रियाएँ प्रतिषिद्ध हैं। ग्लान आदि की सेवा का कार्य हो तो यतना पूर्वक हाथ, आँख या अंगुली के इशारे का प्रयोग कर सकते हैं।[12] संभाषण की जरूरत होने पर मुखवस्त्रिका के उपयोग पूर्वक बोलना चाहिए।

2. औत्पातिक– प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक उत्पात के निमित्त से होने वाला अस्वाध्याय काल औत्पातिक कहा जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति के मतानुसार इस अस्वाध्याय काल के छह स्थान हैं–

1. **पांशुवृष्टि–** धुएं जैसे वर्ण वाली अचित्तरज पांशु कहलाती है, ऐसे अचित्त रज की वर्षा होना पांशुवृष्टि है। यह वर्षा जब तक होती रहे तथा दिशाएँ

धूलि धूसरित दिखाई देती रहें तब तक सूत्र सम्बन्धी अस्वाध्याय काल रहता है। इस वर्षा में गमनागमन की क्रिया हो सकती है।

2. **मांसवृष्टि–** मांस के टुकड़ों की वर्षा होना मांस वृष्टि है। इस वर्षा के होने पर एक अहोरात्र का अस्वाध्याय होता है। आज कल यह वर्षा प्राय: नहींवत होती है।

3. **रूधिरवृष्टि–** रक्त बिन्दुओं की तरह लाल रंग की वर्षा होना रूधिरवृष्टि है। इस वर्षा में एक अहोरात्र का अस्वाध्याय होता है।

4. **केशवृष्टि–** केश की वर्षा होना केशवृष्टि है। यह वर्षा जहाँ तक हो वहाँ तक अस्वाध्याय रहता है।

5. **शिलावृष्टि–** ओला गिरना, पत्थरों का गिरना शिलावृष्टि है। इस वर्षा में जब तक ओले आदि गिरते रहें तब तक अस्वाध्याय रहता है।

6. **रजोद्घात–** हवा के कारण दिशाओं का धूलि धूसरित हो जाना तथा चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देना रजोद्घात कहलाता है। रज–उद्घात में जब तक धूल गिरती है तब तक अस्वाध्याय रहता है।[13]

3. देवप्रयुक्त– देवकृत उत्पात या उनके निमित्त से होने वाला अस्वाध्याय काल देव प्रयुक्त कहलाता है। आवश्यक निर्युक्ति में देवकृत अस्वाध्याय के निम्न सात प्रकार कहे गये हैं– गान्धर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत, उल्का, गर्जित, यूपक और यक्षादीप्त।

1. **गान्धर्वनगर–** चक्रवर्ती आदि के नगर में उपद्रव की सूचना देने वाला संध्याकाल में नगर के ऊपर नगर जैसा ही दूसरा नगर दिखाई देना, गान्धर्वनगर है। संध्याकाल में दिखाई देने वाला दूसरा नगर गन्धर्व नामक देव द्वारा निर्मित किया जाता है अत: इसका नाम गान्धर्वनगर है और इसीलिए यह देवकृत अस्वाध्याय काल माना गया है। गान्धर्व नगर में एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

2. **दिग्दाह–** दिशा विशेष में जलता हुआ प्रकाश दिखाई देना दिग्दाह कहलाता है। दिग्दाह में एक प्रहर का अस्वाध्याय रहता है।

3. **विद्युत–** बिजली का चमकना विद्युत है। बिजली चमकने पर एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

4. **उल्का–** आकाश से रेखामय अथवा प्रकाश युक्त बिजली का गिरना अथवा पुच्छल तारा का गिरना उल्का कहा जाता है। तारा गिरने पर एक प्रहर का अस्वाध्याय काल होता है।

5. **गर्जन–** बादलों का गर्जना। मेघगर्जना होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय रहता है।

6. **यूपक–** प्रत्येक शुक्ल पक्ष की दूज, तीज एवं चौथ–इन तीन दिनों का संध्याकाल यूपक कहलाता है। इस समय चन्द्र का प्रकाश संध्या पर पड़ने से संध्या का विभाग प्रतीत नहीं होता है अत: इन तीन दिनों में प्रादोषिक काल ग्रहण और प्रादोषिकी सूत्रपौरूषी नहीं होती, क्योंकि संध्या काल का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। संध्या के विभाग को ढकने वाला दूज, तीज एवं चौथ का चांद यूपक कहलाता है। यूपक में एक प्रहर का अस्वाध्याय रहता है।

कई आचार्यों का अभिमत है कि शुक्ल पक्ष की इन प्रथम तीन तिथियों में सूर्य के उदय और अस्त के समय ताम्रवर्ण जैसे लाल और कृष्ण श्याम अमोघ मोघा (आकाश में प्रलम्ब श्वेत श्रेणियाँ) होते हैं, उन्हें यूपक कहा जाता है। कुछ आचार्य से अस्वाध्यायिक नहीं मानते हैं। जो मानते हैं उनके अनुसार यूपक में तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।

7. **यक्षादीप्त–** आकाश में कभी-कभी दिखाई देने वाला विद्युत जैसा प्रकाश अथवा किसी दिशा विशेष में थोड़ी-थोड़ी देर में बिजली चमकने जैसा प्रकाश दिखाई देना यक्षादीप्त कहलाता है। यक्षादीप्त में एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

पूर्वोक्त अस्वाध्यायिकों में गांधर्वनगर और यक्षादीप्त ये दोनों निश्चित रूप से देवकृत होते हैं शेष दिग्दाह आदि देवकृत एवं स्वाभाविक दोनों तरह के होते हैं। स्वाभाविक में स्वाध्याय का निषेध नहीं है, किन्तु देवकृत में स्वाध्याय करना निषिद्ध है। तदुपरान्त जहाँ कारण का स्पष्ट ज्ञान न हो कि दिग्दाह आदि देवकृत हैं या स्वाभाविक? वहाँ स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। लगभग उक्त स्थितियों के कारणों का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है अत: उस समय स्वाध्याय का परिहार करना चाहिए।[14]

पूर्वोक्त अस्वाध्यायिक के अतिरिक्त अन्य भी देवकृत अस्वाध्याय काल हैं जैसे–

चन्द्रग्रहण– राहू के विमान से चन्द्र के विमान का उपराग (ढंकना) होना चन्द्रग्रहण कहलाता है। चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य से आठ प्रहर एवं उत्कृष्ट से बारह प्रहर का अस्वाध्याय होता है। वह इस प्रकार समझने योग्य है–

• यदि पूर्णिमा की रात्रि के अन्त में चन्द्र ग्रसित हुआ हो और ग्रसित हुआ ही अस्त होते हुए देख लिया गया हो, तो रात्रि के चार एवं आगामी दिन के चार ऐसे आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• आवश्यकनिर्युक्ति[15] प्रवचनसारोद्धार,[16] विधिमार्गप्रपादि[17] के मन्तव्यानुसार जब चन्द्रमा उदय के साथ ही ग्रसित हो जाए तथा ग्रसित अवस्था में ही वह अस्त हो, तब उस रात्रि के चार प्रहर और आगामी दिन-रात के आठ प्रहर, ऐसे कुल बारह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• किसी साधु को जानकारी नहीं हो कि किस समय ग्रहण होगा, किन्तु इतना जानता हो कि आज पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्र ग्रहण होने वाला है तब रात्रि के चार प्रहर तथा प्रभातकाल में यह देख लिया गया हो कि चन्द्र ग्रहण के कारण डूब गया है उस स्थिति में आगामी अहोरात्रि के आठ प्रहर, ऐसे कुल बारह प्रहर का अस्वाध्याय काल रहता है।

• आकाश मेघाच्छन्न होने से ज्ञात न हो कि चन्द्र कब ग्रसित हुआ परन्तु दूसरे दिन चन्द्र को ग्रहण सहित अस्त होते हुए देख लिया गया हो, तो संदूषित रात्रि के चार एवं आगामी एक अहोरात्र के आठ इस प्रकार कुल बारह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• औत्पातिक ग्रहण में यदि चन्द्र ग्रह सहित ही अस्त हो जाए तो संदूषित रात्रि के चार प्रहर एवं दूसरे अहोरात्र के आठ प्रहर ऐसे बारह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• उत्कृष्ट एवं जघन्य काल के बीच होने वाला अस्वाध्याय मध्यम कहलाता है। चन्द्र के ग्रह सहित डूबने पर मध्यम अस्वाध्याय काल होता है।

सूर्यग्रहण– केतु के विमान से सूर्य के विमान का उपराग (ढंकना) होना सूर्यग्रहण है। सूर्यग्रहण होने पर जघन्य से बारह एवं उत्कृष्ट से सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है। वह निम्न रीति से जानने योग्य है–

• यदि सूर्य उदय होते हुए ग्रसित हुआ हो और ग्रसित हुआ ही अस्त हो जाए, तो रात्रि के चार प्रहर एवं आगामी अहोरात्रि के आठ प्रहर, ऐसे बारह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• यदि सूर्य उदित होते हुए केतु से ग्रसित हुआ हो और ग्रसित हुआ ही अस्त हो चुका हो, तब उस अहोरात्रि के आठ प्रहर एवं आगामी अहोरात्रि के

आठ प्रहर, ऐसे सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• यदि आकाश मेघ से आच्छादित हो और सूर्यग्रहण कब होगा? इस प्रकार की निश्चित जानकारी का अभाव हो, तब उस दिन सूर्योदय के समय से ही स्वाध्याय नहीं करना चाहिए तथा सूर्यास्त के समय सूर्य को ग्रसित हुआ ही अस्त होते हुए देख लिया गया हो तब उस दिन के चार प्रहर, उस रात्रि के चार प्रहर एवं आगामी अहोरात्र के आठ प्रहर– इस तरह सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

• यदि सूर्य दिन में ग्रसित हुआ हो और दिन में ही मुक्त हो जाए तो शेष दिन एवं आगामी अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। इसे मध्यम अस्वाध्याय काल कहते हैं। यह अस्वाध्याय काल लगभग आठ प्रहर का होता है।

यहाँ प्रयुक्त 'अहोरात्रि' शब्द का अर्थ सूर्य एवं चन्द्र के लिए अलग-अलग है। सूर्य के लिए अहोरात्रि का अर्थ– सूर्य ग्रहण से मुक्त हुआ वह दिन और वही रात्रि अहोरात्रि कहलाती है, परन्तु चन्द्रग्रहण के सम्बन्ध में अहोरात्रि का अर्थ भिन्न है। जिस रात्रि को चन्द्र ग्रहण से मुक्त हुआ वह रात्रि तथा आगामी दिन मिलकर अहोरात्रि कहलाती है।

चन्द्र और सूर्य दोनों प्रकार के ग्रहण के विषय में आचरणा भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि चन्द्रमा रात्रि में ग्रसित होकर रात्रि में ही मुक्त हो जाता है तो उस रात्रि का शेष काल ही अस्वाध्याय काल माना जाता है, क्योंकि सूर्योदय होते ही अहोरात्रि पूर्ण हो जाती है, परन्तु ग्रसित हुआ सूर्य दिन में मुक्त हो जाए तो शेष दिन और रात्रि पर्यन्त अस्वाध्याय काल रहता है, क्योंकि अहोरात्रि तभी पूर्ण होती है।

4. व्युद्ग्रह– युद्ध आदि के निमित्त से होने वाला अस्वाध्याय काल व्युद्ग्रह कहलाता है। दो राजाओं का युद्ध, दो सेनापतियों का युद्ध, प्रसिद्ध स्त्रियों का परस्पर युद्ध, मल्ल युद्ध, ग्रामाधिपतियों का युद्ध, बाहुयुद्ध होने पर तथा इनमें परस्पर कलह होने पर, पथराव या हाथापाई होने पर जब तक विग्रह शान्त न हो तब तक अस्वाध्याय काल रहता है।[18]

5. शारीरिक– देह सम्बन्धी या स्थान सम्बन्धी अशुद्धि के कारण होने वाला अस्वाध्याय काल शारीरिक कहलाता है। शारीरिक अस्वाध्याय दो प्रकार का निर्दिष्ट है–(i) तिर्यंच सम्बन्धी और (ii) मनुष्य सम्बन्धी।[19]

(i) **तिर्यंच सम्बन्धी–** प्रवचनसारोद्धार टीका के मतानुसार तिर्यंच सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण भी तीन प्रकार के हैं–(i) जलचर सम्बन्धी (ii) स्थलचर सम्बन्धी और (iii) खेचर सम्बन्धी।

जल में उत्पन्न होने वाले मछली आदि प्राणियों से सम्बन्धित रक्त, मांस का दिखाई देना जलचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।

गाय, भैंस आदि से सम्बन्धित रक्त, मांस का दिखाई देना स्थलचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।

मोर, कबूतर आदि पक्षियों से सम्बन्धित रक्त, मांस का दिखाई देना खेचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।

निर्युक्तिकार आर्य भद्रबाहु ने पूर्वोक्त तीनों से सम्बन्धित अस्वाध्यायिक (रक्त, मांस, मृतकलेवर आदि) द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के भेद से पुनः चार प्रकार का कहा है–

1. द्रव्यतः– तीनों प्रकार के तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों का रक्त, मांस आदि दिखाई देने पर अस्वाध्याय काल होता है, जबकि विकलेन्द्रिय जीवों के रुधिर आदि देखे जाने पर अस्वाध्याय नहीं होता है।

2. क्षेत्रतः– तीनों प्रकार के तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों का रुधिर आदि साठ हाथ के भीतर एवं मनुष्य का सौ हाथ के भीतर पड़ा हो तो अस्वाध्याय होता है। इससे आगे रूधिर आदि गिरे रहने पर अस्वाध्याय नहीं होता है।

3. कालतः– तिर्यंच पंचेन्द्रिय का रुधिर आदि जब से पड़ा हो या जब से देखा गया हो तब से लेकर तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है, यदि बिल्ली आदि के द्वारा मारा हुआ चूहा आदि पड़ा हो तो आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

4. भावतः– अस्वाध्याय की स्थिति होने पर नंदी आदि सूत्रों का स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है।

विशेष– प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं यदि तिर्यंच पंचेन्द्रिय के मांस आदि को कौए, कुत्ते आदि के द्वारा उस स्थान में चारों ओर बिखेर दिया गया हो।[20] और वह गाँव हो तो तीन गली के पश्चात स्वाध्याय कर सकते हैं। यदि शहर हो और उधर से सेना या राजा की सवारी निकलती हो अथवा अनेक प्रकार के वाहन निकलते हों तो एक गली को छोड़कर भी स्वाध्याय कर सकते हैं। यदि समूचा गाँव मांस आदि के पुद्गलों से व्याप्त हो गया हो तो गाँव के बहिर्भाग

में जाकर स्वाध्याय कर सकते हैं। यदि वर्तमान स्थिति पर विचार करें तो आज जहाँ खुल्ले आम मांस आदि का विक्रय होता है उन शहरों में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मुनियों के लिए स्वाध्याय आदि करना कठिन हो गया है।

पुनश्च रक्तादि के गिरे रहने से होने वाला अस्वाध्याय सम्बन्धी शास्त्रीय वर्णन इस प्रकार ज्ञातव्य है–

रक्त– जहाँ स्वाध्याय करना हो उस भूमि से साठ हाथ के भीतर गिरा हुआ रक्त यदि जल के प्रवाह में बह जाये तो वहाँ तीन प्रहर के पश्चात स्वाध्याय कर सकते हैं।

मांस– स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर मांस गिरा हुआ हो और वह स्थान जल आदि से स्वच्छ कर लिया गया हो, तब भी सफाई करने के बाद तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है, क्योंकि उस स्थान को साफ करते समय भी मांस के कुछ कण गिरने की संभावना रहती है। • इसी तरह स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर मांस पकाया जा रहा हो तब पकाने की क्रिया से लेकर पकने के पश्चात भी तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। • यदि स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के बाहर मांस युक्त स्थान को धोने एवं मांस पकाने की क्रिया की जा रही हो तब स्वाध्याय कर सकते हैं।

• अन्य मतानुसार बिल्ली द्वारा मृत चूहे का मांसपिण्ड बिखेरा गया न हो। बिल्ली उसे मुख में दबाकर या निगलकर ले गई हो, तो उस स्थान पर स्वाध्याय कर सकते हैं।

• कुछ आचार्यों के अनुसार चूहे का मृत कलेवर (मांस आदि) लेशमात्र भी बिखरा नहीं है, यह जानकारी कैसे सम्भव हो? इसलिए जब तक उस स्थान का सम्यक अवलोकन नहीं किया जाता तब तक वहाँ तीन प्रहर का अस्वाध्याय काल तो रहता ही है। • यदि सम्यक निरीक्षण करने के उपरान्त भी मांसकण गिरे हुए रह जायें तो तीन प्रहर के पश्चात वे शुष्क हो जाते हैं अथवा अन्य हिंसक प्राणियों द्वारा खा लिये जाते हैं अत: उस स्थिति में दोष की संभावना नहीं रहती है, क्योंकि सामाचारी का पालन करने से दोष दोष रूप नहीं रह जाता।

• कुछ आचार्यों के अनुसार जहाँ चूहे आदि स्वत: मृत्यु प्राप्त हुए हों अथवा अन्य के द्वारा मारे गये हों, किन्तु उनका कलेवर अंशमात्र भी विकीर्ण

न हुआ हो तो वहाँ अस्वाध्याय काल नहीं रहता है, स्वाध्याय कर सकते हैं, किन्तु यदि बिखर जाए तो अस्वाध्याय काल होता है। टीकाकार सिद्धसेन के अभिप्राय से उक्त कथन अयुक्त है क्योंकि शोणित, मांस, चर्म एवं अस्थि चारों की उपस्थिति में स्वाध्याय करने का निषेध है। इस दृष्टि से कलेवर भी अस्वाध्याय का कारण है। अत: कलेवर बिखरा न हो तो भी वहाँ अस्वाध्याय काल रहता है।

अण्डा– स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर अंडा गिर जाए पर फूटे नहीं तो उसे दूर फेंक देने के पश्चात वहाँ अस्वाध्याय नहीं रहता है, स्वाध्याय कर सकते हैं। यदि अंडा फूट जाए तो उस भूमि को स्वच्छ कर लेने के पश्चात भी तीन प्रहर अस्वाध्याय काल रहता है।

- यदि अंडा वस्त्र में गिरकर फूट जाए तो उसे स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ बाहर ले जाकर धोने के पश्चात वहाँ अस्वाध्याय नहीं रहता है, वस्त्र धो लेने के बाद स्वाध्याय कर सकते हैं।
- मक्खी का पाँव डूब जाए यदि इतना भी अंडे का रस कहीं गिरा हुआ हो तो वहाँ अस्वाध्याय होता है। उस स्थान को स्वच्छ कर लेने के बाद भी तीन प्रहर तक स्वाध्याय नहीं कर सकते हैं।
- यदि स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर हथिनी की जरायु रहित की प्रसूति हुई हो तो वहाँ तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है तथा गाय की जरायु सहित प्रसूति हुई हो तो जब तक 'जरायु' न गिरे तब तक अस्वाध्याय होता है तथा जरायु गिरने के पश्चात तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।
- यदि साठ हाथ के भीतर अंडा एवं मृत जीव के अशुचि कण, मांसकण या जरायुकण राजमार्ग पर गिरे हों तो वह अस्वाध्याय का कारण नहीं होता है, कारण कि राजमार्ग पर गमनागमन की संभावनाएँ अधिक होने से अशुचि के बिन्दु तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। इसमें भी जिनाज्ञा की प्रधानता है। यदि तिर्यंच के रक्त, मांस आदि राजमार्ग से हटकर साठ हाथ के भीतर कहीं गिरे हुए हों तो वर्षा के प्रवाह में बहने के पश्चात अथवा आग द्वारा जलने के पश्चात ही वहाँ स्वाध्याय कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त प्रकार से तिर्यंच सम्बन्धी अस्वाध्याय और स्वाध्याय काल जानकर यथोचित मर्यादा का पालन करने से स्वाध्याय एवं संयम भाव प्रवर्द्धित होते हैं।

(ii) **मनुष्य सम्बन्धी–** मनुष्य सम्बन्धी अस्वाध्याय चार प्रकार से होता है– चर्म, रूधिर, मांस और हड्डी।

• पूर्वोक्त चर्मादि चारों प्रकारों में से हड्डी को छोड़कर शेष तीन स्वाध्याय भूमि से सौ हाथ के भीतर पड़े हों तो वहाँ एक अहोरात्रि पर्यन्त अस्वाध्याय रहता है। जितना सम्भव हो मनुष्य की अशुचि की वस्तुएँ वहाँ से हटवा देनी चाहिए।

• यदि मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी रक्त बिन्दु अधिक समय गिरे रहने के कारण खेर की लकड़ी के सत्त्व की तरह स्वभावत: और वर्णत: विवर्ण हो गए हों तो वहाँ स्वाध्याय कर सकते हैं, उसमें अस्वाध्याय का दोष नहीं लगता है।

• रजस्वला स्त्री के लिए तीन दिन अस्वाध्याय रहता है। यदि किसी स्त्री के तीन दिन के पश्चात भी अशुचि रहती हो तो स्वाध्याय किया जा सकता है, क्योंकि उस समय रुधिर विवर्ण हो जाता है अथवा शरीर सम्बन्धी अन्य रोगोत्पत्ति के कारण ऐसी स्थिति बनी रहे तो भी अस्वाध्याय नहीं होता है।

• यदि पुत्र का जन्म हो तो सात दिन और पुत्री का जन्म हो तो आठ दिन अस्वाध्याय काल रहता है, तदुपरान्त स्वाध्याय कर सकते हैं। पुत्र एवं पुत्री के अस्वाध्याय सम्बन्धी काल का अन्तर इस कारण है कि पुत्र में शुक्र की अधिकता और पुत्री में रक्त की अधिकता होती है।

• यदि बालक आदि का दाँत सौ हाथ के भीतर गिरा हो तो प्रयत्न पूर्वक देखना चाहिए, मिल जाए तो उसे दूर फेंक देना चाहिए। यदि खोजने पर भी न मिले तो स्थान शुद्धि मानकर वहाँ स्वाध्याय किया जा सकता है। आवश्यकसूत्र के भाष्यानुसार अस्वाध्याय निवारण हेतु कायोत्सर्ग करके स्वाध्याय करना चाहिए।

• यदि शरीर सम्बन्धी अस्थियाँ सौ हाथ के भीतर पड़ी हुई हों और प्रयत्नपूर्वक भी न मिल पाएं तो वहाँ बारह वर्ष तक अस्वाध्याय रहता है। यदि अस्थियाँ श्मशान में दग्ध हो गई हों अथवा जल प्रवाह में बहा दी गई हों तो अस्वाध्याय नहीं रहता है। वर्तमान में अस्थि विसर्जन की परम्परा लगभग सभी धर्मों में प्रवर्त्तित है अत: इस दोष की संभावनाएँ अल्पतम रह गई है।

• यदि श्मशान में मृत कलेवर रखा हुआ हो,पाण-रूद्र-मातृ-गृह (यक्षायतन) के नीचे मृत व्यक्ति की अस्थियाँ स्थापित की गई हों और वह स्थान

सौ हाथ की सीमा में हो तो बारह वर्ष तक अस्वाध्याय होता है। जो अस्थियाँ श्मशान में दग्ध हो चुकी हैं उनको छोड़कर शेष जो दग्ध नहीं हुई हैं अथवा जो अनाथ शव जलाया नहीं गया है अथवा खोद कर गाड़ा गया है तो ये स्थान बारह वर्ष तक के लिए स्वाध्याय का घात करते हैं तथा डोम, लोगों के यक्षायतन, रूद्रदेव के यक्षायतन एवं मातृगृहों के नीचे मनुष्यों की अस्थियाँ (कपाल) रखी जाती है इससे उस क्षेत्र में भी बारह वर्ष तक अस्वाध्याय रहता है।

समाहारत: अस्वाध्याय के सभी स्थानों में अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन (स्वाध्याय) किया जा सकता है, इसका निषेध कहीं भी नहीं है।[21]

सामान्य कारण सम्बन्धी अस्वाध्याय

आवश्यकनिर्युक्ति में अस्वाध्याय के सामान्य हेतुओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा, अमात्य, सेनापति आदि विशिष्ट व्यक्तियों की मृत्यु हो जाने पर अथवा राज्य में किसी प्रकार का शोक उत्पन्न हो जाने पर जब तक दूसरे राजा की नियुक्ति न हो अथवा प्रजा शोक शक्ति मुक्त न हो जाये तब तक अस्वाध्याय रहता है। दूसरे, राजा की नियुक्ति एवं व्युद्ग्रह की शान्ति हो जाने पर भी एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल रहता है।[22]

- यदि महामारी, दुर्भिक्ष अथवा युद्ध में अनेक व्यक्तियों की मृत्यु हो गई है और वह स्थान अग्नि, जल आदि द्वारा शुद्ध न किया गया हो तो वहाँ उस स्थान या नगर विशेष में बारह वर्ष तक अस्वाध्याय काल रहता है।
- यदि वसति (उपाश्रय) से सात घरों के बीच नगर मुखिया आदि महत्तर पुरुष मर गया हो तो एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल रहता है।[23]
- व्यवहारभाष्य एवं प्रवचनसारोद्धार की टीकानुसार मुनियों की वसति से सौ हाथ के भीतर किसी अनाथ की मृत्यु हो गई हो तो भी अस्वाध्याय होता है। यदि साधु के निवेदन करने पर शय्यातर या श्रावक उस कलेवर को वहाँ से हटवा दें तो स्वाध्याय कर सकते हैं अन्यथा मुनियों को अन्य वसति में चले जाना चाहिए।[24]
- यदि उक्त स्थिति में अन्य कोई योग्य बसति प्राप्त होने की सम्भावना न हों और सागारिक नहीं देख सकते हों तो रात्रि में वृषभ गीतार्थ मुनि 'अनाथमृतक' को अन्यत्र परिष्ठापित कर दें। कदाचित जानवरों ने शव को क्षत-विक्षत कर दिया हो तो सर्वप्रथम चारों ओर से अत्यन्त सावधानी पूर्वक पुद्गलों

(शरीर के अवयवों) को एकत्रित करें। फिर उन्हें परित्यक्त करें। यदि कलेवर के कुछ अवयव रह जाएं तो भी वे वहाँ यतना पूर्वक स्वाध्याय कर सकते हैं, क्योंकि उनका प्रयत्न अशठ भाव से किया गया है अत: स्वाध्याय करना शुद्ध है।

• यदि मुनियों की वसति से सात घर के भीतर नगर प्रधान, नगर प्रधान के रूप में नियुक्त व्यक्ति, विशाल परिवार से युक्त शय्यातर अथवा कोई विशिष्ट व्यक्ति मर गया हो तो एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल रहता है।

• यदि किसी स्त्री का रुदन सुनाई दे तब तक भी अस्वाध्याय होता है।

• छेद सूत्रों में अस्वाध्याय के कारणों को बताते हुए यह भी कहा गया है कि अशिव, अवमौदर्य एवं आघात स्थानों में अनेक लोग दिवंगत होते हैं। इन स्थानों का विशोधन किए बिना वहाँ बारह वर्ष का अस्वाध्याय काल होता है। यदि वे स्थान अग्नि से जल गए हों अथवा पानी से प्लावित हो गए हों तो वहाँ उसके बाद स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि श्मशान लोगों द्वारा आवासित हो गया हो और उस स्थान का शोधन कर लिया गया हो तो वहाँ स्वाध्याय किया जा सकता है।[25]

• छोटे गाँव में कोई मर गया हो और जब तक उस शव को बाहर निष्कासित नहीं किया जाता तब तक स्वाध्याय वर्जित है। नगर अथवा बड़े गाँव के वाटक तथा गली में कोई मरा हो तो उस वाटक या गली में स्वाध्याय का परिहार करना चाहिए, शेष स्थानों पर अस्वाध्याय नहीं होता है।

• यदि किसी मृत कलेवर को उपाश्रय के आगे से ले जाया गया हो तो उस समय सौ हाथ के भीतर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब कलेवर ले जाया जाये उस समय फूल एवं जीर्ण वस्त्र बिखेरे जाते हैं यदि वे सौ हाथ के भीतर दिखाई पड़ते हों तो स्वाध्याय करना चाहिए या नहीं? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि ले जाए जाते हुए मृतक को छोड़कर पुष्प आदि अस्वाध्याय का कारण नहीं होते हैं। शरीर का अस्वाध्याय रुधिर आदि के आधार पर चार प्रकार का है। इनके अतिरिक्त और किसी द्रव्य का अस्वाध्याय नहीं होता है।

• व्यवहारभाष्य[26], निशीथभाष्य[27] आदि में अस्वाध्याय के अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए आत्मसमुत्थ अर्थात स्वयं के शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय

को दो प्रकार का बताया गया है– 1. व्रण सम्बन्धी और 2. ऋतुधर्म सम्बन्धी। इसमें श्रमणों के भगंदर आदि विषयक एक प्रकार का एवं श्रमणियों के भगंदर आदि तथा ऋतु धर्म दोनों प्रकार का अस्वाध्याय होता है।

• आगमिक व्याख्या साहित्य के अनुसार फोड़े-फुन्सी, भगंदर, मसा आदि के होने पर शरीर में से रक्त या पीप का बाहर आना व्रण सम्बन्धी अस्वाध्याय है। जब पीप या रक्त आदि बाहर आ रहा हो उस समय अस्वाध्याय रहता है किन्तु उस जगह की शुद्धि करके एवं अशुचि को 100 हाथ के बाहर परिष्ठापित कर स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि शुद्धि करने के बाद भी रक्त आदि निकलता रहे तो स्वाध्याय नहीं किया जा सकता है। यद्यपि श्रमण के शरीर में से रक्तादि बहता हो तो उस पर एक पट्टी बाँधकर वाचना ली-दी जा सकती है। फिर भी उसमें से रक्त बहता हो तो नमक के पानी का प्रयोग कर एवं दूसरी पट्टी बाँधकर वाचना क्रम निरन्तर रखा जा सकता है। तदुपरान्त तीसरी पट्टी बाँधकर भी वाचना का स्वाध्याय किया जा सकता है। इस प्रकार एक-दो उत्कृष्टत: वस्त्र के तीन पट्ट बाँधकर परस्पर में आगम की वाचना ली-दी जा सकती है। यदि तीन पट्टी बांधने के बाद भी खून दीखने लग जाए तो उस स्थिति में पुन: शुद्ध करने के पश्चात ही स्वाध्याय करना कल्पता है। इसी तरह श्रमणियों के व्रणविषयक अस्वाध्याय होने पर पूर्ववत सात बंधन तक का प्रावधान है। इतने पर भी यदि रक्त प्रवाह न रूके तो पुन: से धोकर बंधन देकर वाचना दे सकती हैं अथवा अन्यत्र जाकर पढ़ सकती है।[28]

• ऋतुधर्म सम्बन्धी अस्वाध्याय तीन दिन तक रहता है। व्यवहार सूत्रकार इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश करते हैं कि श्रमणों एवं श्रमणियों को स्व शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है किन्तु श्रमण अर्थरूप वाचना दे रहे हों तो अपवादत: श्रमणियाँ उस वाचना को सुन सकती हैं।[29]

• यहाँ यह मननीय है कि औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय के दस प्रकारों में शरीर विषयक समस्त अस्वाध्याय का अन्तर्भाव हो जाता है तथापि आत्मसमुत्थ विषयक अस्वाध्याय में पुन: स्वाध्याय निषेध करने का कारण यह है कि मासिक धर्म सम्बन्धी या अन्य व्रण सम्बन्धी अस्वाध्याय निरन्तर चालू रहता है, उतने समय तक किसी भी सूत्र का वाचन चल रहा हो उसे बंद कर देना या अधूरे में छोड़ देना उपयुक्त नहीं है। विवेचनकार का अभिमत है कि

अनेक साधु-साध्वियों का सामूहिक स्वाध्याय चल रहा हो, तो कभी किसी के और कभी किसी के अस्वाध्याय का कारण बना रहता है। उस स्थिति में वाचना देने या वाचना लेने की विधि न की जाये तो अनेक दिन ऐसे ही व्यतीत हो सकते हैं और सूत्रों की वाचना में भी अव्यवस्था हो जाती है। अतएव मासिक धर्म और अन्य व्रण सम्बन्धी अस्वाध्याय में अर्थ का श्रवण करना आपवादिक नियम है तथा इसमें भी रक्त-पीप आदि का उचित विवेक रखते हुए साधु या साध्वी को वाचना का लेन-देन करना चाहिए।

• यह जानना भी आवश्यक है कि यहाँ वाचना का तात्पर्य आगमों के अर्थ से है न कि मूल पाठ के उच्चारण से, क्योंकि आगमपाठ देववाणी रूप होने से अस्वाध्याय काल में उनका मौखिक उच्चारण करना दोष युक्त है।

उपर्युक्त वर्णन का हार्द यह है कि स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय के दोनों प्रकारों में निर्दिष्ट विधि का परिपालन करते हुए विवेक पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। श्वेताम्बर (मूर्तिपूजक) सम्प्रदाय में ऋतु धर्म सम्बन्धी अस्वाध्याय होने पर तीन दिन किसी प्रकार का स्वाध्याय नहीं किया जाता है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में ऋतुधर्म के तीन दिनों में आगम सूत्रों का स्वाध्याय नहीं करते हैं। दिगम्बर परम्परा में उन दिनों कायिक चेष्टाओं का भी निरोध कर दिया जाता है तब स्वाध्याय का तो प्रश्न ही नहीं उठता? अस्तु इस परम्परा में तीन दिन तक समग्र रूप से स्वाध्याय का परिहार किया जाता है।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के दोष

आवश्यकनिर्युक्ति[30] एवं व्यवहारभाष्य[31] में अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के निम्न दोष बतलाये गये हैं–

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की अभक्ति और विराधना होती है तथा यह पद्धति लोकविरुद्ध भी है।

प्रान्तदेवता (क्षेत्रदेवता) उस प्रमत्त स्वाध्यायी को कष्ट दे सकते हैं

जिस प्रकार विपरीत साधन से साध्यमान विद्या सिद्ध नहीं हो सकती है उसी तरह अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान भी सिद्ध नहीं होता है।

आत्मसमुत्थ अर्थात (स्व शरीर) विषयक अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करने पर आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं।

यहाँ जिज्ञासु प्रश्न कर सकता है कि यदि रक्त, मांस आदि से अस्वाध्याय होता है, तब तो सम्पूर्ण शरीर ही रक्त, मांस, आदि अशुचि पदार्थों से युक्त है, उस स्थिति में देहगत रहते हुए कभी भी स्वाध्याय कैसे किया जा सकता है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो रक्त, मांस आदि शरीर से वियुक्त हो गए हैं या स्पष्टत: बाहर दिखाई देते हैं, उन्हीं स्थिति में स्वाध्याय वर्ज्य है और यदि वे शरीर से अपृथक् या अदृश्य हैं तो स्वाध्याय आदि किया जा सकता है। लोक व्यवहार में भी उसे घृणित नहीं माना जाता है।

लोक में यह भी स्पष्ट रूप से देखते हैं जो पुरुष आभ्यन्तर मल से युक्त है वह देवता की पूजा-अर्चना करता है जबकि बाह्य अशुचि वाला पुरुष देवार्चना नहीं करता, परन्तु शरीर से मल की शुद्धि कर दी जाये तो पूजा कर सकता है।

जो जान-बूझकर प्रतिमा का अपराध करता है तो प्रतिमा के अधिष्ठित देवता उसको क्षमा नहीं करता, इसी प्रकार श्रुतज्ञान भी अपराध को क्षमा नहीं करता। इससे इहलोक और परलोक में दंडित होना पड़ता है। इहलोक का दंड है– प्रमत्त देवता द्वारा छला जाना और परलोक का दंड है– दुर्गति की प्राप्ति होना।

जो राग और द्वेष वश अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है, वह सोचता है कि अमूर्त्त ज्ञान की क्या आशातना? ज्ञान से कौन सा अनाचार होता है? इन दोष युक्त विचारों का निराकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि गणी, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि लोक पूजित हैं वे यदि अस्वाध्याय में स्वाध्याय करते हैं तो वह रागवश होता है। जो गणि आदि दूसरों को आदर नहीं देकर अस्वाध्याय में स्वाध्याय करते हैं तो वह द्वेषवश होता है। जो यह मानकर अस्वाध्याय में स्वाध्याय करते हैं कि सब कुछ अस्वाध्यायमय है तो यह मोहवश होता है इससे अमूर्त्त ज्ञान का भी निश्चय ही विफल परिणाम होता है अत: अकाल में स्वाध्याय करने पर निश्चय ही अनाचार और श्रुतज्ञान की आशातना होती है।

श्रुतज्ञान की आशातना का इहलौकिक फल यह है कि अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने पर साधक उन्माद (पागलपन) आदि रोगों से ग्रसित हो सकता है, मिथ्यात्वी देवों द्वारा उसे आतंकित किया जा सकता है तथा जिनाज्ञा के प्रति आभ्यंतर निष्ठा न होने से संयम से पतित भी हो सकता है। उसका

पारलौकिक फल यह है कि उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, कारण कि श्रुतज्ञान का स्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु असमय में अभ्यास किया जाये या विपरीत विधि पूर्वक किया जाये तो इनके सुपरिणाम कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? अतः श्रुत की आशातना से संसार की परम्परा में वृद्धि होती है।

अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने वाला ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार की विराधना करता है। चारित्र की विराधना से मोक्ष का स्वयमेव अभाव हो जाता है।

मूलाचार (दिगम्बर) के अनुसार जो मुनि सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से द्रव्य-क्षेत्र आदि की शुद्धि का ध्यान न रखते हुए स्वाध्याय करते हैं वे सम्यक्त्व की विराधना, अस्वाध्याय शास्त्र आदि की अप्राप्ति, कलह, व्याधि या वियोग को प्राप्त होते हैं।[32] मूलाचार की टीका में संध्याकाल एवं मुख्य पर्व-तिथियों में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है तथा उसके दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए कहा है कि अष्टमी के दिन किया गया अध्ययन-अध्यापन गुरु और शिष्य दोनों का वियोग कराने वाला होता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह उत्पादक और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न जनक होता है। यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो वह विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। मध्याह्न काल में किया गया अध्ययन श्रमण जीवन को नष्ट करता है। दोनों संध्या कालों में किया गया अध्ययन व्याधि उत्पन्न करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेषी हो जाते हैं।[33]

इस तरह हम पाते हैं कि अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से जिनाज्ञा का अतिक्रमण, अनवस्था (दोष-श्रृंखला का प्रारम्भ), मिथ्यात्व की प्राप्ति, ज्ञान की विराधना, श्रुतज्ञान की अभक्ति, लोकविरुद्ध प्रवृत्ति, प्रमत्त छलना, श्रुतज्ञान के आचार की विराधना, दीर्घकालिक रोग, सद्योघाति आतंक, तीर्थंकर प्रज्ञप्त धर्म से च्युति, चारित्र धर्म से च्युति, दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण आदि दोष लगते हैं।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने के प्रयोजन

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में 32 प्रकार का अस्वाध्याय बतलाया गया है, उन स्थितियों में स्वाध्याय क्यों नहीं करना चाहिए? इसके कुछ प्रयोजन निम्न प्रकार हैं–

दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण

आकाश सम्बन्धी दस अस्वाध्याय में से उल्कापात, दिग्दाह, गर्जन, विद्युत, निर्घात– इन पाँच प्रकार की स्थिति होने पर तेउकाय की विराधना होती है, गर्जन होने पर पशु-पक्षी आदि एवं सामान्य जीव भयभीत हो जाते हैं, बिजली चमकने पर भयावह स्थिति उत्पन्न होने की संभावना रहती है अत: उस समय स्वाध्याय करने से जीव विराधना, लोकविरुद्ध प्रवृत्ति एवं स्वाध्यायोच्चार में स्खलना आदि दोषों की सम्भावना रहती है।

चातुर्मास काल में उल्कापात आदि होने पर अस्वाध्याय नहीं होता, क्योंकि उस समय विद्युत-गर्जन आदि स्वाभाविक रूप से होते हैं।

'यूपक' के समय सन्ध्या काल का निर्णय न हो पाने से अस्वाध्याय रहता है, क्योंकि उस समय स्वाध्यायार्थ वैरात्रिक काल ग्रहण किया जाता है और जब सन्ध्या काल अनिर्णय या अज्ञात स्थिति में हो तब काल ग्रहण न करने से अस्वाध्याय होता है।

धूमिका-महिका के समय अप्काय की विराधना से बचने के लिए वाचिक-स्वाध्यायादि, कायिक–प्रतिलेखनादि क्रियाएँ क़रने का प्रतिषेध है। अन्य अस्वाध्याय कालों में स्वाध्याय करने पर अप्काय, तेउकाय, वाउकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों के हिंसा की पूर्ण सम्भावना रहती है। अत: उन जीवों के संरक्षण हेतु अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

दस औदारिक शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण

औदारिक (शारीरिक) अशुद्धि के समय स्वाध्याय करने पर लोक व्यवहार से विरुद्ध आचरण होता है, आगम सूत्रों की आशातना होती है, जिनवाणी का अपमान होता है तथा स्थानीय अशुचि वायुमण्डल में विकीर्ण होने उससे तन-मन भी प्रभावित होते हैं, जिससे स्वाध्याय अर्थात उच्चारण आदि शुद्धि भी नहीं रह पाती है।

श्मशान का वातावरण ही दूषित होता है, अत: वहाँ स्वाध्याय करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के समय समस्त लोक या अमुक स्थान राहू एवं केतु की दूषित किरणों से आप्लावित हो जाता है जिससे वातावरण की पवित्रता में कमी आ जाती है और उससे चैतन्य तत्त्व भी प्रभावित होता है परिणामत: चित्त की एकाग्रता खण्डित हो सकती है जो कि स्वाध्याय

के लिए परम बाधक है। दूसरे, उस ग्रहण काल में मिथ्यात्वी देवों का संचार अथवा मिथ्यादृष्टियों में अपने देव को राहु द्वारा ग्रसित करने पर आक्रोशादि होने से वातावरण संक्षुब्ध होता है अत: स्वाध्याय निषेध का यह कारण भी माना जा सकता है।

राज मृत्यु और युद्ध के समय स्वाध्याय करने पर राजा या राज कर्मचारियों को मुनि के प्रति अप्रीति या द्वेष उत्पन्न हो सकता है, कारण कि राज्य में तो अशान्त वातावरण है, सभी लोग क्षुभित एवं भय की स्थिति में हैं और इन साधुओं को किसी तरह की कोई परवाह ही नहीं है? ये साधु लोग तो अपने स्वाध्याय आदि धर्म आराधनाओं में मग्न हैं इस प्रकार की द्वेष बुद्धि उत्पन्न न हो एतदर्थ उक्त प्रसंगों में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

तिर्यंच एवं मनुष्य सम्बन्धी अशुचि क्रमश: 60 और 100 हाथ के भीतर हो तो वसति के आस-पास का वातावरण अशुद्ध हो जाने से अस्वाध्याय होता है। आगमवाणी देववाणी रूप होने से उसका उच्चारण पवित्र स्थान में ही करना चाहिए अन्यथा मिथ्यात्वी एवं कौतुहली देवों द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

चार महामहोत्सव एवं चार महाप्रतिपदा सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण

आषाढ़ी पूर्णिमा, आसोजी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा और चैत्री पूर्णिमा– इन चारों पूर्णिमा के दिन बड़े-बड़े महोत्सव मनाये जाते हैं। प्रवचनसारोद्धार की टीकानुसार पूर्णिमा के उत्सव जिस दिन से प्रारम्भ होते हैं उस दिन से लेकर पूर्णिमा तक अस्वाध्याय रहता है। ये उत्सव कहीं-कहीं हिंसक रूप में मनाये जाते हैं जैसे- देवी-देवताओं के सम्मुख बलि देना आदि। जिस देश में जिस पूर्णिमा को जितने समय तक उत्सव चलता है उस देश में उतने समय तक स्वाध्याय का परिहार करना चाहिए। यद्यपि उत्सव पूर्णिमा को पूर्ण हो जाते हैं लेकिन उसकी अनुभूति दूसरे दिन भी रहती है अत: प्रतिपदा के दिन भी स्वाध्याय को वर्जित कहा है।[34]

निशीथभाष्य के मतानुसार चारों महोत्सव क्रमश: इन्द्र से, कार्तिकेय से, यक्ष से एवं भूत-व्यन्तर जाति के देवों से सम्बन्धित हैं। इन्हें प्रसन्न रखने के लिए लोग इनकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हुए दिन भर खाना-पीना, गाना-बजाना, नाचना-घूमना, मद्यपान करना आदि मौज शोक करते हुए प्रमोद पूर्वक रहते हैं।

ये महोत्सव पूर्णिमा के दिन होते हैं। इन दिनों में देवगण आते हैं ऐसा कहा जाता है तथा अनेक लोगों का भी इधर-उधर आवागमन रहता है। भाष्यकार के निर्देशानुसार प्रतिपदा के दिन भी इन महोत्सवों के कुछ कार्यक्रम शेष रह जाते हैं अत: उस दिन को भी महामहोत्सव का दिन माना गया है।[35]

भगवान महावीर के समय इन्द्रमह, स्कन्धमह, यक्षमह और भूतमह ये चार महोत्सव जन-साधारण में प्रचलित थे। आचारांगसूत्र में अनेक महोत्सवों का उल्लेख है। उसमें पूर्वोक्त चारों महोत्सवों के नाम भी उल्लेखित हैं। निशीथभाष्य के अनुसार आषाढ़ी पूर्णिमा को इन्द्रमह, आश्विनी पूर्णिमा को स्कन्धमह, कार्तिकी पूर्णिमा को यक्षमह और चैत्री पूर्णिमा को भूतमह मनाया जाता था। इन उत्सवों में सम्मिलित होने वाले लोग मदिरा-पान करके नाचते-कूदते हुए अपनी परम्परा के अनुसार इन्द्रादि की पूजन आदि करते थे। उत्सव के दूसरे दिन अपने मित्रादिकों को बुलाते और मदिरापान पूर्वक भोजनादि करते-कराते थे।

इन महाप्रतिपदाओं के दिन स्वाध्याय-निषेध के अनेक कारणों में से एक प्रधान कारण यह बताया गया है कि महोत्सव में सम्मिलित लोग समीपवर्ती साधु और साध्वियों को स्वाध्याय करते अर्थात उच्चारण पूर्वक शास्त्र-वाचना आदि करते हुए देखकर भड़क सकते हैं और मदिरा पान से उन्मत्त होने के कारण उपद्रव भी कर सकते हैं। अत: यही श्रेष्ठ है कि उस दिन साधु-साध्वी मौनपूर्वक अपनी धर्म-क्रियाओं को सम्पन्न करें।

दूसरा कारण यह बताया गया है कि जहाँ निकट में जन साधारण का जोर-जोर से शोरगुल हो रहा है, वहाँ स्वाध्याय रसिक मुनिजन एकाग्रता पूर्वक शास्त्र की शाब्दिक या अर्थवाचना को ग्रहण भी नहीं कर सकते हैं। स्वाध्याय निषेध का तीसरा हेतु यह माना जा सकता है कि उन दिनों में अनेक तरह के देव परिभ्रमण करते हैं, वे भिन्न-भिन्न स्वभावी और कौतुहली होते हैं। स्वाध्याय के कारण उनकी गति में स्खलना हो जाने पर वे उपद्रव कर सकते हैं। ऋद्धिसम्पन्न देव स्खलना न होने पर भी उपद्रव कर सकते हैं।

स्वाध्याय निषेध का यह हेतु भी माना जाता है कि जिन दिनों मनोरंजन-आनन्द आदि के उत्सव विशेष रूप से मनाये जाते हों वे दिन शास्त्र वाचन हेतु लोक में अव्यावहारिक समझे जाते हैं। लोग भी नशे में उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए द्वेषवश या कुतुहलवश उपद्रव कर सकते हैं। अत: इन आठ दिनों में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

इन चार महोत्सवों के अतिरिक्त आचारांगसूत्र में कथित अन्य अनेक महोत्सवों, जो सर्वत्र प्रचलित हों, उनके प्रमुख दिनों में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए अर्थात उच्च स्वर से सूत्र के पाठादि नहीं बोलने चाहिए।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि जैनागमों की व्याख्याओं में और जैनेतर शास्त्रों में इन्द्र महोत्सव के लिए आसोज की पूनम कही गई है किन्तु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कुछ भिन्न-भिन्न परम्पराएँ कालान्तर से प्रचलित हो जाती हैं, जैसे– लाट देश में श्रावण की पूनम को इन्द्र महोत्सव होना चूर्णिकार ने बताया है। इसी तरह किसी कारण से भादवा की पूनम को भी महोत्सव का दिन मानकर अस्वाध्याय मानने की परम्परा प्रचलित है जिससे कुल 10 दिन महोत्सव सम्बन्धी अस्वाध्याय के माने जाते हैं। इन दिनों में स्वाध्याय न करने का सामान्य कारण परम्परा माना जा सकता है।[36]

वर्तमान में उपरोक्त पूर्णिमाओं के दिन महोत्सव आदि की परम्पराएँ विलुप्त-सी हो गई है अत: इन दिनों के अस्वाध्याय काल सम्बन्धी विशिष्ट प्रयोजनों की प्रासंगिकता भी नहींवत रह गई हैं। फिर भी इन दिनों में स्वाध्याय का परिहार किया जाता रहा है और आगम आचरणा वश करना भी चाहिए।

चार सन्ध्या सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण

दिन और रात के सन्धि काल को सन्ध्या कहते हैं। इसी प्रकार दिन और रात्रि के मध्यभाग को भी सन्ध्या कहा जाता है, क्योंकि वह पूर्वभाग और पश्चिम भाग (पूर्वाह्न और अपराह्न) का सन्धिकाल है। इन सन्ध्याओं में स्वाध्याय न करने का प्रथम कारण यह बताया गया है कि ये चारों सन्ध्याएँ ध्यान का समय मानी गई हैं। स्वाध्याय से ध्यान का स्थान ऊँचा है अत: ध्यान के समय ध्यान करना ही उचित है।[37]

इन सन्ध्याओं में स्वाध्याय-निषेध का दूसरा कारण यह माना गया है कि दिवस और रात्रि का मध्यकाल लौकिक शास्त्रों के वाचन के लिए भी अयोग्य काल माना जाता है, क्योंकि दिन के मध्यकाल के समय वातावरण में सबसे अधिक हलचल रहती है। इस समय गृह, शरीर एवं व्यापार सम्बन्धी कार्य विशेष रूप से किये जाते हैं, मुनि जीवन का आहार काल भी इसी समय माना गया है तथा रात्रि के मध्यकाल में नीरव शान्ति रहने से स्वाध्याय करने पर अड़ोसी-पड़ोसी लोगों की निद्रा टूट सकती है। यदि वे लोग धर्मविमुख हों या

अन्य जातीय प्रजा हो तो साधुओं के प्रति द्वेष भाव या कलह आदि कर सकते हैं। इन कारणों से धर्मशास्त्रों के पठन का भी निषेध समझना चाहिए। शेष दोनों संन्ध्या कालों में आगमानुसार प्रतिक्रमण और शय्या-उपधि की प्रतिलेखना करनी चाहिए। इस समय में स्वाध्याय करने पर इन आवश्यक क्रियाओं के समय का अतिक्रमण हो जाता है।

सन्ध्याकाल में स्वाध्याय न करने का तीसरा कारण यह निर्दिष्ट है कि ये चारों काल व्यन्तर देवों के भ्रमण करने के हैं। अत: स्वाध्याय करते हुए किसी प्रकार का प्रमाद होने पर या सूत्रोच्चार में स्खलना होने पर उनके द्वारा उपद्रव होना सम्भव है। लौकिक व्यवहार में भी प्रात: एवं सायं प्रभु स्मरण के और मध्याह्न एवं अर्द्धरात्रि प्रेतात्माओं के भ्रमण के माने जाते हैं।[38]

व्यवहारभाष्य और निशीथभाष्य में उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा गया है कि चारों संध्याओं में गुह्यक देव गमनागमन करते हैं। वे प्रमत्त स्वाध्यायी को छल सकते हैं। संध्याकाल में सूत्रपाठ करने से लोक में गर्हा होती है। अत: स्वाध्याय से निवृत्त चित्त वाला संध्या के समय आवश्यक में ही उपयोगवान होता है। यहाँ प्रश्न होता है जब संध्या में स्वाध्याय नहीं किया जाता, तब आवश्यक कैसे किया जाता है? आचार्य कहते हैं- दोनों संध्याओं में लोगों द्वारा आह्वान करने पर देव यज्ञ आदि अनुष्ठानों में ठहर जाते हैं, तब तक आवश्यक भी सम्पन्न हो जाता है। अतएव आवश्यक (प्रतिक्रमण आदि) दोनों संध्याओं में अवश्य करणीय है।[39]

इन चतुष्क वेलाओं में आगम के मूल पाठ का उच्चारण, वाचना रूप स्वाध्याय करने से ज्ञानाचार के प्रथम प्रकार की विराधना होती है और ज्ञान के अतिचार 'अकाले कओ सज्झाओ' का सेवन होता है। सन्ध्याओं में अस्वाध्याय का एक कारण यह भी माना जा सकता है कि इन चार कालों में स्वाध्याय न करने से साधु को कुछ विश्रान्ति भी मिल जाती है।

परसमुत्थ सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण

परसमुत्थ अस्वाध्याय के संयमघाती प्रकारों में महिका के समय समूचा वातावरण अप्कायमय हो जाता है, सचित्तरज के समय आस-पास का क्षेत्र पृथ्वीकायमय बन जाती है, वर्षा के समय सारा वातावरण अप्कायमय बन जाता है उस स्थिति में स्वाध्याय हेतु शरीर के अवयवों का संचालन करने से जीव विराधना होती है अत: अस्वाध्याय होता है।

औत्पातिक अस्वाध्याय के प्रकारों में धूल की वर्षा होने पर समूचा वातावरण पृथ्वी-वायुकायमय बन जाता है। मांस, रूधिर आदि की वर्षा होने पर वातावरण प्रदूषण युक्त बन जाता है। उस समय अंगों का हलन-चलन करने से पृथ्वीकाय एवं वायुकाय जीवों का घात होता है और पर्यावरण दूषित होने से स्वाध्याय दूषित होता है अतएव स्वाध्याय का निषेध किया गया है। देवकृत विद्युत, गर्जन, उल्कापात आदि के समय वातावरण में अग्निकायिक जीवों के व्याप्त होने एवं गर्जनादि द्वारा लोगों की भयभीत स्थिति उत्पन्न होने से जीव विराधना एवं लोक विरुद्ध प्रवृत्ति होती है। युद्धादि के समय स्वाध्याय करने पर यदि कोई वाणव्यंतर देव कौतुकवश युद्ध देखने आए हों और वे साधु को स्वाध्याय करते हुए देख लें तो उन्हें छल सकता है। राजादि की मृत्यु के समय स्वाध्याय किया जाए तो लोगों को साधुओं के प्रति अप्रीति हो सकती है कि ये कैसे लोग है? इन्हें कोई दु:ख नहीं है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि काल, विनय आदि के भेद से ज्ञानाचार आठ प्रकार का है। उसमें 'काल' पहला है। अकालध्यायी साधु-साध्वी ज्ञानाचार के प्रथम प्रकार की विराधना करते हैं, जबकि काल आदि के उपचार से ही विद्या सिद्ध होती है उसके बिना कुपित होकर विद्या की अधिष्ठात्री देवी अथवा अन्य क्षुद्रदेवता उस विद्या को नष्ट कर देते हैं।

दूसरा हेतु यह है कि आगम सूत्र सलक्षण है, क्योंकि यह सर्वज्ञ भाषित है। सभी लक्षणोपेत वस्तुएँ देवता अधिष्ठित होती हैं। जैसे चक्रवर्ती का चक्र राजाओं से भी पूजा जाता है फिर भी चक्र का कीर्तन यत्र-तत्र आवश्यक नहीं होता। इसी प्रकार इस जगत में आठ गुणों से युक्त जिनेश्वर देव की सूत्रकृत वाणी पूजी जाती है किन्तु उसका अध्ययन करने वाले सर्वत्र प्राप्त नहीं होते, यथोक्त देश और काल में ही वह वाणी सिद्ध होती है। इस तरह जिनवाणी रूप आगम सूत्रों का अध्ययन सार्वकालिक सुसिद्ध है।

तीसरा कारण यह है कि तीर्थंकर पुरुष पूर्वाह्न और अपराह्न में ही बोलते हैं। यही देशना अंगों में निबद्ध है, इसलिए अकाल-उत्काल में कालिक सूत्रों का पठन-पाठन नहीं होना चाहिए।[40]

उपर्युक्त विवेचन से निर्णीत होता है कि तीर्थंकर आज्ञा की अवहेलना, देवपूज्य शास्त्रों की आशातना, लोक विरुद्ध प्रवृत्ति, जीवहिंसा एवं संयम

विराधना आदि दोषों के निराकरणार्थ अस्वाध्याय सम्बन्धी सभी कालों में स्वाध्याय का प्रतिषेध करना चाहिए।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के आपवादिक कारण

व्यवहारभाष्य के अनुसार अस्वाध्याय काल होने पर भी निम्न आपवादिक स्थितियों में यतनापूर्वक स्वाध्याय किया जा सकता है–

आगाढ़ योग के वहन काल में स्कन्दक और चमरेन्द्र के प्रत्यासन्न होने पर उनके अनुग्रह के लिए अनुदिष्ट स्कन्दक उद्देशक का स्वाध्याय रात्रि में तीन बार और दिन में अस्वाध्याय काल में भी किया जा सकता है।

गृहस्थ के घर में प्रतिचारणा सम्बन्धी अनिष्टकारी शब्द श्रवण से बचने के लिए कालिक या उत्कालिक श्रुत का अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय किया जा सकता है।

कारणवश यथाच्छंद (शिथिलाचारी) के उपाश्रय में रहते समय उनकी कल्पित सामाचारी सुनाई न दें इसलिए अस्वाध्याय काल में भी स्वाध्याय किया जा सकता है।

कोई मुनि कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो रात्रि जागरण के निमित्त मेघनाद आदि अध्ययनों का अस्वाध्याय काल में भी परावर्त्तन किया जा सकता है।

जिस मुनि के समीप जो श्रुत तत्काल ग्रहण किया है, यदि वह कालगत हो जाए और वह अध्ययन दुर्लभ हो तो उसकी अव्यवच्छित्ति के लिए अस्वाध्याय काल में भी उसका परावर्तन किया जा सकता है।

फलितार्थ यह है कि श्रुतार्जन की अव्यवच्छित्ति, सामाचारी नियम की परिपालना एवं संयम धर्म की अक्षुण्णता आदि कारणों से पूर्वोक्त स्थितियों में स्वाध्याय कर सकते हैं।[41]

दिगम्बर मान्यता में अस्वाध्याय

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी अस्वाध्याय

आचार्य वट्टकेर रचित मूलाचार में द्रव्यादि की अपेक्षा से अस्वाध्याय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शरीर में ज्वर, उदर रोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, शरीर का रुधिर, विष्ठा, मूत्र आदि से लिप्त होना, अतिसार और पीव बहना द्रव्य अपेक्षा से अस्वाध्याय है। वाचनाचार्य के अधिष्ठित प्रदेश से चारों

दिशाओं (**28 हजार धनुष परिमाण क्षेत्रफल**) में विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश, नख आदि रहना तथा निकट स्थान में पंचेन्द्रिय शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिर पड़ा रहना क्षेत्र अपेक्षा से अस्वाध्याय है।

बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आच्छन्न दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात–कुहरा, संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा आदि होना काल अपेक्षा से अस्वाध्याय है।

राग-द्वेष और आर्त्त-रौद्र ध्यान रूप परिणति होना तथा पाँच महाव्रत, समिति, गुप्ति एवं दर्शनाचार का पालन नहीं करना भाव अपेक्षा से अस्वाध्याय है। जो काल द्रव्यादि से शुद्ध हो, उस काल में स्वाध्याय करना चाहिए।[42]

सामान्य कारण सम्बन्धी अस्वाध्याय

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार निम्न स्थितियों में अस्वाध्याय काल रहता है। वे इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि यमपटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्राव होने पर, किसी व्रत में अतिचार लगने पर एवं भिक्षादाता की देह अशुद्ध होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

तिल, मोदक, चिवड़ा, लाई,पुआ आदि चिकनाई युक्त सुगन्धित आहार करने पर और दावानल का धुआँ होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

एक योजन (चार कोश) के क्षेत्र में संन्यास विधि होने पर, महोपवास-विधि, आवश्यक क्रिया एवं केश लोच के समय अध्ययन नहीं करना चाहिए।

नगर या शहर में आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक स्वाध्याय करने का निषेध है। यदि किसी आचार्य का स्वर्गवास एक योजन की दूरी पर हो तो तीन दिन और अत्यन्त दूर होने पर एक दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

किसी प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर, घोर वेदना से तड़फड़ाने पर और एक निवर्त्तन (एक बीघा या गुंठा) क्षेत्र में तिर्यंचों का संचार होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

एक बीघा परिमित भूमि में स्थावरकायिक जीवों का घात होने पर, क्षेत्र अशुद्ध होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्ध के आने पर, शास्त्र पाठ का सम्यक अर्थ समझ में न आने पर, देह के शुद्ध न होने पर मुनि को शास्त्रों का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

मल विसर्जन भूमि से सौ अरत्नि (सबसे छोटा) परिमाण दूर, मूत्र विसर्जन के स्थान से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य सम्बन्धी अवयवों के स्थान से पचास धनुष और तिर्यंचों के शरीर सम्बन्धी अवयवों के स्थान से पच्चीस धनुष परिमाण की क्षेत्र भूमि शुद्ध होने पर ही स्वाध्याय करना चाहिए, अन्यथा अस्वाध्याय होता है।

व्यन्तरों द्वारा भेरी ताड़न जैसी आवाज करने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, खेतों के कार्य होने पर, चाण्डाल बालकों द्वारा समीप में झाड़ू-बुहारी करने पर, अग्नि, जल व रूधिर की अधिकता होने पर और किन्हीं जीवों के शरीर से मांस एवं अस्थियों के निकाले जाने पर क्षेत्र शुद्धि न होने तक उस स्थान पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इन स्थानों की शुद्धि करने के पश्चात मुनि स्वयं के हाथ और पैरों को शुद्ध करें, तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ निर्दोष भूमि पर स्थित होकर वाचना ग्रहण करें।

पर्व दिनों में, नन्दीश्वर द्वीप के महोत्सव के श्रेष्ठ दिनों में, अष्टाह्निका के दिनों में और सूर्य-चन्द्र ग्रहण होने पर सुयोग्य मुनि को अध्ययन नहीं करना चाहिए।

भारी दु:ख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या उन जीवों के समीप होने पर, मेघ गर्जना एवं बिजली चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।[43]

अस्वाध्याय काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्रमण परम्परा में तीर्थंकर पुरुष द्वारा उपदिष्ट एवं गणधर मुनियों द्वारा ग्रथित सूत्र 'आगम' कहलाते हैं। आगम सूत्रों का अध्ययन या पुनरावर्त्तन करना स्वाध्याय है। आगमों के अतिरिक्त श्रुतधर मुनियों द्वारा विरचित शास्त्रों का अध्ययन करना भी स्वाध्याय है। किन्तु आवश्यक क्रिया से सम्बन्धित जैसे सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के सूत्र एवं स्तव-स्तोत्रादि को स्वाध्याय की कोटि में नहीं माना गया है। अत: आवश्यक सूत्रादि के अभ्यास हेतु समय का कोई प्रतिबंध नहीं है यद्यपि आगम देववाणी (अर्धमागधी भाषा) में संकलित होने से देवाधिष्ठित और मन्त्ररूप माने जाते हैं, अतएव सूत्रागम को योग्य काल में ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसी जिनाज्ञा है। उनके अध्ययन हेतु अयोग्य काल अनध्याय काल कहलाता है।

यदि हम अनध्याय काल की अवधारणा को जैनागमों में ढूंढना चाहे तो स्थानांगसूत्र में प्रकट रूप से 28 एवं अप्रकट रूप से 32 अनध्याय काल का वर्णन प्राप्त होता है।[44] इस आगम में चार महोत्सव सम्बन्धी पूर्णिमाओं में स्वाध्याय नहीं करने का निर्देश परवर्ती मालूम होता है क्योंकि वहाँ आसोजी, कार्तिकी, आषाढ़ी एवं चैत्री पूर्णिमा के पश्चात आने वाली प्रतिपदा ही अस्वाध्याय रूप मानी गई हैं। हमें चार महोत्सव सम्बन्धी पूर्णिमा के अस्वाध्याय का सुस्पष्ट वर्णन निशीथसूत्र में उपलब्ध होता है, परन्तु यहाँ इस विषय का सूचन प्रायश्चित्त के रूप में किया गया है। जो मुनि इन चार महोत्सव के दिनों में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।[45] इस प्रकार स्थानांगसूत्र में जो अस्वाध्याय काल कहे गये हैं निशीथसूत्र में उनका उल्लेख प्रायश्चित्त के रूप में किया गया है।

इसके अनन्तर व्यवहारसूत्र में अस्वाध्याय के कारणों का उल्लेख न करते हुए भी अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है तथा शारीरिक अस्वाध्याय की स्थितियाँ होने पर भी स्वाध्याय के विषय में विधि-निषेध का कथन किया है।[46] इस तरह मूलागमों में अस्वाध्याय काल के सम्बन्ध में उक्त चर्चा प्राप्त होती हैं।

यदि आगमिक व्याख्या साहित्य का अध्ययन किया जाए तो वहाँ आवश्यकनिर्युक्ति, निशीथ भाष्य, व्यवहार भाष्य आदि में अस्वाध्याय काल का विवरण अत्यन्त स्पष्टता के साथ उपलब्ध होता है। इन टीकाओं में अस्वाध्याय के मुख्यत: दो भेद किए गए हैं उसमें परसमुत्थ अस्वाध्याय को पाँच प्रकार का बतलाया है। इन्हीं भेदों के आधार पर अन्य भेद-प्रभेदादि की चर्चा की गई है।[47]

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने के प्रयोजन, अनध्याय काल में स्वाध्याय करने के दोष, स्वाध्याय के अपवाद आदि महत्त्वपूर्ण विषय भी व्याख्या साहित्य में पढ़ने को मिलते हैं। यदि आगमेतर (परवर्ती) साहित्य का आलोडन करते हैं तो श्वेताम्बर परम्परा में इस विषयक प्रवचनसारोद्धार [48] तथा दिगम्बर परम्परा में 'मूलाचार' नाम का ग्रन्थ देखा जाता है।[49] यद्यपि प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सामान्य चर्चा करने वाले अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, किन्तु तत्सम्बन्धी सुनियोजित स्वरूप प्रवचनसारोद्धार एवं उसकी टीका में तथा मूलाचार एवं उसकी टीका में परिलक्षित होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अस्वाध्याय काल की अवधारणा आगम सम्मत है तथा परवर्ती साहित्य में प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही तद्युगीन समस्याओं के सन्दर्भ में उनका प्रतिपादन किया गया है।

तुलनात्मक विवेचन

यदि अनध्याय काल का तुलनात्मक स्तर पर अध्ययन किया जाए तो स्थानांगसूत्र, व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, निशीथभाष्य, स्थानांग टीका, मूलाचार, प्रवचनसारोद्धार आदि उपलब्ध साहित्य के आधार पर ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थों में अनध्याय काल से सम्बन्धित पृथक-पृथक विषयों की चर्चा की गई है। सामान्यतया स्थानांगसूत्र में अस्वाध्याय काल के बत्तीस प्रकारों का नामोल्लेख मात्र किया गया है।[50] व्यवहारसूत्रकार ने अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने का निषेध किया है।[51] निशीथसूत्र में इस नियम का विधिवत पालन न करने पर दोषों के निवारणार्थ प्रायश्चित्त बतलाया गया है।[52]

आवश्यकनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, निशीथभाष्य आदि में अस्वाध्याय काल के बत्तीस प्रकारों का आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ ऐसे दो भेदों के आधार पर सविस्तृत प्रतिपादन किया गया है। इन ग्रन्थों में विषय निरूपण की दृष्टि से परस्पर में कुछ अन्तर है।[53] प्रवचनसारोद्धार में यह निरूपण टीका साहित्य के आधार पर किया गया है।[54] दिगम्बर परम्परावर्ती मूलाचार में द्रव्यादि शुद्धि की अपेक्षा से इस विषय का प्रतिपादन है।[55]

इस वर्णन से यह सुनिश्चित होता है कि उपर्युक्त सभी ग्रन्थ एक ही विषय से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करते हैं।

यदि जैन धर्म की प्रचलित परम्पराओं के सन्दर्भ में विचार किया जाए तो यह निश्चित है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ अस्वाध्याय काल को स्वीकार करती हैं तथा दोनों परम्पराओं के द्वारा माने गये अस्वाध्याय के प्रकारों में भी काफी समानता है।

वैदिक परम्परा के आयुर्वेद शास्त्र में अस्वाध्याय काल का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कृष्णपक्ष की अष्टमी और कृष्णपक्ष की समाप्ति के दो दिन (चतुर्दशी एवं अमावस्या), इसी प्रकार शुक्लपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, द्विसंध्याएँ (सुबह-शाम), अकाल में बिजली चमकना, मेघगर्जन होना,

राष्ट्र और प्रजा के व्यथाकाल में, यात्राकाल में, वधस्थान में, युद्ध के समय, महोत्सव और उत्पाद (भूकम्प आदि) के दिन, जिन दिनों में ब्राह्मण अनध्याय रखते हों उन दिनों में एवं अपवित्र अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिए।[56] वैदिक मान्य अस्वाध्याय के पूर्वोक्त कारण जैन मत से काफी समानता रखते हैं। बौद्ध साहित्य में इस विषयक वर्णन तो प्राप्त नहीं हो पाया है किन्तु डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार वहाँ यह चर्चा अवश्य होनी चाहिए।

उपसंहार

आगम ग्रन्थों का अध्ययन जैन साधु-साध्वियों के लिए परम आवश्यक है। वीतराग अरिहंत परमात्मा के द्वारा दिए गए उपदेश जिन ग्रन्थों में संकलित हैं वे आगम कहलाते हैं। आगम, अर्धमागधी भाषा में हैं। जैनों की परम्परागत मान्यता है कि देवी-देवताओं की भाषा भी अर्धमागधी होने से आगम देवाधिष्ठित और मन्त्ररूप माने जाते हैं। अत: आगम पाठों का अभ्यास निर्दोष काल में होना चाहिए। काल परिवर्तनशील है। ग्रह आदि एवं बाह्य घटक तत्त्वों के आधार पर उसमें शुभत्व-अशुभत्व का आरोपण किया जाता है। ज्योतिष शास्त्रादि के अनुसार तदनुरूप परिणाम भी देखे जाते हैं इसलिए आगम पाठों का अभ्यास सुयोग्यकाल में करना चाहिए। सुयोग्य काल में की गई साधना तुरन्त सफल होती है।

सन्दर्भ-सूची

1. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/20-21, 4/2/256-258*
2. *दसविधे अंत लिक्खिए असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा–उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।*
   स्थानांगसूत्र, 10/20
3. *निशीथसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 19/14 की टीका, पृ. 416*
4. *दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा–अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सुरोवराते, पड़ने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे। स्थानांगसूत्र, 10/21*
5. *आवश्यकनिर्युक्ति, भाग 2, पृ. 166/167*
6. *जे भिक्खू चउसु महामहेसु सज्झायं करेइ, करेंत वा साइज्जइ तं जहा–इंदमहे, खंदमहे, जक्ख महे, भूयमहे। निशीथसूत्र, 19/11*

7. नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा-आसाढ पाडिवए, इंदिमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्ह पाडिवए।
स्थानांगसूत्र, 4/2/256
8. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा–पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। स्थानांगसूत्र, 4/2/257
9. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1322
10. (क) वही, 1323
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गा. 1450-51 की टीका
11. महिया उ गब्भमासे, सच्चित्तरओ य ईसिआयंबे।
वासे तिन्नि पगारा, बुब्बुय तव्वज्ज फुसिए य॥
(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 1451
(ख) विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 121
12. प्रवचनसारोद्धार, 1452 की टीका
13. पंसू अ मंसरूहिरे, केससिलावुट्ठि तह रउग्घाए।
मंसरूहिरे अहोरत्तं, अवसेसे जच्चिरं सुत्तं॥
पंसू अचित्तरओ,रयस्सिलाओ दिसा रउग्घाओ।
तत्थ सवाए निव्वायए, य सुत्तं परिहरंति॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1331-1332
14. (क) वही, 1334-1336
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 1455-56 की टीका
15. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1342
(ख) आवश्यक हारिभद्रीय टीका, भा. 2, पृ. 165
16. प्रवचनसारोद्धार, 1459-60 की टीका
17. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 120
18. आवश्यकनिर्युक्ति, 1345
19. वही, 1349
20. प्रवचनसारोद्धार, गा. 1465-1468 की टीका
21. प्रवचनसारोद्धार, 1469-71 की टीका
22. आवश्यकनिर्युक्ति, 1344, 1359

23. व्यवहारभाष्य 3129-30
24. प्रवचनसारोद्धार, 1461-63 की टीका
25. व्यवहारभाष्य, 3148-3152
26. व्यवहारभाष्य, 3223
27. निशीथभाष्य, 6167-6170
28. व्यवहारभाष्य, 3224-3227
29. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 7/17
30. आवश्यकनिर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह), 1422-1429
31. व्यवहारभाष्य, गा. 3228-3238
32. मूलाचार, भा. 1 पृ. 234
33. वही, भाग 1, पृ. 234
34. प्रवचनसारोद्धार, 1458 की टीका
35. निशीथसूत्र, 19/11-12 का भाष्य
36. निशीथसूत्र, पृ. 411-12
37. स्थानांगसूत्र, पृ. 280
38. निशीथसूत्र, पृ. 406
39. (क) व्यवहारभाष्य, गा. 3025-26
    (ख) निशीथभाष्य, गा. 6055
40. व्यवहारभाष्य, गा. 3017-22
41. व्यवहारभाष्य, गा. 3221 की टीका
42. मूलाचार, 5/276 की टीका, पृ. 232
43. वही, पृ. 233-234
44. स्थानांगसूत्र, चौथा-दशवाँ स्थान
45. निशीथसूत्र, 19/11-12
46. व्यवहारसूत्र, 7/16-17
47. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1336-1374
    (ख) व्यवहारभाष्य, 1309-1352
    (ग) निशीथभाष्य, 6078-6184
48. प्रवचनसारोद्धार, 1450-1471

49. मूलाचार, 5/276 की टीका
50. स्थानांगसूत्र, चौथा-दशवाँ स्थान
51. व्यवहारसूत्र, 7/16-17
52. निशीथसूत्र, 19/11-12
53. निशीथभाष्य, गा. 6078-6184
54. प्रवचनसारोद्धार, 1450-1471
55. मूलाचार, 5/276 की टीका
56. सुश्रुतसंहिता, 2/9 10 उद्धृत– भिक्षुआगमकोश, भा.2, पृ. 654

अध्याय-3

स्वाध्याय-भाव चिकित्सा की प्रयोग विधि

जैन धर्म में स्वाध्याय को ज्ञानोपासना का अनिवार्य अंग माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र के 26वें सामाचारी अध्ययन में मुनि की अहोरात्रिक चर्या का निरूपण करते हुए दिन और रात्रि के आठ प्रहरों में चार प्रहर स्वाध्याय के लिए, दो प्रहर ध्यान के लिए, एक प्रहर शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और एक प्रहर निद्रा के लिए निश्चित किया गया है। इससे जैन साधना के क्षेत्र में ज्ञान की उपासना का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह नि:सन्देह स्पष्ट हो जाता है। जैनागमों एवं उससे परवर्त्ती ग्रन्थों में स्वाध्याय के लिए अनुपयुक्त काल और स्थान की भी चर्चा की गई है, जिसका वर्णन पूर्व अध्याय में कर चुके हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र निर्दिष्ट यह विधि अप्रमत्त संयम जीवन का आदर्श है। कालग्रहण आदि योगविधि पूर्वक सूत्र स्वाध्याय करने के लिए आहार एवं निद्रा में व्यर्थ समय गंवाना उचित नहीं माना है। सामान्य तौर पर 15 घंटे (लगभग पाँच प्रहर) का स्वाध्याय विहित किया गया है।

स्वाध्याय शब्द का अर्थ एवं परिभाषाएँ

स्वाध्याय मन को विशुद्ध बनाने का एक श्रेष्ठ प्रयास है। अपने ही भीतर अपना अध्ययन करना, आत्मचिन्तन करना अथवा सत शास्त्रों का मर्यादा पूर्वक अध्ययन करना अथवा श्रेष्ठ शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय का पद विभाग इस प्रकार किया गया है–

• 'स्वेन स्वस्य अध्ययनं स्वाध्याय:'–स्वयं के द्वारा स्वयं का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

स्थानांग टीका, आवश्यक टीका, धर्मसंग्रह आदि में स्वाध्याय का व्युत्पत्तिसिद्ध निर्वचन इस प्रकार देखा जाता है–

• सुष्ठु अर्थात भलीभाँति, मर्यादा के साथ जिसका अध्ययन किया जाता है वह स्वाध्याय है।

• श्रेष्ठ-सम्यक अध्ययन करना स्वाध्याय है।

• आत्मिक अध्यवसायों को प्रशस्त करने वाले श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन करना अथवा स्वाध्याय के लिए जो काल शोभित है, ऐसे पौरुषी काल की अपेक्षा अध्ययन करना, स्वाध्याय है।[1]

• आवश्यक चूर्णिकार ने स्वाध्याय का अर्थ घटन करते हुए लिखा है कि स्वाध्याय श्रुत धर्म रूप है। सामायिक (आचारांग) से द्वादशांग पर्यंत आगमों का परिशीलन करना स्वाध्याय है।[2]

• उत्तराध्ययन टीका में स्वाध्याय का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि प्रवचन का अर्थ 'श्रुत' है श्रुतधर्म का आचरण करना स्वाध्याय है।[3]

दिगम्बर साहित्य में स्वाध्याय शब्द की निम्न व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं-

• सर्वार्थसिद्धि के मतानुसार आलस्य त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है।[4]

• मूलाचार के निर्देशानुसार आप्त प्रणीत चौदह पूर्वों के ज्ञान से युक्त बारह अंग का श्रद्धान करना स्वाध्याय है।[5]

• अनगार धर्मामृत एवं धवला टीका में उक्त कथन की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य आगम की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परावर्त्तना और धर्मकथा करना स्वाध्याय है।[6]

• चारित्रसार के अनुसार अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है।[7] प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्त्वज्ञान को पढ़ना-पढ़ाना, स्मरण करना आदि को भी स्वाध्याय कहा है।[8]

• कार्तिकेयानुप्रेक्षा के मतानुसार पूजा-प्रतिष्ठा आदि से निरपेक्ष होकर, केवल कर्म मल शुद्धि के लिए जिन प्रणीत शास्त्रों को भक्ति पूर्वक पढ़ना स्वाध्याय है।[9]

• तत्त्वार्थराजवार्तिक में स्वाध्याय का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि प्रज्ञातिशय, प्रशस्त अध्यवसाय, प्रवचन स्थिति, संशयोच्छेद, परवादियों की शंका का अभाव, परम संवेग की प्राप्ति, तपोवृद्धि और अतिचार शुद्धि आदि के लिए (श्रुताध्ययन करना) स्वाध्याय है।[10]

• वैदिक विद्वान के अनुसार बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं ही अध्ययन करना, अध्ययन किए हुए का मनन और निदिध्यासन करना स्वाध्याय है। दूसरे अर्थ के अनुसार 'स्वस्थात्मनो अध्ययन'- अपने आपका अध्ययन

करना, स्वयं का जीवन उन्नत हो रहा है या नहीं, इस तरह का चिंतन करना स्वाध्याय है।[11]

स्वाध्याय शब्द में निहित 'अध्याय' शब्द अध्ययन एवं मनन का वाचक है। यदि इस दृष्टि से स्वाध्याय का अर्थ किया जाए तो एक अर्थ होगा स्वयं का अध्ययन। यहाँ स्वयं के अध्ययन से तात्पर्य– व्यक्ति की अपनी अनुभूतियों, वृत्तियों, वासनाओं और मनोदशाओं का ज्ञाता होना अथवा इन्हें जानने का प्रयत्न करना है।

उक्त परिभाषाओं के आधार पर स्वाध्याय शब्द की निष्पत्ति तीन प्रकार से होती है–

1. श्रुतधर्म (द्वादशांग) का आचरण करना।
2. आत्म हितकारी शास्त्र पाठों का अध्ययन करना।
3. अपने भीतर झांककर स्वयं की वृत्तियों एवं वासनाओं को देखना और उनका निराकरण करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार स्वाध्याय पाँच प्रकार से किया जाता है– वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।[12]

वाचना– अध्यापन करना अथवा सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ दोनों को विधि पूर्वक प्रदान करना वाचना कहलाता है।

पृच्छना– ज्ञात विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना अथवा संशय को दूर करने के लिए और निश्चित अर्थ को पुष्ट करने के लिए प्रश्न करना पृच्छा है।

परिवर्त्तना– पढ़े हुए ग्रन्थों का बार-बार पठन करना अथवा परिचित विषय को स्थिर रखने के लिए उसे बार-बार दोहराना परिवर्त्तना है।

अनुप्रेक्षा– परिचित या पठित शास्त्र पाठ का मर्म समझने के लिए मनन-चिन्तन-पर्यालोचन करना अथवा ज्ञात अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है।

धर्मकथा– पठित, पर्यालोचित और स्मृत शास्त्रों का उपदेश देना अथवा त्रिषष्टि शलाका पुरुषों का चरित्र पढ़ना धर्मकथा है।

तत्त्वार्थसूत्र में परिवर्तना के स्थान पर 'आम्नाय' शब्द का उल्लेख है जो समान अर्थ का ही द्योतक है।[13]

उक्त पाँच प्रकारों में से किसी का भी आलम्बन लेकर स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि अधिगृहीत शास्त्र पाठों का स्वाध्याय वाचना आदि पाँच प्रकारों से युक्त किया जाये तो विशेष लाभदायी होता है। स्वरूपत: स्वाध्याय के सभी प्रकार अनुकरणीय हैं।

स्वाध्याय भूमि के प्रकार

जैन आगमिक टीकाओं में स्वाध्याय योग्य भूमि दो प्रकार की कही गई है– 1. नैषेधिकी और 2. अभिशय्या।

1. नैषेधिकी भूमि का अर्थ है– जहाँ स्वाध्याय के अतिरिक्त शेष सब प्रवृत्तियों का निषेध होता है। दिन हो या रात, वह स्थान केवल सूत्र-अर्थ के स्वाध्याय के लिए ही नियत होता है और साधुगण जहाँ से रात्रि में भी स्वाध्याय पूर्णकर वसति में आ सकते हैं, वह नैषेधिकी भूमि कहलाती है।

निषद्या का अर्थ है– जहाँ पर स्वाध्याय हेतु आकर बैठते हैं।

2. अभिशय्या भूमि का अर्थ है– जहाँ रात्रि में स्वाध्याय करने के पश्चात वहीं रात्रि व्यतीत कर उषाकाल में वसति में आ सकते हैं, वह अभिशय्या स्थान कहलाता है।[14]

इन भूमियों के अतिरिक्त स्वाध्याय हेतु सामान्य स्थान भी होता है जहाँ स्वाध्याय करने वाले मुनि ठहरते हैं।

स्वाध्याय भूमि के उक्त दोनों प्रकार विशिष्ट प्रयोजन से माने गए हैं। कब, किस भूमि में स्वाध्याय करना चाहिए? इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार हैं–

अभिशय्या या नैषेधिकी भूमि में गमन करने के प्रयोजन

भाष्यकार संघदासगणि ने नैषेधिकी या अभिशय्या सम्बन्धी भूमि में गमन करने के मुख्यत: पाँच कारण बताये हैं– 1. मूल वसति अस्वाध्यायिक हो। 2. बहुत प्राघूर्णक (अतिथि मुनियों) के आने से वसति संकीर्ण हो गई हो। 3. वसति जीव-जन्तुओं से संसक्त हो गई हो। 4. वर्षा के कारण वसति के कई भाग गलित हो रहे हों। 5. छेद सूत्र आदि गोपनीय ग्रन्थों की व्याख्या करनी हो।[15]

उक्त पाँच कारणों में से प्रथम–अस्वाध्यायिक और चरम–श्रुतरहस्यार्थ– इन दो प्रयोजनों से नैषेधिकी या अभिशय्या भूमि में जाना चाहिए, शेष कारणों से अभिशय्या में ही जाना चाहिए।

अभिशय्या या नैषेधिकी भूमि में स्वाध्याय के उद्देश्य

अस्वाध्याय आदि पूर्वोक्त पाँच कारणों के समुपस्थित होने पर अभिशय्यादि अन्य भूमियों पर स्वाध्याय क्यों करना चाहिए? इसका निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि वसति में अस्वाध्याय होने से सूत्र-अर्थ पौरुषी की हानि होती है। अति संकीर्ण वसति में यदि अनेक मुनियों का निवास होता है तो दिन में ज्यों-त्यों रह जाते हैं, परन्तु रात्रि में मुनियों का अति संघट्टन होता है। परस्पर हाथों का स्पर्शन होता है इससे नींद खुल जाती है, नींद न आने से अजीर्ण आदि रोग होते हैं।

वसति प्राणियों से संसक्त हो गयी हो अथवा वसति में पानी चू रहा हो– इन दोनों में असंयम और संयम विराधना का दोष लगता है। पानी चूने के कारण उपधि गीली हो सकती है, रात्रि में जागना पड़ सकता है इससे मुख्यत: स्वाध्याय हानि होती है। वसति में निशीथ, व्यवहार आदि छेद श्रुत, विद्यामंत्र और योनि प्राभृत जैसे श्रुत रहस्यों को सुनकर अपरिणामक, अतिपरिणामक आदि शिष्य अनर्थ कर सकते हैं। इस विषय में महिष का दृष्टांत उल्लेखनीय है– एक बार एक आचार्य योनिप्राभृत नामक ग्रन्थ का एक प्रसंग पढ़ा रहे थे कि अमुक-अमुक द्रव्यों के संयोग से महिष उत्पन्न हो जाता है। एक उत्प्रव्रजित अगीतार्थ साधु ने छिपकर इस वाचना को सुना, अपने स्थान पर गया, निर्दिष्ट द्रव्यों का संयोजन कर, अनेक भैंसे बनाईं और गृहस्थ द्वारा उन्हें बिकवा दिया। इस प्रकार श्रुत रहस्य का कथन सार्वजनिक स्थान पर करने से ये दोष उत्पन्न होते हैं।[16]

अभिशय्या या नैषेधिकी भूमि पर स्वाध्याय करने सम्बन्धी जो प्रयोजन बतलाए गए हैं, वे संयम विराधना एवं स्वाध्याय हानि आदि दोषों का निरसन करते हैं।

अभिशय्या भूमि सम्बन्धी नियम

यदि अस्वाध्यायिक आदि पूर्वोक्त कारण उत्पन्न होने पर यदि मुनियों को अभिशय्या भूमि आदि में जाना हो तो वे गणावच्छेदक के नेतृत्व में जाएं। उनके अभाव में प्रवर्त्तक, उसके अभाव में स्थविर, उसके अभाव में गीतार्थ मुनि के नेतृत्व में जाएं। इन सबके अभाव में अगीतार्थ की निश्रा में जाएं, किन्तु उन्हें अपनी सामाचारी से अवश्य अवगत करवाना चाहिए जैसे कि पौरुषी आदि का

प्रत्याख्यान सम्यक रूप से करवाना है आदि।

वह अगीतार्थ मुनि मध्यस्थ स्वभावी, अकंदर्पी (हंसी-मजाक न करने वाला) जिससे साधु डरते हों, जो स्वयं अप्रमत्त हो, सामाचारी की अनुपालना कराने में कुशल हो।[17]

भाष्यकार ने यह नियम भी निर्दिष्ट किया है कि मुनि को जिस स्थान का उपयोग अभिशय्या (रात्रिक स्वाध्याय) के रूप में करना हो उस स्थान के मालिक (शय्यातर) से वृषभ मुनि आज्ञा लें कि 'हम स्वाध्याय हेतु यहाँ रहेंगे।' फिर सूर्यास्त के पूर्व ही अभिशय्या स्थान में संस्तारक, उच्चार और काल-भूमियों की प्रतिलेखना कर वसति में आएं। यदि अभिशय्या भूमि पर पहुँचने का मार्ग बाधा रहित हो तो गुरु के साथ प्रतिक्रमण करके तथा व्याघात हो तो प्रतिक्रमण बिना किए ही गुरु को वन्दना करें। उनमें ज्येष्ठ मुनि आलोचना लें, फिर अभिशय्या भूमि पर जाकर प्रतिक्रमण करें।

प्रात:काल में व्याघात (स्तेन, श्वापद, आरक्षक आदि का भय) न हो, तो प्रतिक्रमण किए बिना ही अभिशय्या से वसति में आकर गुरु के साथ प्रतिक्रमण करें। व्याघात हो तो देश या सर्व आवश्यक करके वसति में आएं।[18]

वर्तमान में चारों काल ग्रहण, स्वाध्याय प्रवेदन, उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा आदि क्रियाएँ उपाश्रय में ही सम्पन्न की जाती हैं। इसका मुख्य कारण कालज्ञानी पूर्वधरों का अभाव होना माना जा सकता है। यद्यपि इस हेतु को दर्शाता शास्त्र संदर्भ प्राय: अनुपलब्ध है।

स्वाध्याय के नियम

किसी भी प्रक्रिया को निश्चित विधि से सम्पन्न करने पर ही सफलता मिलती है और आनन्द की प्राप्ति भी होती है। तदर्थ स्वाध्याय हेतु कुछ नियमों का प्रावधान किया गया है, वे निम्न हैं–

1. एकाग्रता– स्वाध्याय के लिए प्राथमिक नियम यह है कि स्वाध्याय करते समय मन एकाग्र रहे, जिससे जिन सूत्रों का स्वाध्याय किया जा रहा है, वे आत्मसात हो सकें, उनके रहस्यों को जाना जा सके। चंचल मन द्वारा स्वाध्याय सार्थक नहीं होता है और स्वाध्याय का आनन्द भी नहीं मिल पाता है।

2. निरन्तरता– स्वाध्याय प्रतिदिन नियमानुसार हो। इसमें किसी प्रकार का विक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि विक्षेप होता है तो पूर्व पठित स्मृति में नहीं रह

पाता है और संदर्भ को समझने के लिए पूर्व पठित को पुन: पढ़ना पड़ता है। इसलिए श्रेष्ठतम यही है कि स्वाध्याय का क्रम अविछिन्न रहे।

3. विषयोपरति– स्वाध्याय के लिए सत् साहित्य का पठन हो। वर्तमान समय में मानसिक विकृति को जन्म देने वाली अनेक पुस्तकें बहुतायत से उपलब्ध हो रही है, जिस साहित्य के अध्ययन से जीवन विकृत हुआ जा रहा है। साहित्य का मन और शरीर पर प्रभाव पड़ता है अतएव सन्मार्गगामी साहित्य का ही वाचन करना चाहिए।

4. प्रकाश की उत्कंठा– स्वाध्याय करते समय यह आत्मविश्वास होना जरूरी है कि इस ज्ञानार्जन से अन्तरात्मा में अपूर्व प्रकाश फैल रहा है और साधना का शुभ संकल्प सुदृढ़ हो रहा है।

5. स्वाध्याय स्थान– स्वाध्याय का स्थान स्वच्छ, शांत और कोलाहल रहित हो। ऐसे स्थान पर स्वाध्याय में चित्त लगता है।

स्वाध्याय आवश्यक क्यों?

स्वाध्याय का लक्ष्य है स्वयं की चित्तवृत्तियों का निरीक्षण करते हुए पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों का अपनयन करना। उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय का मूल्य दर्शाते हुए श्रुत को जल की उपमा दी है और कहा है– क्रोधादि कषाय अग्नि सम है, श्रुत-शील और तप जल सदृश है, श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर कषायाग्नि निस्तेज हो जाती है और वह श्रुतपाठी को जलाने में असमर्थ बन जाती हैं यानी स्वाध्याय से चित्त सरल, शान्त एवं मृदु होता है।[19]

उत्तराध्ययन टीका में श्रुताभ्यासी जीव को अपूर्व आनन्द का अनुभवी ठहराते हुए लिखा है कि मुनि जैसे-जैसे अपूर्व और अतिशयरस युक्त श्रुत का अवगाहन करता है उसे वैसे-वैसे संवेग के नये स्रोत उपलब्ध होते हैं जिस कारण उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।[20] इस टीका में यह भी कहा गया है कि ध्यानयोग आदि किसी भी प्रकार की साधना में प्रयत्नरत साधक असंख्य भवों के संचित कर्मों को क्षीण करता है, किन्तु स्वाध्याय से विशेष कर्म निर्जरा होती है।[21]

दशवैकालिक सूत्र में चार प्रकार की समाधियों में दूसरी श्रुत समाधि बतलाई गई है। श्रुत समाधि (स्वाध्याय) से श्रुत ज्ञान का लाभ प्राप्त होता है, मन की चंचलता समाप्त होती है, आत्मा आत्मभाव में स्थिर बनती है और

दूसरों को उसमें स्थिर करती है। इस प्रकार श्रुत समाधि से स्वाध्याय के चार प्रयोजन सिद्ध होते हैं।[22] यही चर्चा स्थानांगसूत्र में भी की गई है। तदनुसार–

1. स्वाध्याय से श्रुत का संग्रह होता है।
2. शिष्य श्रुतज्ञान से उपकृत होता है, वह प्रेम से श्रुत की सेवा करता है।
3. इससे ज्ञान के प्रतिबंधक कर्मों की निर्जरा होती है।
4. अभ्यस्त श्रुत, विशेष रूप से स्थिर होता है।

दशवैकालिचूर्णि में स्वाध्याय को उत्कृष्ट तप की उपमा देते हुए कहा गया है कि बारह प्रकार का तप दो भागों में विभक्त है– बाह्य और आभ्यंतर। स्वाध्याय आभ्यंतर तप का चौथा प्रकार है। स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप नहीं है।[23]

नन्दी टीका में अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला प्रमुख साधन स्वाध्याय को बतलाया है तथा उसे सद्ज्ञान की कोटि में स्थान दिया है।[24]

भगवती आराधना में स्वाध्याय का माहात्म्य विविध दृष्टियों से रेखांकित किया गया है। आचार्य शिवार्य लिखते हैं कि जो साधु विनय गुण से युक्त होकर स्वाध्याय करता है– वह पाँचों इन्द्रियों का संवर करता है, वचन आदि त्रिगुप्तियों का पालक होता है और एकाग्र मन वाला होता है। जो अतिशयरस से युक्त है और जिसे पहले कभी सुना नहीं है ऐसे श्रुत का वह जैसे-जैसे अवगाहन करता है वैसे-वैसे नवीन धर्म-श्रद्धा से संयुक्त होता हुआ परम आनन्द का अनुभव करता है। स्वाध्याय निमग्न जीव स्वाध्याय से प्राप्त आत्म विशुद्धि द्वारा संयम और तप में स्थित बना हुआ तथा हेयोपादेय में विचक्षण बुद्धि रखता हुआ यावज्जीवन रत्नत्रय रूप साधना मार्ग में रत रहता है।[25]

आचार्य शिवार्य अन्य तपों से स्वाध्याय तप की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जीव करोड़ों भवों में जितने कर्मों को नष्ट करता है, सम्यग्ज्ञानी जीव उतने कर्मों को अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में क्षय कर देता है। अज्ञानी द्वारा दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे अनन्त गुणा शुद्धि भोजन करते हुए ज्ञानी के होती है।[26]

कहने का आशय यह है कि स्वाध्याय करने पर मन, वचन, काया के सभी व्यापारों की विशुद्धि होती है। जिसके परिणामस्वरूप वह रत्नत्रय की आराधना में संलग्न होता हुआ विशुद्ध भावों के आरोहण द्वारा परमात्म स्थिति को समुपलब्ध कर लेता है। *प्रवचनसार में स्वाध्याय को मोह क्षय का उपाय सिद्ध*

करते हुए प्रतिपादित किया है कि अर्हत्शास्त्र द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोह समूह का क्षय हो जाता है इसलिए शास्त्र का सम्यक प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।[27]

इसी क्रम में स्वाध्याय की आवश्यकता पर बल देते हुए यह कहा गया है कि इससे श्रमण एकाग्रता को प्राप्त करता है, एकाग्रता से पदार्थों का निश्चय होता है और निश्चय आगम द्वारा ही होता है इसलिए आगम व्यापार मुख्य है। आगमहीन श्रमण आत्मा को और पर पदार्थ को नहीं जानते हुए कर्मों का क्षय किस प्रकार करेगा? साधु आगम चक्षु है, सर्व प्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधि चक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वत: चक्षु हैं। समस्त पदार्थ विचित्र गुण पर्यायों से युक्त है यह आगम सिद्ध हैं आगम द्वारा श्रमण उनका भी वास्तविक स्वरूप जान लेते हैं। इसी क्रम में आगमवेत्ता को सर्वोत्कृष्ट बतलाते हुए सूचित किया है कि इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं है उसके संयम नहीं है और असंयत श्रमण कैसे हो सकता है? यदि आगम से पदार्थों का श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती है तथा पदार्थों का श्रद्धान करने वाला यदि असंयत हो, तो भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। इसका हार्द यह है कि सम्यक श्रद्धान पूर्वक किए गए आगम अभ्यास (स्वाध्याय) से निर्वाणपद की उपलब्धि होती है।[28]

रयणसार में स्वाध्याय का मूल्यांकन करते हुए यह बताया है कि प्रवचन के सार का अभ्यास ही परब्रह्म परमात्मा के ध्यान का कारण है। विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान ही कर्मों का नाश एवं मोक्ष सुख की प्राप्ति का प्रधान कारण है। प्रवचनसार (जिनागम) का अभ्यास और वस्तु विचार ही ध्यान है। उसी से इन्द्रियों का निग्रह, मन का वशीकरण एवं कषायों का उपशम होता है। इस पंचमकाल में जिनागम का अभ्यास करना ही जिनागम है।[29]

दर्शनपाहुड में स्वाध्याय की उपादेयता को सिद्ध करते हुए उसे दु:ख क्षय का मूल हेतु कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के वचन है कि यह जिनवचन रूप औषधि इन्द्रिय विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने वाली है तथा जन्म-मरण रूप रोग को दूर करने के लिए अमृत सदृश है और सर्व दु:खों के क्षय का कारण है।[30] सूत्रपाहुड के अनुसार जो साधक सूत्र का जानकार है वह भव (संसार) का नाश करता है, जैसे सुई डोरे सहित हो तो गुम नहीं होती। यदि डोरे से रहित

हो तो नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार शास्त्र से रहित मनुष्य भी नष्ट हो जाता है।[31] यहाँ उपमा दृष्टांत से सुई-आत्मा है और डोरा-स्वाध्याय है।

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक में स्वाध्याय की आवश्यकता को पुष्ट करते हुए कहा है कि

1. स्वाध्याय से बुद्धि निर्मल होती है।
2. प्रशस्त स्वाध्याय की प्राप्ति होती है।
3. शासन की रक्षा होती है।
4. संशय की निवृत्ति होती है।
5. परवादियों की शंकाओं के निरसन की शक्ति प्राप्त होती है।
6. तप-त्याग में वृद्धि होती है और 7. अतिचारों की शुद्धि होती है।[32]

सर्वार्थसिद्धि से स्वाध्याय के सुपरिणामों की चर्चा करते हुए संशयोच्छेद और परवादियों की शंका का परिहार इन दो को छोड़कर राजवार्तिक का ही अनुकरण किया गया है।[33]

नयचक्र के कर्त्ता श्री देवसेनाचार्य के अनुसार द्रव्यश्रुत से भावश्रुत होता है फिर क्रम से सम्यग्ज्ञान, संवेदन, आत्म संवित्ति और केवलज्ञान होता है।[34] अतः श्रुतज्ञान को ग्रहण करने के पश्चात आत्म-संवेदन से उसे ध्याना चाहिए। जो श्रुत (स्वाध्याय) का अवलम्बन नहीं लेता वह आत्म सद्भाव से मोह करता है।[35] समयसार में जो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान है उसे शास्त्र पठन का गुण कहा है।[36]

उपर्युक्त उद्धरणों से ध्वनित होता है कि स्वाध्याय या श्रुतार्जन साधना की चरम उपलब्धि हेतु अत्यावश्यक है। इसके सम्यक आश्रय से ही चैतन्य तत्त्व अनुपम-आत्मिक सुख का उपभोक्ता बनता है। अतएव आत्मानुशासन के निर्देशानुसार जो श्रुतस्कन्ध रूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थ रूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूपी पत्तों से व्याप्त है, नय रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है एवं विस्तृत मतिज्ञान रूप जड़ से स्थिर है, बुद्धिमान साधु उस श्रुतस्कन्ध रूप वृक्ष के ऊपर को अपने मन रूपी बन्दर को सदा रमाना चाहिए। मोक्षार्थी साधु को सदैव स्वाध्यायरत रहना चाहिए।[37]

स्वाध्याय का फल

स्वाध्याय के अनुपम फल की महिमा बताते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि इसके अवलंबन से पूर्वोपार्जित दुष्कर्म विनष्ट हो जाते हैं, वर्तमान के पापास्रवों का निरोध हो जाता है और अनागत के अशुभ कर्मों का प्रत्याख्यान हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार स्वाध्यायी जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है[38] और स्वाध्याय के पंच आयामों को आत्मस्थ करता हुआ निम्न परिणाम उपलब्ध करता है।

वाचना (अध्यापन) से जीव कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत (शास्त्र ज्ञान) की आशातना से बच जाता है। श्रुत की आशातना से बचने वाला जीव तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेता है– वह शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेने वाला साधक कर्मों और संसार का अन्त करने वाला होता है। प्रतिप्रश्न (पृच्छना) से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्र-अर्थ दोनों से सम्बन्धित) संदेहों को दूर कर लेता है और कांक्षामोहनीय कर्म को विच्छिन्न कर देता है।

परावर्त्तना (पठित पाठ के पुनरावर्त्तन) से जीव स्मृति को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यञ्जन-लब्धि (वर्ण-विद्या) को प्राप्त होता है। अनुप्रेक्षा (अर्थ का बार-बार चिंतन करने) से आयुकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल कर देता है, दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन कर लेता है, उनके तीव्र रसानुभव को मन्दरसानुभाव कर लेता है, बहुकर्मप्रदेशों को अल्पप्रदेशों में परिवर्तित करता है। असातावेदनीय कर्म का पुनः-पुनः उपचय नहीं करता। संसार रूपी अटवी, जो अनादि और अनन्त है उसे शीघ्र ही पार कर लेता है। धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन (अर्हत्वाणी) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का बन्ध करता है। श्रुत (आगम पाठ) की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और क्लेश को प्राप्त नहीं होता।[39] दशवैकालिक चूर्णिकार के मत से अनुप्रेक्षा में मानसिक परावर्तन होता है, वाचिक नहीं।[40]

श्रुतधर आचार्य शय्यंभवसूरि स्वाध्याय फल का निरूपण करते हुए कहते हैं कि जो मुनि तप, संयम योग और स्वाध्याय योग में सदा प्रवृत्त रहता है, वह क्रोधादि रूप सेना से घिर जाने पर आयुधों (शस्त्र) से सुसज्जित वीर की तरह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में समर्थ होता है।

जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मैल निकल जाने से वह शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, छह काय रक्षक, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि के पूर्व संचित कर्ममल नष्ट हो जाने से उनकी आत्मा विशुद्ध हो जाती है। जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दु:खों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान है, ममत्व रहित और अकिंचन है वह कर्म समूह के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण मेघ पटल से रहित चन्द्रमा। आशय है कि स्वाध्याय करने वाला अष्ट कर्मों से रहित होकर निर्वाण पद रूपी फल को प्राप्त करता है।[41]

धवलाटीका के अनुसार स्वाध्याय का फल गुणश्रेणी आरोहण, निर्जरा एवं संवर है। इसमें इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि वृषभसेन आदि गणधरों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गयी हैं ऐसे द्रव्य सूत्रों को पढ़ने और मनन करने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सभी जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणी से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान अवधिज्ञानी और मन:पर्यव ज्ञानियों को होता है।[42]

धवलाटीकाकार उक्त विषय का समर्थन करते हुए यह भी कहते हैं कि जिन्होंने सिद्धान्त का उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है ऐसे पुरुषों का ज्ञान सूर्य की किरणों के समान निर्मल होता है और जिसने स्वाध्याय बल से चित्त को स्वाधीन कर लिया ऐसी आत्माओं का चारित्र चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान होता है। प्रवचन (श्रुतज्ञान) के अभ्यास से मेरू के समान निष्कम्प, आठ मद एवं तीन मूढ़ता रहित सम्यग्दर्शन होता है। देव, मनुष्य और विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और आठ कर्मों के उन्मूलित होने पर प्रवचन के अभ्यास से सिद्ध सुख भी प्राप्त होता है। श्रुतागम जीवों के मोह रूपी ईंधन को जलाने के लिए अग्नि के समान, अज्ञान रूप अन्धकार के विनाश के लिए सूर्य के समान और द्रव्य एवं भाव कर्म के मार्जन के लिए तपश्चरण के समान है अत: अज्ञान रूपी अंधकार का विनाश करने वाले, भव्य जीवों के हृदय को विकसित करने वाले एवं मोक्ष पथ को प्रकाशित करने वाले श्रुतवाणी की आराधना करनी चाहिए।[43]

तिलोयपण्णत्ति में स्वाध्याय के लौकिक एवं अलौकिक फल की चर्चा करते हुए कहा गया है कि अज्ञान का विनाश, ज्ञान की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली विविध प्रकार की अभ्यर्थना और प्रत्येक समय में होने वाली असंख्यात गुना कर्मों की निर्जरा– यह स्वाध्याय का

साक्षात लोकोत्तर फल है तथा शिष्य-प्रशिष्यों को परम्परा से ज्ञान की प्राप्ति होना पारम्परिक परोक्ष फल है। परोक्ष फल भी दो प्रकार का होता है– एक अभ्युदय और दूसरा मोक्षसुख। सातावेदनीय आदि सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से देव, इन्द्र, राजा मण्डलीक, चक्रवर्ती आदि सुख की प्राप्ति होना यानी इन्द्रादि पद की उपलब्धि होना अभ्युदय सुख है और यह स्वाध्याय का लौकिक फल है तथा तीर्थंकर पद की प्राप्ति होना यह लोकोत्तर फल है।[44]

समाहारत: स्वाध्याय करने से विपुल निर्जरा होती है। श्रुतज्ञान समृद्ध एवं स्थिर होता है। श्रद्धा, संयम, वैराग्य एवं तप में रुचि बढ़ती है। आत्म गुणों की पुष्टि होती है। मन एवं इन्द्रिय निग्रह में सफलता मिलती है। स्वाध्याय–धर्म ध्यान का आलम्बन कहा गया है, इससे चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है। फलत: धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है।

स्वाध्याय न करने के दोष

स्वाध्याय आत्मविशुद्धि का परम हेतु है। स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है। मन की शुद्धि होती है। शुद्ध मन शीघ्र ही स्थिर हो जाता है। स्थिर चित्त में आत्मा का निर्मल प्रतिबिम्ब झलकता है। साधक आत्म दर्शन करने में सक्षम हो जाता है। इस प्रकार स्वाध्याय क्रमश: आत्म दर्शन का कारण बनता है। टीकाकारों के अनुसार स्वाध्याय न करने पर निम्न दोषों की संभावनाएँ रहती है–

1. स्वाध्याय न करने से पूर्वगृहीत श्रुत विस्मृत हो जाता है।
2. नए श्रुत का ग्रहण एवं उसकी वृद्धि नहीं होती है।
3. चारित्र धर्म का अधिकांश समय विकथा एवं प्रमाद में बीतता हैं जिससे मोहनीयकर्म का बन्ध और अनन्त संसार बढ़ जाता है।
4. चारित्र गुणों का नाश होता है।
5. स्वाध्याय के अभाव में साधक इन्द्रियजयी एवं मनोजयी नहीं बन पाता हैं परिणामस्वरूप आत्मिक शांति से दूर हो जाता हैं
6. स्वाध्याय आभ्यन्तर तप का एक प्रकार है। 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्रोक्ति के अनुसार तप से निर्जरा होती है, जबकि स्वाध्याय न करने वाला इस लाभ से वंचित हो जाता है।
7. श्रुत लाभ के अभाव में रत्नत्रय की पूर्णता नहीं हो पाती है और रत्नत्रय की पूर्णता के बिना मोक्ष प्राप्ति असंभव हो जाती है।

अत: मोक्षार्थियों को अनिवार्य रूप से स्वाध्याय का अनुपालन करना चाहिए।[45]

कालिकश्रुत सम्बन्धी स्वाध्याय के विकल्प

सामान्यतया जैन धर्म में 72 आगम मान्य हैं। उनमें नंदीसूत्र के अनुसार 42 कालिकश्रुत और 29 उत्कालिकश्रुत हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यकसूत्र को उत्कालिक कहा गया है। इस प्रकार कुल 42 कालिक + 30 उत्कालिक = 72 आगम होते हैं। आगम परम्परा के अनुसार कालिक श्रुत का अध्ययन दिन और रात्रि के द्वितीय एवं चतुर्थ प्रहर में करना चाहिए। शेष काल (प्रथम व तृतीय प्रहर) उसके लिए निषिद्ध कहे गये हैं जबकि उत्कालिकश्रुत अस्वाध्याय काल को छोड़कर दिन और रात्रि के किसी भी प्रहर में पढ़े जा सकते हैं इनके लिए निश्चित काल का निर्धारण नहीं है। व्यवहारसूत्र में कालिकश्रुत सम्बन्धी स्वाध्याय का वैकल्पिक नियम बताते हुए कहा गया है कि साधु और साध्वी को व्यतिकृष्ट काल में (उत्कालिक श्रुत के स्वाध्याय काल में कालिकश्रुत का) स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है, किन्तु साधु की निश्रा में साध्वियाँ व्यतिकृष्ट काल में (उत्कालिक श्रुत के स्वाध्याय काल में कालिक श्रुत का) भी स्वाध्याय कर सकती हैं।[46]

इस वर्णन का स्पष्टीकरण निम्न हैं– जिन आगमों का स्वाध्याय जिस काल में निषिद्ध है, वह काल उन आगमों के लिए व्यतिकृष्ट काल कहा जाता है। साधु-साध्वी को दिन और रात के द्वितीय तथा तृतीय प्रहर में कालिक श्रुत का स्वाध्याय अर्थात कालिक संज्ञा प्राप्त आगम के मूल पाठ का उच्चारण नहीं करना चाहिए, परन्तु साधु का सान्निध्य हो, तो उन प्रहरों में साध्वी के लिए स्वाध्याय करने का आपवादिक कारण इसलिए है कि कभी-कभी प्रवर्त्तिनी या साध्वियों के मूल पाठ उपाध्याय आदि को सुनना आवश्यक हो जाता है, जिससे कि अन्य साधु-साध्वियों में मूल पाठ की परम्परा बनी रहे। दूसरा, साधु-साध्वियों के परस्पर आगम पाठों के स्वाध्याय का एवं वाचना का दूसरा-तीसरा प्रहर ही योग्य होता है, इसलिए यह छूट दी गई है।

अकाल में कालिकश्रुत सम्बन्धी स्वाध्याय के विकल्प

आगम मर्यादा के अनुसार कालिक श्रुत का स्वाध्याय दिन और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में किया जाता है, दूसरा और तीसरा प्रहर उसके लिए

निषिद्ध है। अत: अकाल के समय कालिक श्रुत का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, किन्तु निशीथभाष्य में संध्याकाल और अस्वाध्यायकाल में नया अध्ययन कंठस्थ आदि करने की अपेक्षा कुछ आपवादिक नियम बतलाए गए हैं जिसमें दृष्टिवाद के लिए सात पृच्छाओं का और अन्य कालिकश्रुत आचारांग आदि के लिए तीन पृच्छाओं का विधान किया है।[47]

निशीथ भाष्यकार के अनुसार अपुनरुक्त रूप से जितना पूछा जाता है, वह एक पृच्छा है। इसके चार विकल्प बनते हैं– 1. एक निषद्या, एक पृच्छा 2. एक निषद्या, अनेक पृच्छा 3. अनेक निषद्या, एक पृच्छा 4. अनेक निषद्या, अनेक पृच्छा अथवा तीन श्लोकों की एक पृच्छा होती है। इस प्रकार कालिकश्रुत की तीन पृच्छाओं में नौ तथा दृष्टिवाद की सात पृच्छाओं में इक्कीस श्लोक होते हैं अथवा जहाँ छोटा या बड़ा एक प्रकरण सम्पन्न होता है, वह एक पृच्छा है अथवा आचार्य की वाचना के जितने अंश का उच्चारण या ग्रहण किया जा सकता है, वह एक पृच्छा है।

स्पष्टार्थ यह है कि दृष्टिवाद के इक्कीस श्लोक परिमाण और अन्य कालिक श्रुत के नौ श्लोक परिमाण पाठ का उच्चारण आदि उत्काल (अहोरात्रि के द्वितीय-तृतीय प्रहर) में किया जा सकता है। 'पृच्छा' शब्द का सामान्य अर्थ प्रश्नोत्तर करना होता है, किन्तु प्रश्नोत्तर के लिए स्वाध्याय या अस्वाध्याय काल का कोई प्रश्न ही नहीं होता है अत: इस प्रकरण में यह अर्थ प्रासंगिक नहीं है।[48]

दृष्टिवाद की सात पृच्छा क्यों? नैगम आदि सात नय हैं। प्रत्येक नय के सौ-सौ प्रकार हैं। दृष्टिवाद में नयवाद की सूक्ष्मता है। वहाँ भेद-प्रभेद सहित नयों की तथा नयाधारित द्रव्यों के स्वरूप की प्ररूपणा है। परिकर्म सूत्रों में गणित की सूक्ष्मता है। वहाँ अष्टांग निमित्त का भी प्रतिपादन है। अतएव ग्रन्थ की विशालता के कारण दृष्टिवाद की सात पृच्छाएँ कही है जिससे पूर्व निर्दिष्ट पाठ परिणाम से अधिक पाठ का भी उच्चारण एक साथ किया जा सके।

दिगम्बर मतानुसार स्वाध्याय योग काल का विभाजन इस प्रकार है– प्रात:काल का स्वाध्याय सूर्योदय से दो घड़ी पश्चात प्रारम्भ करके मध्याह्न में दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त कर देना चाहिए। अपराह्न का स्वाध्याय मध्याह्न के दो घड़ी पश्चात से प्रारम्भ कर सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व समाप्त कर देना चाहिए। पूर्वरात्रिक व वैरात्रिक काल में भी स्वाध्याय का यही क्रम रखा जाना चाहिए।[49]

प्रतिमाह की दृष्टि से स्वाध्याय काल का वर्गीकरण निम्न प्रकार है– ज्येष्ठ मास की प्रतिपदा एवं पूर्णमासी को पूर्वाह्न काल में वाचना की समाप्ति में एक पाद अर्थात एक वितस्ति (जानु) परिमाण की छाया कही गयी है अर्थात इस समय पूर्वाह्न काल में बारह अंगुल परिमाण की छाया रहने पर अध्ययन समाप्त कर देना चाहिए। वही समय अपराह्न काल की वाचना प्रारम्भ करने के लिए कहा गया है। पूर्वाह्न काल में स्वाध्याय प्रारम्भ करके उसे अपराह्न काल में पूर्ण करने पर सात पाद परिमाण छाया रहनी चाहिए। आषाढ़ मास से लेकर पौषमास तक प्रत्येक मास में दो अंगुल छाया परिमाण की वृद्धि होती है इस क्रम से प्रत्येक मास में दो-दो अंगुल की छाया परिमाण को बढ़ाते हुए वाचना समाप्त करनी चाहिए। जैसे– ज्येष्ठ मास में बारह अंगुल की छाया रहने पर पूर्वाह्न का स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिए। इसी तरह आषाढ़ में 14 अंगुल, श्रावण में 16, भाद्रपद में 18, आसोज में 20, कार्तिक में 22, मिगसर में 24 अंगुल परिणाम छाया रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर लेना चाहिए तथा इस वृद्धि क्रम से पौष मास तक एक पाद-बारह अंगुल, दो पाद=चौबीस अंगुल हो जाते हैं। तत्पश्चात पौष मास से ज्येष्ठ मास तक प्रत्येक मास में सूर्य की छाया दो-दो अंगुल न्यून होती जाती है इस दृष्टि से पौष में 22, माघ में 20, फाल्गुन में 18, चैत्र में 16, वैशाख में 14 अंगुल परिमाण छाया रहने पर स्वाध्याय का निष्पाठन कर लेना चाहिए। स्वाध्याय कर्त्ता मुनियों को प्रत्येक माह की हानि-वृद्धि रूप छाया का ध्यान रखते हुए स्वाध्याय का समापन करना चाहिए, यह स्वाध्याय का शुद्ध काल है। स्वाध्याय प्रारम्भ करने का काल प्रत्येक मास के लिए एक समान बतलाया गया है।[50]

स्वाध्याय योग्य काल में कुछ अपवाद

आचार्य शिवार्य अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के निम्न अपवाद कहते हैं कि संलेखनाधारी साधु वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एवं धर्मोपदेश को छोड़कर सूत्र और अर्थ का ही एकाग्रता से स्मरण करते हैं तथा दिन के पूर्व, मध्य, अन्त एवं अर्ध रात्रि– ऐसे चार कालों में तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि खिरती है, फिर भी ये काल स्वाध्याय योग्य नहीं माने गये हैं, परन्तु संलेखनाधारी ऐसे समयों में भी अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं।[51]

उपसंहार

स्वाध्याय चित्तशुद्धि का एक श्रेष्ठ प्रयास है। स्वयं का स्व में अध्ययन करना अथवा मनन करना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय को परमतत्त्व की प्राप्ति का मूल बताते हुए प्राचीन ऋषियों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः'– स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। स्वाध्याय का मूल्य सभी वर्गों में समान रूप से है। वैयक्तिक जगत हो या सामाजिक जगत, उसे संस्कारवान् बनाने हेतु स्वाध्याय ही एक मात्र स्थाई साधन है जैसे हिन्दू समाज वेद और गीता का, मुस्लिम समाज कुरान का, ईसाई समाज बाईबिल का, बौद्ध त्रिपिटक आदि का नित्य अध्ययन करते हैं वैसे ही जैन समाज के लिए आगम शास्त्रों का नित्य स्वाध्याय आवश्यक है। जैनाचार्यों ने गृहस्थ के षट्कर्मों में देव भक्ति और गुरु भक्ति के समान स्वाध्याय को भी अनिवार्य बतलाया है। जैसा कि कहा गया है–

देवार्चा गुरुशुश्रुषा स्वाध्यायः संयमः तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।

गृहस्थ के लिए 1. देव भक्ति 2. गुरु सेवा 3. स्वाध्याय 4. संयम 5. तप और 6. दान– ये छह कर्म नित्य करणीय है अतः आत्मपोषण के लिए स्वाध्याय का आचरण करना ही चाहिए। जैसे अन्न के बिना तन दुर्बल हो जाता है वैसे ही स्वाध्याय के बिना मन दुर्बल हो जाता है।

जैन दार्शनिकों ने स्वाध्याय को विविध उपमाओं से अलंकृत किया है। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में स्वाध्याय अंधकारपूर्ण जीवन-पथ को आलोकित करने के लिए अखंड रूप से प्रज्वलित दीपक के समान है। इसके दिव्य आलोक में हेय, ज्ञेय और उपादेय का परिज्ञान होता है।

शिष्य गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से जिज्ञासा की–भगवन्! स्वाध्याय से किस गुण की उपलब्धि होती है? भगवान ने समाधान देते हुए कहा कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। स्वाध्याय से आत्मा में निर्मल ज्ञान की ज्योति प्रगटती है। अज्ञान दशा समाप्त होती है। साधना का लक्ष्य अज्ञान को नष्ट करना है। स्वाध्याय अज्ञान रूपी रोग को नष्ट करने के लिए साक्षात संजीवनी बूटी है।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दनवन की भी उपमा दी है जैसे नन्दनवन में चारों ओर एक से एक रमणीय, मन को आह्लादित करने वाले दृश्य होते हैं तथा वहाँ पहुँचकर मानव सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि को विस्मृत

कर देता है और आनन्द के झूले में झूलने लगता हैं वैसे ही साधक स्वाध्याय रूपी नन्दन वन में पहुँचकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने कहा है कि स्वाध्याय से योग की प्राप्ति होती है और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्याय मूलक योग की सम्यक साधना करता है, वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।[52] अनुभवी चिन्तकों ने स्वाध्याय को ध्यान के समकक्ष भी बतलाया है। स्वाध्याय में स्व का चिन्तन प्रमुख होता है तो ध्यान में भी ध्याता ध्येय बन जाता है। जब ध्याता किसी अन्य वस्तु का अवलंबन न लेकर स्वयं अपने को ही अपना विषय बनाता है तो वह उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है। इस दृष्टि से स्वाध्याय और ध्यान में कोई अन्तर नहीं है। ध्यान से चित्त एकाग्र होता है तो स्वाध्याय से भी चित्त में एकाग्रता आती है। स्वाध्याय की श्रेष्ठता एवं सर्वोत्कृष्टता का संगान करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में कहा है कि

जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चान्य, इत्यसौ तत्त्व संग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ।।

अर्थात जीव पौद्गलिक शरीर से भिन्न है और पुद्गल जीव से भिन्न है। यही ज्ञान तत्त्व का संग्रह है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसी का विस्तार है। जैन दर्शन में अन्य से स्व की भिन्नता का साक्षात्कार करना इसे भेद विज्ञान कहा गया है। इससे ग्रन्थि भेदन होता है। पर के साथ स्व का बंधन होना ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि के भेदन का अनुभव सम्यक ज्ञान है और यही सच्चा स्वाध्याय है।

भेद विज्ञान होने पर जैसे-जैसे पर सम्बन्धों का छेदन होता जाता है वैसे-वैसे साधक स्वत: स्वयं में स्थिर हो जाता है। स्व से जुड़ना ही ध्यान है। स्वाध्याय से ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से कायोत्सर्ग (देहातीत अवस्था) की सिद्धि होती है।

इसी तथ्य को दशवैकालिक सूत्र में बड़े सुन्दर ढंग से कहा है-

सज्झाय सुज्झाण रयस्स ताइणो
अपाव भावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं
समीरियं रूप्पमलं व जोइणा ।।

जैसे अग्नि में तपाये जाने पर सोने-चाँदी का मल उतर जाता है वैसे ही स्वाध्याय और ध्यान रूपी तप से पूर्वकृत कर्ममल नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को पंचमुखी दीपक की उपमा दी है। पंचमुखी दीपक की यह विशेषता है कि उसमें चार बाती चारों तरफ तथा एक बाती ऊर्ध्वमुखी होने से चारों दिशाओं में भी आलोक प्रसरित होता है और ऊपर भी। इस तरह दीपक के परिपार्श्व का सम्पूर्ण भाग प्रकाशवान हो उठता है। स्वाध्याय की भी यही विशेषता है कि यह जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है यानी विवेक बुद्धि का दीपक प्रज्वलित कर जीवन को जगमगा देता है।

इस प्रकार स्वाध्याय धर्म ध्यान का प्रमुख आलम्बन एवं ज्ञान वृद्धि का मुख्य कारण है। अन्तस के ज्ञानदीप को प्रज्वलित करने के लिए स्वाध्याय आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। योगशिखोपनिषद्कार ने कहा है– जैसे लकड़ी में रही हुई अग्नि बिना घर्षण के प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार हमारे भीतर जो ज्ञान-दीपक विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतया सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से प्राप्त धार्मिक संस्कार मन पर असर करते हैं। इससे व्यक्ति की भावना में परिवर्तन होता है। इसके सुप्रभाव से चोर-लूटेरे-हत्यारे भी उन्मार्ग को छोड़कर सात्त्विक मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं। वर्तमान में सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं के प्रचार से चम्बल घाटी के कई अपराधी अपराध मुक्त जीवन यापित कर रहे हैं और गीता-रामायण आदि सद्ग्रन्थों का पाठ करते हुए शान्ति पूर्वक समय बिता रहे हैं।

संदर्भ-सूची

1. *(क) सुष्ठु, आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः। स्थानांग टीका*
   (ख) अध्ययनम् अध्यायः, शोभनः अध्यायः स्वाध्यायः। आवश्यक टीका
   (ग) सुष्ठ, आ मर्यादया–कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया सा अध्यायः स्वाध्यायः। उद्धृत– अभिधानराजेन्द्रकोश भा. 7, पृ. 280 धर्मसंग्रह अधिकार 3
2. *सुयधम्मो सज्झायो.... सज्झातो नाम सामाइएमादी जाव दुवालसंगं गणिपिडगं। आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 7, 8*
3. *प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः स्वाध्यायः। उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पृ. 584*

4. ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः।
   सर्वार्थसिद्धि, 9/20 की टीका, पृ. 346
5. बारसंगे जिणक्खादं, सज्झायं कथितं बुधे।
   उवदेसइ सज्झायं, तेणुवज्झाउ उच्चदि॥
   मूलाचार, 511
6. अंगंगबाहिरआगमवायणपुच्छणाणुपेहा-परियट्टण-धम्मकहाओ सज्झायोणाम।
   (क) अनगारधर्मामृत, 9/4 की टीका
   (ख) धवला, 13/5, 4,26/64/1
7. स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः। चारित्रसार, 152/5
8. स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च। चारित्रसार, 44/3
9. पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।
   कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स॥
   कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 460
10. प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः।
    तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9/25 की टीका, पृ. 624
11. श्री केशुलालजी महाराज स्मृति ग्रन्थ, पृ. 244
12. वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।
    अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पंचहा भवे॥
    उत्तराध्ययनसूत्र, 30/34
13. वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः।
    तत्त्वार्थसूत्र, 9/25
14. व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, गा. 630-631
15. वही, गा. 645-646
16. वही, गा. 647
17. वही, गा. 650-651
18. वही, गा. 681-682
19. उत्तराध्ययनसूत्र, 23/53
20. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पृ. 586
21. वही, पृ. 584

22. दशवैकालिकसूत्र, 9/4/7-8
23. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 200
24. नन्दी हारिभद्रीय टीका, पृ. 62
25. भगवती आराधना, गा. 103-105
26. वही, गा. 107-109
27. प्रवचनसार, गा. 86
28. वही, गा. 232-237
29. रयणसार, 89-90
30. जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जर-मरण-वाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥
दर्शनपाहुड (अष्टपाहुड), गा. 17
31. सुत्तं हि जाणमाणो, भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सुई जहा असुत्ता, णासदि सुत्ते सहा णोवि॥
सूत्रपाहुड (अष्टपाहुड), गा. 3
32. प्रज्ञातिशयः ..... स्वाध्यायोऽनुष्ठेयः।
तत्त्वार्थवार्तिक, 9/25 की टीका
33. सर्वार्थसिद्धि, 9/25 की टीका, पृ. 349
34. दव्वसुयादो भावं, भावादो होइ भेयसण्णाणं।
संवेयणसंवित्ति, केवलणाणं तदो भणियं॥
नयचक्र, पृ. 179
35. गहिओ सो सुदणाणे, पच्छा संवेयणेण झायव्वो।
जो णहु सुयमवलंबइ, सो मुज्झइ अप्पसब्भावे॥
वही, गा. 349, पृ. 177
36. मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं, असद्दहंतस्य णाणं तु॥
समयसार, गा. 274
37. समुतुङ्गे सम्यक, प्रततमतिमूले प्रतिदिनं ।
श्रुतस्कन्धे धीमान्, रमयतु मनोमर्कटममुम्॥
आत्मानुशासनम्, श्लोक 170

38. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/19
39. वही, 29/20-25
40. दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 29
41. दशवैकालिकसूत्र, 8/61-63
42. धवला, 9/4, 1, 1/3/1
43. वही, 1/1,1,1/47-51/59
44. तिलोयपण्णत्ति, 1/35-42
45. निशीथसूत्र, 19/13, पृ. 412
46. व्यवहारसूत्र, 7/13-14
47. निशीथभाष्य, 6060-6063, उद्देशक 19/9, 10 की चूर्णि
48. वही, गा. 6063
49. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 4, पृ. 525
50. धवला, 9/4, 1, 54/111-114
51. भगवती आराधना, गा. 2046
52. योगदर्शन व्यास भाष्य, 9/28

●

अध्याय-4

योगोद्वहन : एक विमर्श

मन, वचन और काया की समस्त चेष्टाओं को संयमित कर, चित्त की एकाग्रता पूर्वक आगम शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना योगोद्वहन कहलाता है। जैन पद्धति के अनुसार आयम्बिल आदि तप एवं कायोत्सर्ग-खमासमण-वन्दन आदि क्रियाओं के साथ आचारांग आदि आगम शास्त्रों का अभ्यास करना योगोद्वहन है। इस योग साधना के द्वारा रत्नत्रय की आराधना की जाती है। यह ज्ञानार्जन का श्रेष्ठ एवं उत्तम मार्ग है। इससे वीतराग वाणी को सम्यक प्रकार से आत्मस्थ किया जा सकता है। आगमशास्त्रों में कहा गया है कि मूलागमों का अध्ययन विधिपूर्वक करना चाहिए, विधिपूर्वक ग्रहण किया गया ज्ञान आत्मविशुद्धि का कारण और सिद्धपद की प्राप्ति करवाने में समर्थ बनता है।

योगोद्वहन शब्द का अर्थ घटन

योगोद्वहन इस शब्द में दो पदों का संयोग है– योग + उद्वहन। सामान्यत: योग शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु जैन विचारणा में मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तियों को योग कहा गया है। उद्वहन का अर्थ है– ऊर्ध्व दिशा की ओर गमन अर्थात मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी या आत्मोन्मुखी करना योगोद्वहन है।

आचार दिनकर के अनुसार मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को समाधि पूर्वक तप साधना से योजित करना या जोड़ना योग है अथवा आगम शास्त्रों की वाचना ग्रहण करने के लिए गीतार्थ सामाचारी के अनुसार आत्मा को तपश्चरण से जोड़ना योग है तथा आगम ग्रन्थों के अध्ययन हेतु तप, कायोत्सर्ग, कालग्रहण एवं स्वाध्याय प्रस्थापना आदि क्रियाओं को निर्धारित क्रम से करना योगोद्वहन है।[1]

संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार 'योग' शब्द संस्कृत की 'युज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय जुड़कर बना है। संस्कृत व्याकरण में 'युज्' नाम की दो धातुएँ हैं

उनमें से एक का अर्थ 'जोड़ना' है और दूसरे का 'मन:समाधि' अथवा 'मन की स्थिरता' है।[2] फलित की भाषा में कहा जाये तो योग शब्द का अर्थ सम्बन्ध स्थापित करना तथा मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक स्थिरता प्राप्त करना भी है। इस प्रकार साधन और साध्य दोनों ही रूप में 'योग' शब्द अर्थवान है। प्रस्तुत सन्दर्भ में योग के दोनों अर्थ अभीष्ट एवं ग्राह्य है। उद्वहन शब्द में 'उद्' उपसर्ग श्रेष्ठता, उच्च, ऊपर, अतिशय, ऊपर उठना आदि अर्थों का वाचक है। इसका अर्थ होता है- उठाये रखना, संभाले रखना, सहारा देना आदि।[3]

सुस्पष्ट है कि अध्यवसायों को अशुभ से हटाकर शुभ में जोड़ना, उन्हें प्रशस्त वृत्ति से संलग्न रखना और अन्तश्चेतना को ऊपर उठाना योगोद्वहन है अथवा चेतन सत्ता की वह प्रवृत्ति जो उसे निरन्तर समाधि मार्ग की ओर उन्मुख करती है, योगोद्वहन कहलाती है।

योग के प्रकार

जैन अवधारणा में सूत्र योग के दो प्रकार माने गये हैं- 1. गणियोग और 2. बाहिर योग।[4]

गणियोग- जिस सूत्र का योग करते हुए गणिपद दिया जाता है वह गणि योग कहलाता है, जैसे- भगवतीसूत्र गणीयोग है।

बाहिरयोग- गणियोग के अतिरिक्त शेष सूत्रों के योग बाहिरयोग कहलाते हैं। इन्हें अनुक्रम से आगाढ़ योग और अनागाढ़ योग भी कहते हैं।

आगाढ़ योग- आगाढ़ शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ होता है- 'आ समन्तात गाढ़: इति आगाढ़' जो चारों ओर से प्रगाढ़, प्रकृष्ट और अनिवार्य है वह आगाढ़ कहलाता है।

प्राकृत हिन्दी कोश में आगाढ़ शब्द के निम्न अर्थ बताए गए हैं[5]- प्रबल, दु:साध्य, अत्यन्त गाढ़। जो योग अत्यन्त कठिनता के साथ वहन किया जाता है, आगाढ़ योग कहलाता है। जैनाचार्यों के मतानुसार जिन सूत्रों के योग पूर्ण करने के पश्चात ही उससे बाहर निकला जाता है अथवा भगवती आदि कुछ सूत्रों के सम्पूर्ण पाठों को पढ़ लेने के बाद ही अन्य सूत्र योग में प्रवेश होता है वह आगाढ़ योग है। भिक्षु आगम कोश के अनुसार भगवती आदि आगमों के अध्ययनकाल में अध्येता को सघनता से योगवहन करना होता है, इसलिए उसे आगाढ़ योग कहा जाता है।[6] उत्तराध्ययन, आचारांग का सप्तसप्ततिका नामक

चौदहवाँ अध्ययन, प्रश्नव्याकरण, आवश्यक[7], दशवैकालिक, भगवती, महानिशीथ आदि सूत्रों को विधिपूर्वक ग्रहण करना आगाढ़ योग है।

अनागाढ़ योग– जिन सूत्रों का योग सरलतापूर्वक वहन किया जाता है, वह अनागाढ़ योग कहलाता है। आचार्य वर्धमानसूरि के मतानुसार जिस योग में कालग्रहण, खमासमण, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ और दिन पूर्ण न होने पर भी उसे बीच में अपूर्ण छोड़ा जा सकता है अथवा सूत्र की वाचना अपूर्ण रहने पर भी अन्य योग में प्रवेश कर सकते हैं, वह अनागाढ़ योग है। कुछ आचार्यों के अनुसार शारीरिक क्षीणता आदि विशेष कारण होने पर अनागाढ़ सूत्रों के योग में से प्रवेश करने के चार दिन बाद भी निकला जा सकता है अर्थात उन्हें बीच में अपूर्ण छोड़ा जा सकता है।

भावार्थ यह है कि आगाढ़ योग औत्सर्गिक है और अनागाढ़ योग आपवादिक है। आगाढ़ योग आचरण प्रधान है और अनागाढ़ योग परिस्थिति प्रधान है। आगाढ़ योग करते समय किसी तरह की कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो जाये तो भी जिस आगाढ़सूत्र का योग चल रहा हो उसके दिन पूर्ण करने के बाद ही उससे बाहर हो सकते हैं जबकि अनागाढ़ योग में विशेष कारण उत्पन्न होने पर तीन या चार दिन के पश्चात कभी भी बाहर हो सकते हैं यानी उस सूत्र योग को अपूर्ण छोड़ सकते हैं।

नन्दीसूत्र में शास्त्रों के अध्ययन काल की अपेक्षा आगम सूत्रों के दो भेद किए गए हैं– 1. कालिकसूत्र और 2. उत्कालिकसूत्र

कालिकसूत्र– जिन सूत्रों के योग में कालग्रहण आवश्यक होता है, शुद्ध काल की अपेक्षा रहती है तथा जो निर्धारित समय (दिन के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर) में ही पढ़े जाते हैं वे कालिक सूत्र कहलाते हैं। कालिक सूत्रों के अध्ययन हेतु जो प्रहर निश्चित किए गए हैं उनमें भी अस्वाध्याय का समय अवश्य छोड़ना चाहिए। आचार प्रदीप एवं प्रचलित सामाचारी के अनुसार सूर्योदय के 24 मिनट पूर्व से 24 मिनट पश्चात तक तथा सूर्यास्त के 24 मिनट पूर्व से 24 मिनट पश्चात तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

अन्य मत के अनुसार सूर्योदय के 48 मिनट पूर्व से सूर्योदय तक, इसी तरह सूर्यास्त के बाद 48 मिनट तक अस्वाध्याय काल रहता है। प्रचलित सामाचारी में दिन एवं रात्रि के मध्याह्न काल (लगभग 11 : 30 से 12 : 30 बजे तक) का समय अस्वाध्याय काल के रूप में माना जाता है।

उपरोक्त अस्वाध्याय काल में किसी भी आगमसूत्र का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। नन्दी के अनुसार कालिक सूत्रों के नाम इस प्रकार हैं– 1. उत्तराध्ययन 2. दशाश्रुतस्कंध 3. कल्प-बृहत्कल्प 4. व्यवहार 5. निशीथ 6. महानिशीथ 7. ऋषिभाषित 8. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 9. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति 10. चन्द्र प्रज्ञप्ति 11. क्षुद्रिकाविमान विभक्ति 12. महल्लिकाविमान प्रविभक्ति 13. अंग चूलिका 14. वर्ग चूलिका 15. विवाह चूलिका 16. अरुणोपपात 17. वरुणोपपात 18. गरुड़ोपपात 19. धरणोपपात 20. वैश्रमणोपपात 21. वेलन्धरोपपात 22. देवेन्द्रोपपात 23. उत्थान श्रुत 24. समुत्थान श्रुत 25. नागपरिज्ञापनिका 26. निरयावलिका 27. कल्पिका 28. कल्पावतंसिका 29. पुष्पिका 30. पुष्प चूलिका और 31. वह्निदशा।[8] पाक्षिक सूत्रानुसार 32. आशीविष भावना 33. दृष्टिविष भावना 34. चारण सुमिण भावना 35. महासुमिण भावना 36. तेज निसर्ग भावना आदि।[9]

कालिक सूत्रों के योग में कालग्रहण, संघट्टा, आउत्तवाणय, स्वाध्याय प्रस्थापना, पाटली आदि क्रियाएँ अनिवार्य रूप से होती हैं।

उत्कालिक सूत्र– जो सूत्रागम अस्वाध्याय काल (चार सन्ध्याओं- पूर्व सन्ध्या-सूर्योदय वेला, पश्चिम सन्ध्या - सूर्यास्त वेला, अपराह्न– दिवस का मध्यकाल और अर्द्धरात्रि) के अतिरिक्त दिन और रात्रि के सभी प्रहरों में पढ़े जाते हैं वे उत्कालिक सूत्र कहलाते हैं। उत्कालिक सूत्रों के नाम ये हैं– 1. दशवैकालिक 2. कल्पाकल्प 3. चुल्लकल्पश्रुत 4. महाकल्पश्रुत 5. औपपातिक 6. राजप्रश्नीय 7. जीवाभिगम 8. प्रज्ञापना 9. महाप्रज्ञापना 10. प्रमादाप्रमद 11. नन्दी 12. अनुयोगद्वार 13. देवेन्द्रस्तव 14. तन्दुलवैचारिक 15. चन्द्रविद्या 16. सूर्यप्रज्ञप्ति 17. पौरुषीमंडल 18. मण्डल प्रदेश 19. विद्याचरणविनिश्चय 20. गणिविद्या 21. ध्यानविभक्ति 22. मरणविभक्ति 13. आत्म विशुद्धि 24. वीतराग श्रुत 25. संलेखना श्रुत 26. विहार कल्प 27. चरण विधि 28. आतुर प्रत्याख्यान और 29. महाप्रत्याख्यान।[10]

उत्कालिक सूत्रों के योग में कालग्रहण, संघट्टा आदि नहीं होते हैं। किन्तु खमासमण, कायोत्सर्ग, उद्देश, समुद्देश आदि शेष क्रियाएँ कालिक-उत्कालिक दोनों प्रकार के सूत्रों के योग में समान रूप से होती हैं।

निष्पत्ति

यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आगाढ़-अनागाढ़ श्रुत का आधार ढूंढा जाए तो सर्वप्रथम इसका उल्लेख निशीथ भाष्य एवं उसकी चूर्णि में उपधान के रूप में उपलब्ध होता है। जैसा कि निशीथ भाष्य में कहा गया है– जो दुर्गति में गिरने से बचाये वह उपधान (श्रुत अध्ययनकाल में करणीय तप) है। कालिक-उत्कालिक, अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य सूत्रों के उद्देशक, अध्ययन या श्रुतस्कन्ध के लिए आयंबिल आदि जो उपधान रूप तप करणीय हैं, वे करना चाहिए।[11]

श्रुत के दो प्रकार हैं– आगाढ़ श्रुत और अनागाढ़ श्रुत। भगवती आदि आगम आगाढ़ श्रुत हैं तथा आचारांग आदि अनागाढ़ श्रुत हैं। आगाढ़ के लिए आगाढ़ और अनागाढ़ के लिए अनागाढ़ उपधान (तप) करणीय है। जो आगाढ़ और अनागाढ़ में विपर्यास करता है, वह क्रमशः चतुर्गुरू और चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

इस सन्दर्भ में अशकटपिता का दृष्टान्त वर्णित है– एक आचार्य ने वाचनादान से विमुख होकर स्वाध्याय काल को अस्वाध्याय काल घोषित कर दिया। इससे उनके ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हो गया। वे मृत्यु के पश्चात देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर वे आभीर कुल में उत्पन्न हुए। यौवनावस्था प्राप्त होने पर विवाह हुआ और एक कन्या उत्पन्न हुई, जो अत्यन्त रूपवती थी। एक दिन पिता और पुत्री घी बेचने जा रहे थे। पुत्री शकट के अग्रभाग पर बैठी थी। कुछ युवा लोग भी अपनी गाड़ियाँ लेकर उसी मार्ग से जा रहे थे। वे उस कन्या के रूप को देखने के लिए अपनी गाड़ियों को उन्मार्ग में ले गए तो वे टूट गई। इस कारण से पिता ने लड़की का नाम अशकट रख दिया। साथ ही उसका पिता भी अशकट पिता के नाम से प्रसिद्ध हो गया। किसी घटना विशेष से अशकट पिता के नाम से प्रसिद्ध हो गये और पुत्री का विवाह कर दीक्षित बन गए। फिर उन्होंने आगमसूत्रों का अभ्यास प्रारम्भ किया। जब उत्तराध्ययन का क्रम आया तब उसके तीन अध्ययन तो सीख लिए, किन्तु चौथा अध्ययन (असंखयं) सीखते हुए पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो गया। प्रयत्न करने पर भी अध्ययन याद नहीं हुआ। मुनि ने आचार्य से निवेदन किया कि इसके लिए कौन सा योग वहन करूँ? आचार्य ने कहा– जब तक याद न हो, तब तक आयंबिल तप करो। उन्होंने उसी रूप में आयंबिल (उपधान) किये। बारह वर्ष तक आयंबिल करते हुए वे मात्र बारह श्लोक याद

कर पाए और जब बेले-बेले की तपस्या के द्वारा उनका ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हुआ तो उनका अध्ययन द्रुतगति से आगे बढ़ा।

भावार्थ है कि जैसे अशकट पिता ने त्रियोग पूर्वक आगाढ़ योग वहन किया, वैसे ही आगम अभ्यासी मुनियों को योगवहन करना चाहिए। वर्तमान में उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत असंखय नामक चतुर्थ अध्ययन के योग, जो दो दिन में पूर्ण किये जाते हैं उसके पीछे उक्त कथानक ही मुख्य कारण माना गया है। इस प्रकार भाष्य एवं चूर्णि में आगाढ़-अनागाढ़ श्रुत का उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

तदनन्तर व्यवहारभाष्य की टीका में 'आगाढ़प्रज्ञ' शब्द मिलता है। जिसका वाच्यार्थ दु:साध्य रूप से वहन करने योग्य भगवती आदि आगम ग्रन्थ ही है। भिक्षु आगम कोश में गहन गम्भीर ग्रन्थ को आगाढ़प्रज्ञ कहा है। व्यवहार टीका के अनुसार जिन श्रुत ग्रंथों के अध्ययन में अतिशय प्रज्ञा का उपयोग होता हो वे आगाढ़प्रज्ञ शास्त्र हैं। उनमें तद्रूप परिणत होने वाले की बुद्धि उनके तात्पर्यार्थ को ग्रहण कर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है।[12]

तत्पश्चात मध्यकालवर्ती (विक्रम की 10वीं से 15वीं शती के) ग्रन्थों में विवेच्य भेदों का पूर्वापेक्षा विस्तृत स्वरूप उपलब्ध होता है।

योगवाही के लक्षण

योगवाही शब्द की निम्न व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं–

'योगेन वहति इति योगवाही'– जो प्रशस्त योग के द्वारा आत्मा का वहन करता है वह योगवाही है।

स्थानांगटीका के अनुसार 'श्रुतोपधानकारिणी' अर्थात तपोनुष्ठान पूर्वक श्रुत का अध्ययन करने वाला योगवाही कहलाता है।[13]

अभिधानराजेन्द्रकोश के उल्लेखानुसार 'योगेन समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्व लक्षणेन वहतीत्येवं शीलो योगवाही' अर्थात जो समाधि योग में रत हैं एवं समस्त प्रकार के अप्रशस्त कार्यों में अनुत्सुक (उदासीन) है। इन लक्षणों से युक्त मुनि जो वहन करता है अर्थात शास्त्र अभ्यास रूप व्यापार में प्रवृत्त होता है वह शीलवान योगवाही है।[14]

योगवहन करने का सच्चा अधिकारी कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा के रचयिता आचार्य जिनप्रभसूरि के मतानुसार जो धर्म प्रिय हो,

सुविनीत हो, लज्जालु प्रकृतिवान हो, महासत्ववाला हो, सरल परिणामी हो, संसार से विरक्तता हो, दृढ़धर्मी हो, चारित्र में सम्यक रूप से सुस्थित हो, क्रोध, मान, माया और लोभ का विजेता हो, परीषहजित हो, आरोग्यवान हो, मन-वचन-काया से संयत हो, अल्प उपधि धारक एवं अल्प परिग्रही हो, निद्राजयी हो, आहार पर नियंत्रण हो, आलोचना के जल से पाप रूपी मल के समूह को प्रक्षालित करने वाला हो, कल्पत्रेप क्रिया किया हुआ हो, संग्रह का त्यागी हो, गुरु आज्ञा में रत हो– इन 22 लक्षणों से सुसम्पन्न मुनि आगाढ़ और अनागाढ़ सूत्रों के योग कर सकता है।[15]

आचारदिनकर में आगम अध्येता मुनि के निम्न लक्षण बतलाए गए हैं– वह मौनी हो, परीषह को सहन करने में समर्थ हो, क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित हो, बलिष्ठ हो, मित्र और शत्रु में समभाव रखने वाला हो, मन-वचन-काया से गुरु एवं मुनिजनों की प्रसन्नतापूर्वक भक्ति करने वाला हो, कुशल हो, दयालु हो, श्रुतशास्त्र के कल्याणकारी वचन जिसने सुने हो, जिसके मन में पाप कार्यों के प्रति लज्जा का भाव हो, वैराग्यवासित तथा बुद्धिमान हो, जिसने तृषा और निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली हो, जो अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला हो, जिसने प्रायश्चित्त के द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया हो (प्रायश्चित्त किया हुआ हो), जो बाह्य और आभ्यन्तर रूप से रस लोलुपी न हो, जिसने कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीत लिया हो, जो दुष्कृत्यों का त्यागी हो ऐसे कुल 17 गुणों से युक्त मुनि योगवहन करने का अधिकारी होता है।[16]

योगोद्वहन प्रवर्त्तक गुरु के लक्षण

आचार दिनकर के अनुसार योगोद्वहन करवाने वाले गुरु दयालु, शान्त, अशठ, मधुरभाषी, आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त, आर्जव-मार्दव आदि दस यति धर्म के पालक, योगोद्वहन में निपुण, सम्यक अवसर के ज्ञाता, परमार्थ को जानने वाले, कुशल, निद्राजित, मोह विजेता, अप्रमत्त, मद एवं माया रहित और प्रसन्न चित्त वाले– इन गुणों से युक्त होने चाहिए। ऐसा गुरु ही शिष्य को योगोद्वहन करवाने के योग्य होता है।[17]

योगोद्वहन में सहायक मुनि के लक्षण

आगम सूत्रों का अभ्यास करते समय तत्सम्बन्धी कालग्रहण आदि आवश्यक क्रियाओं को निर्विघ्न रूप से सम्पन्न करने के लिए कालग्राही,

दांडीधर, कृतयोगी आदि कई मुनि सहयोगी बनते हैं। वे विशिष्ट योग्यताओं से युक्त होने चाहिए। व्यवहारभाष्य के मतानुसार कालग्राही मुनि– प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, पापभीरु, खेदज्ञ, काल विधि का सम्यक ज्ञाता और अभीरु होना चाहिए।[18]

दण्डधारी मुनि सामुदायिक सामाचारियों का ज्ञाता, विघ्नों एवं अविधि को रोकने वाला, भिक्षा प्रमुख, सर्वस्मृतिधर और धर्म देशना में कुशल होना चाहिए। भिक्षाचर्या आदि में सहयोगी साधु निद्रा एवं आलस्य को जीतने वाला, उत्साहित करने वाला, स्नेहवान, गुणानुरागी, उद्यमवान, दयावान, विषय-कषाय रूप शत्रुओं को जीतने वाला, अनेक आगमों का ज्ञाता, सत्त्वशाली, अनेक कलाओं में निपुण, निर्मल एवं प्रसन्न चित्तवाला होना चाहिए। इन गुणों से युक्त मुनिजन योगवाही के लिए विशिष्ट सहयोगी होते हैं।[19]

योगोद्वहन के लिए क्षेत्र कैसा हो?

योगोद्वहन उत्तम क्षेत्र में किया जाना चाहिए, जिससे इस कठिनतर चर्या का निर्दोष परिपालन किया जा सके। आचार्य वर्धमानसूरि ने योगवहन के अनुकूल क्षेत्र का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि जहाँ बहुत पानी हो, भिक्षा सरलता से मिलती हो, सर्व प्रकार के भयों से सर्वथा मुक्त हो, अनेक साधु-साध्वी, श्रावकों एवं शास्त्र वेत्ताओं से संपन्न हो, निर्दोष जल और अन्न से युक्त हो। नगर अस्थि, चर्म आदि से रहित हो, सर्प, केंकड़ा, छिपकली, मच्छर एवं वृषभ से रहित हो, मार्ग साफ-सुथरे हों, रोग-मारी आदि उपद्रव से मुक्त हों और नगर के लोग अल्पकषायी हों ऐसा क्षेत्र योगवहन के लिए शुभ होता है।[20]

योगोद्वहन कैसी वसति में किया जाए?

वसति शोधन सामान्य मुनियों का दैनिक आचार है अत: योगवाहियों के लिए तो इसे परम आवश्यक माना गया है। क्योंकि योगोद्वहन के दिनों में प्रतिदिन वसति शोधन (शुद्धि) करने के पश्चात ही कालप्रवेदन आदि क्रियाएँ की जाती है। वसति शुद्ध होने पर ही कालग्रहण आदि लिए जाते हैं तथा आगम सूत्रों के उद्देशकादि की वाचना ग्रहण कर सकते है, अन्यथा दिन आदि अमान्य होने से उस दिन के सभी आवश्यक अनुष्ठान निष्फल हो जाते हैं। इसलिए वसति का शुद्ध होना अनिवार्य है। सामान्यतया जो स्थान चर्म, हड्डी, दाँत, नख, केश, मल-मूत्र आदि की अपवित्रता से रहित हो, जिसके नीचे और ऊपर

का भाग छिद्र रहित हो तथा शान्ति प्रदायक, समतल और स्वच्छ छवि वाला हो, वह योगोद्वहन हेतु श्रेष्ठ माना गया है। सूक्ष्म जीवों के समूह से युक्त और दरार वाले आवास वर्जित कहे गये हैं। मुख्य रूप से गृहस्थ ने अपने लिए जो मकान बनवाया है वह योगोद्वहन के लिए सर्वथा उत्तम है।[21]

योगोद्वहन काल में स्थण्डिल भूमि कैसी हो?

जहाँ लोगों का आवागमन न हो, जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति न हो, जल, वनस्पति, तृण, सर्पादि के बिलों से रहित हो, सूक्ष्म बीजादि की उत्पत्ति न हुई हो, भूमि विषम न होकर समतल हो, अन्दर से पोली न हो– इन दस लक्षणों से युक्त भूमि योगवाहियों के मल-मूत्र विसर्जन हेतु श्रेष्ठ मानी गई है।[22] आशय यह है कि उक्त लक्षणोपेत भूमि की गवेषणा पूर्वक योगोद्वहन करना चाहिए।

योगवाही के लिए आवश्यक उपकरण

जैनाचार्यों के निर्देशानुसार योगवाही के उपकरण मिट्टी, तुम्बी या काष्ठ निर्मित होने चाहिए तथा पूर्णत: साफ किए हुए शुद्ध पात्र होने चाहिए। पात्र लपेटने एवं बाँधने के वस्त्र भी नये और स्वच्छ होने चाहिए। इसी के साथ पात्ररज्जू (तिरपणी की डोरी), वस्त्र (उत्तरपट्टा) युक्त संस्तारक, छोटी पूंजणी, गोल आकार की कालग्रहण की दण्डी, आगमशास्त्र, वासचूर्ण, समवसरण, प्रासुक जल आदि उपकरण भी अपेक्षित हैं।[23]

योगोद्वहन हेतु काल विचार

योगोद्वहन प्रशस्त काल में करणीय है। सामान्यतया यह अनुष्ठान अध्यात्म मूलक होने पर भी अशुचि स्थान आदि से रहित, द्रव्यादिक एवं विद्युत पातादि से रहित प्राकृतिक शुद्धि के आधार पर ही संपादित किया जाता है। जब सुभिक्ष हो, साधुओं को उनकी आवश्यक वस्तुएँ सर्व सुलभ हों और विपत्तियों का अभाव हो तब कालिक एवं उत्कालिक योग किए जाने चाहिए।

आर्द्रा नक्षत्र के प्रारम्भ से स्वाति नक्षत्र के अन्त तक का काल कालिक योगों के लिए उपयोगी माना गया है, क्योंकि उक्त नक्षत्रों में सूर्य का उदय रहने से विद्युत, बादल की गड़गड़ाहट एवं वृष्टि होने पर भी अस्वाध्याय नहीं होता है तथा इन दस नक्षत्रों के अतिरिक्त समय में बादल, विद्युत गर्जना आदि होने पर योगोद्वहन नहीं करना चाहिए।[24]

तात्पर्य यह है कि योगोद्वहन हेतु वर्षावास सर्वोत्कृष्ट काल माना गया है।

योगवहन के लिए शुभाशुभ मुहूर्त्त का विचार

योगोद्वहन, जैनागमों के अध्ययन का उत्कृष्ट उपक्रम है। इस चर्या में मुख्य रूप से आगम शास्त्रों का सम्यक एवं समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है। अत: इसे शुभ दिन में प्रारम्भ करना चाहिए।

गणिविद्या,[25] विधिमार्गप्रपा[26] एवं आचार दिनकर[27] के अनुसार निम्न नक्षत्र आदि के होने पर योगोद्वहन में प्रवेश करना चाहिए अथवा उन शुभ योगों में योगोद्वहन प्रारम्भ करना चाहिए।

योग– आगमसूत्रों का अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए अमृतयोग, सिद्धियोग एवं रवियोग शुभ है। रविवार को हस्त, सोमवार को मृगशिरा, गुरुवार को पुष्य, मंगलवार को अश्विनी, बुधवार को अनुराधा, शुक्रवार को रेवती, शनिवार को रोहिणी नक्षत्र हो तो अमृत योग होता है। एकादशी के दिन गुरुवार, षष्ठी के दिन मंगलवार, त्रयोदशी के दिन शुक्रवार, नवमी-प्रतिपदा एवं अष्टमी– इन तीनों में से किसी भी तिथि के दिन रविवार, द्वितीया-दशमी-नवमी के दिन सोमवार हो तो उस दिन सिद्धि योग होता है। सूर्य के नक्षत्र से चन्द्रमा का नक्षत्र अर्थात प्रतिदिन के नक्षत्र गिनने पर दसवाँ, चौथा, छठा, नौवाँ, तेरहवाँ और बीसवाँ नक्षत्र आता हो तो उस दिन रवि योग होता है।

योगवहन प्रारम्भ के लिए मृत्यु योग अशुभ है– रवि को अनुराधा, सोम को उत्तराषाढ़ा, मंगल को शतभिषा, बुध को अश्विनी, गुरु को मृगशिरा, शुक्र को आश्लेषा, शनि को हस्त नक्षत्र हो तो उन वारों में नक्षत्र जन्य मृत्यु योग होता है तथा रवि-मंगल को नन्दा, शुक्र-सोम को भद्रा, बुध को जया, गुरु को रिक्ता एवं शनि को पूर्णा तिथि हो तो तिथि में मृत्यु जन्य योग होता है।

नक्षत्र– समवायांगसूत्र के अनुसार मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद (मतान्तर से श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा), मूल, आश्लेषा, हस्त और चित्रा– ये दस नक्षत्र ज्ञान वृद्धिकर हैं।[28] गणिविद्या के अनुसार अश्विनी, अभिजित, अनुराधा, रेवती और चित्रा नक्षत्र भी विद्या धारण हेतु उत्तम कहे गये हैं। इसी प्रकार मृदु, ध्रुव, चर एवं क्षिप्र नक्षत्र भी शुभ हैं।[29]

ज्ञान प्राप्ति के लिए निम्न नक्षत्र अशुभ माने गये हैं–

1. संध्यागत– जिस नक्षत्र में सूर्य अस्त होने के समय रहता है, वह सन्ध्यागत नक्षत्र कहलाता है।

2. रविगत– जिस नक्षत्र में सूर्य स्थित रहता है, वह रविगत नक्षत्र कहलाता है।

3. विड्वर– टूटा हुआ अर्थात पूर्व द्वार वाले नक्षत्रों में पूर्व दिशा के मार्ग से गमन करने के बदले पश्चिम दिशा से जाने पर वह गिरने वाला विड्वर नक्षत्र कहलाता है।

4. संग्रह– जिस ग्रह में सूर्य हो, उस ग्रह में रहने वाला नक्षत्र संग्रह नक्षत्र कहलाता है।

5. विलम्बी– जिस नक्षत्र पर सूर्य हो, उसके पीछे का तीसरा नक्षत्र विलम्बी कहलाता है।

6. राहुहत– जिस नक्षत्र में ग्रहण हो, वह राहुहत कहलाता है।

7. ग्रह भिन्न– जिस नक्षत्र के बीच से ग्रह जाता है, वह ग्रह भिन्न कहलाता है। इन नक्षत्रों में योगवहन प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।[30]

तिथि– तृतीया, पंचमी, दशमी, एकादशी, त्रयोदशी तथा नन्दा और भद्रा तिथियाँ– अध्ययन प्रारम्भ के लिए उपयुक्त बताई गई हैं।[31]

वार– मंगल और शनि को छोड़कर शेष वार शुभ हैं।

उपर्युक्त नक्षत्रादि एवं प्रशस्त दिन, शुभ स्वप्न, शुभ शकुन आदि के निमित्त मिलने पर योगोद्वहन प्रारम्भ करना चाहिए।

दोष– विधिमार्गप्रपा के अनुसार योगोद्वहन प्रारम्भ करने के दिन पात आदि दोष नहीं होने चाहिए।

दीक्षा, प्रतिष्ठा जैसे श्रेष्ठ अवसरों पर पात आदि दोषों का मुख्य रूप से वर्जन किया जाता है।

सूर्य जिस नक्षत्र में चल रहा हो, उस नक्षत्र से आश्लेषा, मघा, चित्रा, अनुराधा, श्रवण और रेवती नक्षत्र तक गिनने पर जो संख्या आती हो, उस संख्या को अश्विनी नक्षत्र से पुन: गिनने पर जो नक्षत्र आता हो, उस दिन वह नक्षत्र पात दोष से युक्त होता है इसी तरह लता दोष, एकार्गल दोष आदि भी समझने चाहिए।

योगोद्वहन (आगम अध्ययन) सम्बन्धी सूचनाएँ

• पंचकल्पसूत्र के अनुसार अंग शास्त्रों के श्रुतस्कन्धों का उद्देश (पाठ ग्रहण) शुक्लपक्ष में ही होता है। • आचार सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए तृतीया, पंचमी, दशमी, एकादशी और त्रयोदशी– ये तिथियाँ श्रेष्ठ मानी गई हैं।

• चातुर्मास काल के दौरान व्रत या योग (श्रेष्ठ सूत्रों का अध्ययन) प्रारम्भ करते समय वर्ष, मास आदि की शुद्धि नहीं देखनी चाहिए, केवल दिन शुद्धि का विचार करना आवश्यक है। • तप, नंदी, आलोचना आदि शुभ कार्य मृदु, ध्रुव, चर एवं क्षिप्र नक्षत्रों तथा मंगलवार और शनिवार को छोड़कर अन्य वारों में ही करने चाहिए। • मृगशिरा आदि दस विद्या नक्षत्रों में, अमृतसिद्धि योग एवं रवि योग में और शुभ शकुनों के होने पर ही योगोद्वहन प्रारम्भ करना चाहिए। • आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार निशीथसूत्र सम्बन्धी योग में असमर्थ, बाल, रूग्ण आदि साधु नीवि के दिन एकासना करके भी निर्वाह कर सकते हैं। यह आपवादिक नियम दशवैकालिकसूत्र के योगकाल में भी समझ लेना चाहिए।

योगवाहियों के लिए कायोत्सर्ग सम्बन्धी सूचनाएँ

ग्यारह कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जिस दिन अंगसूत्र में प्रवेश करना हो उस दिन ग्यारह कायोत्सर्ग किये जाते हैं–

1. अंगसूत्र के उद्देशक का पहला कायोत्सर्ग।
2. श्रुतस्कन्ध के उद्देशक का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग (अध्ययन) के उद्देशक का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग के आदिम उद्देशकों के उद्देश का चौथा कायोत्सर्ग।
5. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग के अन्तिम उद्देशकों के उद्देश का पांचवाँ कायोत्सर्ग।
6. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग के आदिम उद्देशकों के समुद्देश का छठवा कायोत्सर्ग।
7. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग के अन्तिम उद्देशकों के समुद्देश का सातवाँ कायोत्सर्ग।
8. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग के आदिम उद्देशकों की अनुज्ञा का आठवाँ कायोत्सर्ग।
9. श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी वर्ग के अन्तिम उद्देशकों की अनुज्ञा का नौवाँ कायोत्सर्ग।
10. वर्ग के समुद्देश का दशवाँ कायोत्सर्ग।
11. वर्ग की अनुज्ञा का ग्यारहवाँ कायोत्सर्ग।

दस कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जिस दिन अंगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रवेश करना हो, उस दिन दस कायोत्सर्ग किये जाते हैं–

1. द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उद्देशक का पहला कायोत्सर्ग।
2. द्वितीय वर्ग के उद्देशक का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. द्वितीय वर्ग के आदिम उद्देशकों के उद्देश का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. द्वितीय वर्ग के अन्तिम उद्देशकों के उद्देश का चौथा कायोत्सर्ग।
5. द्वितीय वर्ग के आदिम उद्देशकों के समुद्देश का पांचवाँ कायोत्सर्ग।
6. द्वितीय वर्ग के अन्तिम उद्देशकों के समुद्देश का छठवाँ कायोत्सर्ग।
7. द्वितीय वर्ग के आदिम उद्देशकों की अनुज्ञा का सातवाँ कायोत्सर्ग।
8. द्वितीय वर्ग के अन्तिम उद्देशकों की अनुज्ञा का आठवाँ कायोत्सर्ग।
9. द्वितीय वर्ग के समुद्देश का नौवाँ कायोत्सर्ग।
10. द्वितीय वर्ग की अनुज्ञा का दसवाँ कायोत्सर्ग।

नौ कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जिस सूत्र में अध्ययन अथवा शतक के दो उद्देशक हों उसमें प्रवेश करते समय नौ कायोत्सर्ग निम्न रूप से होते हैं–

1. श्रुतस्कन्ध के उद्देशक सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।
2. श्रुतस्कन्ध के उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. प्रथम अध्ययन अथवा प्रथम शतक के उद्देशक सम्बन्धी सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. अध्ययन या शतक के प्रथम उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का चौथा कायोत्सर्ग।
5. द्वितीय उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पांचवाँ कायोत्सर्ग।
6. प्रथम उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का छठवाँ कायोत्सर्ग।
7. द्वितीय उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का सातवाँ कायोत्सर्ग।

8. प्रथम उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का आठवाँ कायोत्सर्ग।

9. द्वितीय उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का नौवाँ कायोत्सर्ग।

अध्ययन अथवा शतक के दो उद्देशक हो, तो नौ कायोत्सर्ग होते हैं-

1. अध्ययन अथवा शतक के उद्देशक का पहला कायोत्सर्ग।
2. अध्ययन अथवा शतक के प्रथम उद्देशक के उद्देशक का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. अध्ययन अथवा शतक के द्वितीय उद्देशक के उद्देश का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. अध्ययन अथवा शतक के प्रथम उद्देशक के समुद्देश का चौथा कायोत्सर्ग।
5. अध्ययन अथवा शतक के द्वितीय उद्देशक के समुद्देश का पांचवाँ कायोत्सर्ग।
6. अध्ययन अथवा शतक के समुद्देश का छठवाँ कायोत्सर्ग।
7. अध्ययन अथवा शतक के प्रथम उद्देशक की अनुज्ञा का सातवाँ कायोत्सर्ग।
8. अध्ययन अथवा शतक के द्वितीय उद्देशक की अनुज्ञा का आठवाँ कायोत्सर्ग।
9. अध्ययन अथवा शतक की अनुज्ञा का नौवाँ कायोत्सर्ग।

आठ कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

अध्ययन या शतक पूर्ण हो रहा हो अथवा अन्त में दो उद्देशक हों तो आठ कायोत्सर्ग होते हैं-

1. प्रथम उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।
2. द्वितीय उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. प्रथम उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग
4. द्वितीय उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का चौथा कायोत्सर्ग
5. अध्ययन अथवा शतक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पांचवाँ कायोत्सर्ग
6. प्रथम उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का छठवाँ कायोत्सर्ग।
7. द्वितीय उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का सातवाँ कायोत्सर्ग।

8. अध्ययन अथवा शतक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का आठवाँ कायोत्सर्ग।

सात कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

अध्ययन अथवा शतक के दो से अधिक उद्देशक हों, तो प्रथम दिन सात कायोत्सर्ग होते हैं–

1. अध्ययन अथवा शतक के उद्देशक सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।
2. प्रथम उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. द्वितीय उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. प्रथम उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का चौथा कायोत्सर्ग।
5. द्वितीय उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पांचवाँ कायोत्सर्ग।
6. प्रथम उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का छठवाँ कायोत्सर्ग।
7. द्वितीय उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का सातवाँ कायोत्सर्ग।

छह कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जब दो अध्ययन या दो उद्देशक एक दिन में पूर्ण हो रहे हों तो उस दिन छह कायोत्सर्ग होते हैं–

1. प्रथम अध्ययन अथवा प्रथम उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।
2. द्वितीय अध्ययन अथवा द्वितीय उद्देशक के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. प्रथम अध्ययन अथवा प्रथम उद्देश के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. द्वितीय अध्ययन अथवा द्वितीय उद्देशक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का चौथा कायोत्सर्ग।
5. प्रथम अध्ययन अथवा प्रथम उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का पाँचवाँ कायोत्सर्ग।
6. द्वितीय अध्ययन अथवा द्वितीय उद्देशक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का छठवाँ कायोत्सर्ग।

पाँच कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

अध्ययन अथवा शतक की समाप्ति हो और उसका अन्तिम एक उद्देशक पूर्ण करना हो उस दिन पाँच कायोत्सर्ग होते हैं-

1. अध्ययन या शतक के उद्देशक सम्बन्धी उद्देश के सात खमासमण, पहला कायोत्सर्ग।

2. अध्ययन या शतक के उद्देशक सम्बन्धी समुद्देश के सात खमासमण, दूसरा कायोत्सर्ग।

3. अध्ययन या शतक के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण, तीसरा कायोत्सर्ग।

4. अध्ययन या शतक के उद्देशक सम्बन्धी अनुज्ञा के सात खमासमण, चौथा कायोत्सर्ग।

5. अध्ययन या शतक की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण, पांचवाँ कायोत्सर्ग।

अध्ययन उद्देशक रहित हो, उस दिन पाँच कायोत्सर्ग होते हैं-

1. सूत्र के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।
2. श्रुतस्कंध के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. अध्ययन के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग।
4. अध्ययन के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का चौथा कायोत्सर्ग।
5. अध्ययन की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का पाँचवाँ कायोत्सर्ग।

चार कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

सूत्र अथवा श्रुतस्कंध का प्रारम्भ हो रहा हो और अध्ययन उद्देशक रहित हो, उस दिन चार कायोत्सर्ग होते हैं-

1. सूत्र या श्रुतस्कन्ध के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।

2. अध्ययन के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।

3. अध्ययन के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग।

4. अध्ययन की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का चौथा कायोत्सर्ग।

तीन कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जिस दिन एक अध्ययन पूर्ण करना हो, उस दिन तीन कायोत्सर्ग होते हैं-

1. अध्ययन के उद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।

2. अध्ययन के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।
3. अध्ययन की अनुज्ञा के सात खमासमण का तीसरा कायोत्सर्ग।

दो कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जिस दिन श्रुतस्कन्ध का समुद्देश और अनुज्ञा हो, उस दिन दो कायोत्सर्ग होते हैं–

1. श्रुतस्कंध के समुद्देश सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।
2. श्रुतस्कंध की अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का दूसरा कायोत्सर्ग।

एक कायोत्सर्ग सम्बन्धी नियम

जिस दिन श्रुतस्कंध अथवा शतक का समुद्देश हो अथवा अनुज्ञा हो उस दिन एक कायोत्सर्ग होता है–

1. श्रुतस्कंध या शतक के समुद्देश सम्बन्धी अथवा अनुज्ञा सम्बन्धी सात खमासमण का पहला कायोत्सर्ग।

निष्पत्ति– योगोद्वहन काल में प्रतिदिन कितने कायोत्सर्ग करने चाहिए? कितने खमासमण आदि देने चाहिए? इस विषय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनुशीलन करने पर इसका विवेचन आचार दिनकर में प्राप्त होता है। इसमें आचार्य वर्धमानसूरि ने अपनी सामाचारी के अनुसार सूत्र, श्रुतस्कंध, उद्देशक आदि के अध्ययन दिन में कितने कायोत्सर्ग आदि करने चाहिए? इस विषय का स्पष्ट उल्लेख किया है।[32] विक्रम की 14वीं शती के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में निर्दिष्ट विवरण स्पष्ट रूप से पढ़ने में नहीं आया है। इससे संभवतया फलित होता है कि योगोद्वहन काल में कायोत्सर्गादि करने की अवधारणा विक्रम की 14वीं शती के अनन्तर अस्तित्व में आई अथवा आचार्य वर्धमानसूरि ने अपनी सामाचारी के मतानुसार उक्त विधान को उल्लेखित करना आवश्यक समझा होगा। इसका सत्यार्थ गीतार्थ मुनियों के लिए भी अन्वेषणीय है। यहाँ कायोत्सर्ग एवं खमासमण की तालिका तपागच्छ परम्परा के आचार्यों द्वारा संकलित कृतियों के आधार पर प्रस्तुत की है, जो प्राय: आचारदिनकर से समरूपता रखती हैं।[33]

योगवाहियों के लिए नन्दी सम्बन्धी सूचनाएँ

1. जिस अंगसूत्र में दो श्रुतस्कन्ध होते हैं उस सूत्र के योगोद्वहन काल में पाँच नन्दी होती हैं– पहली नन्दी अंगसूत्र के उद्देशक दिन में, दूसरी नन्दी प्रथम

श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा दिन में, तीसरी नन्दी द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उद्देशक दिन में, चौथी नन्दी द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा दिन में और पाँचवीं नन्दी अंगसूत्र की अनुज्ञा दिन में होती है। इस योगकाल में आकसंधि के तीन दिन होते हैं।

2. जिस योग में एक अंग और एक श्रुतस्कन्ध होता है वहाँ तीन नन्दी होती हैं- पहली नन्दी अंगसूत्र के उद्देशक दिन में, दूसरी नन्दी, श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा दिन में और तीसरी नन्दी अंगसूत्र की अनुज्ञा दिन में होती है। इस योग में आकसंधि के चार दिन होते हैं।

3. जिस आगमसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध होता है उसमें दो नन्दी होती हैं- पहली नन्दी श्रुतस्कन्ध के उद्देशक दिन में और दूसरी नन्दी श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा दिन में होती है। इस योग में आकसंधि के दो दिन होते हैं। पुनश्च जिस सूत्रयोग में पाँच नन्दी होती हैं वहाँ आकसन्धि के तीन दिन होते हैं। जिस सूत्रयोग में तीन नन्दी होती हैं वहाँ आकसन्धि के चार दिन होते हैं तथा जिस सूत्र योग में दो नन्दी होती हैं वहाँ आकसन्धि के दो दिन होते हैं।[34]

योगवाहियों के लिए रात्रि अनुष्ठान सम्बन्धी सूचनाएँ

- योगोद्वहन के रात्रिक अनुष्ठान के विषय में यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार दिन में स्वाध्याय प्रस्थापना, कालग्रहण, स्वाध्याय प्रतिक्रमण और काल प्रतिक्रमण का अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, रात्रि में भी उसी प्रकार जानना चाहिए।
- यदि अनुष्ठानकर्त्ता का स्वाध्याय दूषित हो जाये तो अन्य अधिकृत मुनि उसे अनुष्ठान करवाएँ।
- रात्रि में जिस काल का अनुष्ठान किया गया हो, दूसरे दिन प्रभात में पवेयणा विधि करते समय गुरु के समक्ष रात्रि अनुष्ठान सम्बन्धी सब कुछ अनुक्रम से बतलाना चाहिए।
- जिस दिन योग में प्रवेश करें, उस दिन सन्ध्या को व्याघातिक काल ग्रहण नहीं करना चाहिए।
- यदि चार काल ग्रहण किये हों तो रात्रि के चारों प्रहरों में जागृत रहते हुए दिशाओं का अवलोकन करना चाहिए। यदि इसके विपरीत करते हैं तो सभी काल अशुद्ध हो जाते हैं, इसलिए चारों प्रहरों में जागरूक रहते हुए दिशावलोक करना चाहिए। फिर दूसरे दिन प्रभातकाल में अनुष्ठान सम्बन्धी क्रिया करनी चाहिए, तभी वे शुद्ध होते हैं।[35]

योगोद्वहन चर्या सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएँ

जैन उपासना पद्धति में तीन योगों की एकाग्रतापूर्वक एवं विशिष्ट तप की साधना पूर्वक आगम सूत्रों का जो अध्ययन किया जाता है वह योगोद्वहन कहलाता है। सम्यक ज्ञानार्जन की यह आराधना उत्कृष्ट कोटि की है अत: इसमें कुछ सावधानियाँ अपेक्षित हैं जो परवर्ती ग्रन्थों के अनुसार निम्न प्रकार है–[36]

1. एक बार प्रतिलेखित पाटली (मुखवस्त्रिका एवं दंडीयुक्त लकड़ी का छोटा पट्टा) के समक्ष सभी काल ग्रहण किये जा सकते हैं। पाटली की बार-बार प्रतिलेखना करना आवश्यक नहीं है। मात्र प्रवेदन के अनन्तर जब पुन: स्वाध्याय प्रस्थापना करते हैं तब पाटली की फिर से प्रतिलेखना करनी चाहिए।
2. कदाचित कालिक सूत्रों के योग में संघट्टे ग्रहण करना शेष रह जायें तो भगवतीसूत्र के योगोद्वहन के मध्य में उन संघट्टों को ग्रहण कर सकते हैं। आउत्तवाणय अर्थात विशेष रूप से उपयोगवान होकर कालिक सूत्र के योग करते हुए जितने दिन अधिक लगते हैं उतने दिन भगवतीसूत्र के योग में परिगणित नहीं होते हैं।
4. वर्षाऋतु में पाटली के समक्ष काल ग्रहण लेना चाहिए शेष काल में कम्बली के ऊपर दंडी रखकर भी काल ग्रहण कर सकते हैं। परम्परागत सामाचारी के अनुसार यदि दंडी उपलब्ध न हो तो पेन्सिल या स्थापनाचार्य की दण्डी उपयोग में ले सकते हैं। योगवाही का लम्बे दण्डे वाला रजोहरण (दंडासन) मयूरपिच्छ का होना चाहिए।
5. यदि दो काल एक साथ ग्रहण किये हों, तो उसके अनन्तर दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना करके काल ग्रहण सम्बन्धी दोनों अनुष्ठान करें, अन्यथा एक काल रहता है और दूसरा काल निष्फल हो जाता है क्योंकि काल ग्रहण स्वाध्याय के निमित्त होता है। यदि स्वाध्याय की प्रस्थापना न करें तो काल ग्रहण का क्या अर्थ? स्वाध्याय न करने पर काल ग्रहण निरर्थक हो जाता है।
6. योगोद्वहन काल में गुरु को अप्रतिलेखित रजोहरण से वन्दन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह वन्दन शुद्ध नहीं होता है। अप्रतिलेखित रजोहरण से

वसति शुद्धि का प्रवेदन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि अप्रतिलेखित रजोहरण से शुद्ध वसति भी अशुद्ध हो जाती है।

7. योगवाही को अप्रमार्जित स्थान पर आहार ग्रहण, मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन, संघट्ट ग्रहण, आउत्तवाणय ग्रहण और इनका विसर्जन नहीं करना चाहिए।
8. योगकाल में अनाचारिक (मंडलयोगी) मुनि के द्वारा गृहीत काल ग्रहण सभी योगवाहियों के लिए ग्राह्य होते हैं।
9. उपस्थापित मुनि के द्वारा किया गया वसति प्रमार्जन, दिशावलोकन, वसति शोधन, वसति प्रवेदन, दंड प्रतिलेखन आदि अनुष्ठान सभी योगवाहियों को ग्राह्य होते हैं। छोटी दीक्षा लिए हुए मुनि द्वारा की गई उपरोक्त क्रियाएँ-योगवाहियों को ग्राह्य नहीं होती हैं।
10. अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र के योगोद्वहन में चार कालों का ग्रहण नहीं करना चाहिए।
11. भगवतीसूत्र के योग में चमर नामक उद्देशक प्रारम्भ हो तब तक एकान्तर आयंबिल करना चाहिए। फिर विगय ग्रहण हेतु आठ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। आशय यह है कि गीतार्थ आचरणा के अनुसार 'चमर' उद्देशक शुरू होने तक 75 काल ग्रहण एकान्तर आयंबिल तप पूर्वक किये जाते हैं। फिर चमर की दत्ति के समय उक्त कायोत्सर्ग किया जाता है।
12. आकसंधिकाल में दिन वृद्धि हो और गृहीत काल ग्रहण विद्यमान हो तो अन्त में आयंबिल करना चाहिए।
13. प्रकीर्णक सूत्रों के योग में नन्दी नहीं होती है। किन्हीं के मतानुसार प्रथम के दो प्रकीर्णक सूत्रों में नन्दी होती है।
14. सभी आगम सूत्रों के प्रवेश दिन में योगवाहियों को आयंबिल करना चाहिए, किन्तु कुछ आचार्यों के मतानुसार प्रकीर्णक सूत्रों के योग प्रवेश के दिन नन्दी होने पर भी नीवि तप ही करना चाहिए।
15. नन्दी के दिन, 'असंखय' नामक अध्ययन के दिन, 'बंधक' नामक शतक के दिन और 'चमर' नामक अध्ययन के दिन सन्ध्याकाल में व्याघातिक कालग्रहण का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, वह शुद्ध नहीं होता है।

16. चातुर्मास के दौरान किसी योगवाही की मुखवस्त्रिका खो जाये तो श्रावक की मुखवस्त्रिका से योगानुष्ठान नहीं किया जा सकता है।
17. यदि आगमसूत्र के समुद्देश या अनुज्ञा दिन में अकाल में मलोत्सर्ग करना पड़े, वमन हो जाये या गृहीत आहार के परिष्ठापन की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो योगवाही को एक दिन की वृद्धि करके आयंबिल करना चाहिए, ऐसी परवर्ती सामाचारी है। उक्त स्थितियों में उस दिन का काल ग्रहण नष्ट नहीं होता है।
18. यदि एक दिन में दो काल ग्रहण किये हों और उसमें एक काल ही शुद्ध रूप से ग्रहण हुआ हो तो दूसरे दिन एक ही काल ग्रहण लेना चाहिए। यदि एक दिन में आकसंधि सम्बन्धी दोनों काल नष्ट हो गये हों तो दूसरे दिन एक भी कालग्रहण निष्फल नहीं होता है तथा उस दिन योगवाही शिष्य को आयंबिल करना चाहिए उससे दोनों ही काल शुद्ध रहते हैं।
19. आकसंधि दिनों में अकाल संज्ञा (असमय मलोत्सर्ग) करने पर केवल संघट्टा ग्रहण करके पुनः कालानुष्ठान किया जा सकता है। उसके पश्चात पुनः संघट्टा ग्रहण करना चाहिए। यदि अकाल संज्ञा करने से पूर्व प्रवेदन विधि कर ली गई हो, तो दूसरी बार ग्रहण किया गया अनुष्ठान शुद्ध नहीं होता है।
20. गुरु के द्वारा ईर्यापथ प्रतिक्रमण न किया गया हो तब भी उनके समक्ष संघट्ट और आउत्तवाणय का मोचन (त्याग) कर सकते हैं।
21. आगम विधि के अनुसार अनागाढ़ सूत्र के योग में प्रवेश करने के पश्चात रोग आदि कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो जाये तब भी न्यूनतम तीन दिन और तीन काल ग्रहण पूर्ण करने के अनन्तर ही उस सूत्र योग से बाहर निकल सकते हैं।
22. यदि अनागाढ़ सूत्र के योग में प्रवेश करने के तुरन्त बाद शारीरिक अस्वाध्याय हो जाये तो उसके लिए तीन दिन एवं तीन काल ग्रहण की मर्यादा नहीं है, वह कभी भी बाहर निकल सकता है।
23. जब तक सप्तसप्ततिका नामक अध्ययन का योग प्रारम्भ न हो जाये, तब तक एक-दूसरे के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया या लिया गया काल ग्रहण ही शुद्ध होता है।

24. भगवतीसूत्र की अनुज्ञा होने के पश्चात संघट्टा एवं आउत्तवाणय निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन नहीं किया जाता है, क्योंकि भगवती सूत्र के प्रारम्भ दिन से लेकर छह माह पूर्ण होने से पहले ही निर्धारित संघट्टे पूरे कर लिये जाते हैं।
25. असंखय अध्ययन, सप्तसप्तिका अध्ययन, खंधक, गौशालक और चमर नामक उद्देशक- इन पाँच का योगोद्वहन करते समय किसी कारणवश प्राभातिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं हुआ हो, तो अन्य सभी काल ग्रहण के अनुष्ठान नष्ट हो जाते हैं। किन्तु उस दिन सम्बन्धी अनुष्ठान रहते हैं यानी दिन नहीं गिरता है। इस दिन आयंबिल करना चाहिए, ऐसा ज्ञानस्थविर कहते हैं।
26. योगवाही को अप्रतिलेखित वस्त्र धारण करके वसति से सौ कदम आगे गमन नहीं करना चाहिए, अन्यथा गृहीत संघट्टा विफल हो जाता है। (यहाँ अप्रतिलेखित से तात्पर्य संघट्टा लेते समय प्रतिलेखना पूर्वक जो वस्त्रादि लिए जाते हैं उससे अतिरिक्त वस्त्र आदि हैं।)
27. सप्तसप्ततिका अध्ययन का योग करते समय प्राभातिक कालग्रहण के साथ प्रादोषिक, वैरात्रिक एवं अर्द्धरात्रिक काल ग्रहण करना कल्प्य है किन्तु इस अध्ययन सम्बन्धी कालानुष्ठान पूर्ण हो जाने के पश्चात सात दिन पर्यन्त अन्य योगवाहियों के साथ कालग्रहण नहीं करना चाहिए, वह शुद्ध नहीं होता है। सात दिन के बिना अर्द्धकाल भी ग्राह्य नहीं होता है।
28. कालिक सूत्रों के योगकाल में एक से सात काल ग्रहण हो जाने के पश्चात एक दिन बढ़ता है इसी तरह आगे भी सात-सात काल ग्रहण के बाद एक-एक दिन की वृद्धि होती है जैसे कि उत्तराध्ययनसूत्र के योग में 28 काल और 32 दिन होते हैं। उत्कालिक सूत्रों के योग में सात दिन के पश्चात एक दिन की वृद्धि होती है।
29. परम्परागत आचरणा से जिस मुनि के द्वारा सभी सूत्रों का योगोद्वहन कर लिया गया हो, उसके द्वारा ही आचारांग आदि सभी सूत्रों के प्रवेश एवं उत्तारण आदि की क्रिया करवायी जाती है। उस मुनि के अभाव में नंदी-अनुयोगद्वारसूत्र के योग किए हुए मुनि के द्वारा योग प्रवेश और निर्गमन का अनुष्ठान करवाया जाना चाहिए। सेनप्रश्न में कहा गया है कि उपधान

काल में गणि द्वारा दिए गए आदेश ही मान्य होते हैं, अन्य मुनियों द्वारा दिये गये निर्देश स्वीकार नहीं होते हैं।

30. योगोद्वहन काल में नन्दी-अनुयोगद्वार के योग किये हुए मुनि के द्वारा करवाई गई देववंदन की क्रिया शुद्ध होती है, जबकि उपधान तप के विषय में ऐसा नियम नहीं है।
31. व्याघातिक और अर्द्धरात्रिक काल ग्रहण लेने के तुरन्त बाद अनुष्ठान कर्त्ता एवं अनुष्ठान प्रवर्त्तक दोनों को स्वाध्याय प्रस्थापना करनी चाहिए। उसके पश्चात अनुष्ठान की क्रिया और उसके तुरन्त बाद एक पाटली, एक सज्झाय एवं पुनः एक पाटली करनी चाहिए।
32. वैरात्रिक और प्राभातिक काल सम्बन्धी अनुष्ठान– प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन एवं काल प्रवेदन करने के पश्चात किया जाता है। अनुष्ठान कराने वाले मुनियों को एक स्वाध्याय प्रस्थापना करनी चाहिए। अनुष्ठान करने वाले योगवाही को एक काल ग्रहण सम्बन्धी एक और दो कालग्रहण सम्बन्धी दो स्वाध्याय प्रस्थापना करनी चाहिए। अनुष्ठान कर्त्ता एवं अनुष्ठान प्रवर्त्तक दोनों को प्राभातिक काल की स्वाध्याय प्रस्थापना में 'स्वाध्याय पठाउं, जाव सुद्ध' ऐसा पाठ बोलना चाहिए, उसके बाद सूत्रादि का अनुष्ठान करना चाहिए। तदनन्तर क्रमशः वैरात्रिक काल सम्बन्धी पाटली, स्वाध्याय प्रस्थापन और पुनः पाटली क्रिया करनी चाहिए। उसके पश्चात प्राभातिक काल ग्रहण की पाटली, स्वाध्याय प्रस्थापना और पुनः पाटली की क्रिया करनी चाहिए।
33. स्वाध्याय प्रस्थापन या पाटली स्थापन करते समय छींक आदि आ जाये तो उक्त क्रियाएँ विफल हो जाती हैं। इसके बावजूद भी नौ बार तक स्वाध्याय प्रस्थापना आदि का अनुष्ठान किया जा सकता है। नौंवी बार भी किन्हीं कारणों से पूर्वोक्त क्रियाएँ सम्यक रूप से सम्पन्न न हों तो गृहीत काल ग्रहण भी नष्ट हो जाता है।
34. अनुष्ठान कराने वाले आचार्य आदि की स्वाध्याय प्रस्थापन क्रिया बीच में खंडित हो जाये तो वे दूसरी बार स्वाध्याय प्रस्थापन क्रिया नहीं कर सकते हैं तथा उस दिन अन्य योगवाहियों को भी स्वाध्याय प्रस्थापना आदि अनुष्ठान नहीं करवा सकतें हैं। कदाचित अनुष्ठान कराने वाला

अन्य कृतयोगी न हों, तो योगवाही स्वयं स्वाध्याय प्रस्थापन क्रिया करें, ऐसी प्रवृत्ति है। परन्तु प्रचलित सामाचारी के अनुसार योगवाही के द्वारा स्वाध्याय प्रस्थापन क्रिया किये जाने पर सभी योगवाहियों को एक स्वाध्याय प्रस्थापना क्रिया और करनी चाहिए। यहाँ आशय यह है कि अनुष्ठान कारक के अभाव में एक कालग्रहण सम्बन्धी दो बार स्वाध्याय प्रस्थापन करना चाहिए।

35. महानिशीथ, नंदी एवं अनुयोगद्वार इन सूत्रों का योग किया हुआ मुनि अन्य योगवाहियों को योगोद्वहन करवा सकता है। क्योंकि जिस मुनि ने स्वयं ने जिन सूत्रों के योग नहीं किये हैं, वह अन्यों को उन सूत्रों के योग कैसे करवा सकता है?
36. किन्हीं आचार्य के अभिमतानुसार जिस मुनि ने महानिशीथसूत्र के योग नहीं किये हैं किन्तु नन्दी एवं अनुयोगद्वार सूत्र के योग कर लिए हैं वह योग के व्रतोच्चार और दीक्षा नन्दी की क्रिया में नन्दी पाठ और नन्दी क्रिया करवा सकता है, परन्तु उपाधानकाल में नहीं।
37. दिन के प्रथम प्रहर में कालग्रहण, पाटली और स्वाध्याय प्रस्थापना कर लेनी चाहिए, अन्यथा कालग्रहण विनष्ट हो जाता है। यदि कारणवश बाकी रह जाए तो पहली पौरुषी की पाटली स्थापन की क्रिया और स्वाध्याय प्रस्थापन दिन की चौथी पौरुषी में पूर्ण कर सकते हैं।
38. काल प्रवेदन करते समय किसी तरह की असावधानी हो जाये अथवा प्रवेदन करने के पश्चात वसति की परिमित भूमि में अशुचि दिख जाये तो पुनः काल प्रवेदन नहीं करना चाहिए। किन्तु वसति शुद्ध करके सामान्य प्रवेदन (पवेणुं) विधि करनी होती है। वह दिन अमान्य नहीं होता है किन्तु सभी कालग्रहण दूषित हो जाते हैं।
39. कालिक या उत्कालिक योग का अनुष्ठान और पवेयणा विधि करने के पश्चात वसति में अशुचि दिख जाये अथवा स्वाध्याय प्रस्थापना एवं पाटली की क्रिया करने पश्चात अशुचि दिख जाये और तब तक जिन मंदिर एवं स्थंडिल न गये हों तो अशुचि द्रव्य का निवारण कर पुनः से उत्कालिक अनुष्ठान और प्रवेदन विधि करनी चाहिए। यदि कालिक योग

प्रवर्त्तमान हो तो प्रथम प्रहर में प्रवेदन विधि ही कर सकते हैं, इससे दिन निरस्त नहीं होता है, किन्तु कालग्रहण नष्ट हो जाता है।

40. सूत्र योग करने वाले और सूत्रयोग की क्रिया करवाने वाले दोनों को उभय सन्ध्याओं में रजोहरण की प्रतिलेखना करनी चाहिए।
41. योगवाही सन्ध्याकालीन प्रतिलेखना करते समय पाणाहार (आहार-पानी) आदि के प्रत्याख्यान करने से पूर्व द्वादशावर्त्तवन्दन नहीं करे, केवल एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके अनुमति पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करें।
42. क्रियाकारक साधु प्रात:काल में धम्मोमंगल आदि गाथाओं का स्वाध्याय करने के पश्चात और सन्ध्याकाल में स्थंडिल के चौबीस मांडला करने से पूर्व योगोद्वहन की क्रिया करवा सकते हैं।
43. योग प्रवेश के दिन, नन्दी के दिन, अंग सूत्रों या उनके श्रुतस्कन्धों के समुद्देश और उनकी अनुज्ञा के दिनों में आयंबिल करना चाहिए।
44. व्याघातिक कालग्रहण (सन्ध्याकालीन) अथवा अर्द्धरात्रिक कालग्रहण के पश्चात दीर्घ शंका का निवारण कर लें तो दो दिन गिरते हैं, किन्तु कालग्रहण बना रहता है। यदि अंग सूत्रों या उनके श्रुतस्कन्धों के समुद्देश एवं अनुज्ञा के दिन से पूर्व की रात्रि में दीर्घ शंका का निवारण करें तो उस योगवाही का कालग्रहण नष्ट हो जाता है अर्थात उस योगवाही के द्वारा दूसरे दिन समुद्देश या अनुज्ञा का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है।
45. प्रभातकालीन क्रिया करने के पश्चात साध्वी को मासिक धर्म आ जाये अथवा वर्षा आदि के कारण अस्वाध्याय हो जाये तो उस स्थिति में सन्ध्याकालीन अनुष्ठान सम्पन्न कर लेने पर वह दिन गिरता नहीं है।
46. कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापन अथवा पाटली आदि की क्रिया करने के पश्चात और जिनालय जाने से पूर्व ऐसी अंतराय आ जाये तो दिन गिरता है, परन्तु कालग्रहण रहता है।
47. परम्परागत मान्यता के अनुसार शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया एवं तृतीया तथा प्रवचनसारोद्धार के मत से द्वितीया, तृतीया एवं चतुर्थी की सन्ध्या को व्याघातिक काल ग्रहण नहीं करना चाहिए, इनमें किसी तिथि का क्षय हो तो अमावस्या की सन्ध्या को भी व्याघातिक कालग्रहण नहीं करना चाहिए और दिन वृद्धि हो तो चार दिन का स्पर्श करते हुए लें।

48. उपवास किया हुआ योगवाही सन्ध्याकाल में एक खमासमण पूर्वक ही दिवस चरिम प्रत्याख्यान ग्रहण करें, द्वादशावर्त्तवन्दन नहीं करें।
49. आचारांग आदि सूत्रों के योग के मुख्य दिन पूर्ण होने के बाद समुद्देश एवं अनुज्ञा होती है, कारण कि इसमें गिरे हुए दिन की गणना होने से एक दिन आगे-पीछे हो जाता है।
50. जिस दिन किसी सूत्र योग को पूर्णकर उससे बाहर निकलना हो, उससे पूर्व वाला दिन असावधानीवश अमान्य हो जाये तो दूसरे दिन योग में से बाहर नहीं निकल सकते हैं। इसी तरह योग में से बाहर निकलने के पूर्व दिन की मध्यरात्रि व्यतीत हो जाने के पश्चात अकालवृष्टि, विद्युत गर्जन या विद्युत पात आदि हो जाये, तब भी दूसरे दिन योग पूर्णकर उससे बाहर नहीं हो सकते हैं। यदि पूर्व दिन में किसी तरह की बाधा उपस्थित न हुई हो, तो दूसरे दिन सूत्र योग पूर्णकर बाहर हो सकते हैं।
51. चातुर्मास के दौरान वृष्टि, गर्जना, विद्युत प्रकाश आदि होने पर अस्वाध्याय नहीं होता है।
52. विशेष कारण उपस्थित होने पर प्राभातिक काल ग्रहण करते समय तीन बार नोंतरा (स्वाध्याय हेतु शुद्ध कालग्रहण) विधि की जाती है।
53. जिस सूत्र का योग चल रहा हो, उसकी अनुज्ञा न होने तक दंडी, पाटली और योगक्रिया के दंडासन की दो बार प्रतिलेखना करनी चाहिए।
54. कालिक सूत्रों के योगोद्वहन काल में कम्बली, आसन और ओघारिया (रजोहरण की दण्डी पर लपेटा जाने वाला वस्त्र) एकतार का होना चाहिए।
55. कालिकसूत्र योगवाही को असंघट्टित आसन अथवा अप्रमार्जित भूमि पर आहार-पानी नहीं लेना चाहिए।
56. उग्घाड़ा पौरुषी क्रिया करने का समय हो चुका हो तो संघट्ट क्रिया करने से पूर्व पौरुषी क्रिया करके पच्चीस-पच्चीस बोल सहित पात्रादि की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए। उसके पश्चात संघट्ट क्रिया पूर्वक पात्र आदि ग्रहण करने चाहिए।
57. उत्तराध्ययन सूत्र के योग में आउत्तवाणय की क्रिया नहीं होती है।
58. काल ग्रहण लेते हुए, नोंतरा देते हुए, संघट्ट क्रिया करते हुए, आहार सेवन के पश्चात चैत्यवंदन करते हुए, पौरुषी विधि करते हुए

स्थापनाचार्य को अनावृत्त रखना आवश्यक नहीं है, परन्तु उद्देशकादि अनुष्ठान, स्वाध्याय प्रस्थापना, पाटली स्थापना एवं प्रत्याख्यान पूर्ण करते समय स्थापनाचार्य को खुल्ला रखना अनिवार्य है।

59. वर्षादि के कारण जिनदर्शन न कर सकें तो अठारह अभिषेक युक्त प्रतिमा या फोटू के समक्ष चैत्यवंदन कर सकते हैं, इससे दिन नहीं गिरता है।परन्तु सन्ध्याकाल तक वर्षा रूक जाये तो अवश्य जिनालय जाकर चैत्यवंदन करना चाहिए।
60. भिक्षाचर्या या स्थंडिल आदि के लिए गमन करते समय योगवाही के साथ दो से अधिक आचारिक मुनि हों तो वसति से 100 कदम बाहर तक तिर्यञ्च या मनुष्य का व्यवधान मान्य नहीं होता है। 100 कदम के भीतर एक आचारिक साथ में हो तब भी मनुष्यादि का व्यवधान नहीं माना जाता है। यहाँ आड़ या व्यवधान से तात्पर्य-योगवाही और सहवर्ती मुनि दोनों के बीच में से मनुष्य आदि का निकलना है। यदि योगवाही के साथ अन्य मुनि न हों और उन दोनों के बीच में से पशु या मनुष्यादि निकल जाये तो गृहीत भिक्षा योगवाही के लिए अकल्पनीय हो जाती है तथा गृहीत संघट्टा भी चला जाता है। यहाँ पन्यास को दो आचारिक और आचार्य को तीन आचारिक के सदृश माना गया है।
61. अस्वाध्याय काल में नोंतरा विधि नहीं होती है।
62. उपवास करने वाला योगवाही पन्द्रह दिन और उपवास न करने वाला योगवाही एक महीने के पश्चात 'पाली पलटुं' (तप क्रम की परिवर्तन) विधि कर सकता है।
63. योगवाही को सूर्योदय होने से पूर्व दीर्घ शंका का निवारण करना हो तो चूने का पानी, इसके सिवाय दवाई, दाँत, साफ करने की सली आदि महानिशीथ कृत योगी से लेने की प्रवृत्ति है।
64. कालिकसूत्र के योग में प्रवेश करने के दिन कालग्रहण शुद्ध होना आवश्यक है, अन्यथा नये सूत्र में प्रवेश नहीं हो सकता है। परन्तु प्रवेश करने के पश्चात किसी कारणवश बीच में से बाहर निकलना पड़े और पुनः उसी सूत्र में प्रवेश करना हो तो कालग्रहण लेना जरूरी नहीं है।

65. सप्तसप्ततिका नामक अध्ययन के योग में शैक्ष (नूतन साधु) को दो नीवि भी करवा सकते हैं।
66. कालिक सूत्रों को योगोद्वहन करने वाले योगवाही पात्र आदि उपकरणों का ग्रहण (संघट्टा) कर लेने के पश्चात विशेष स्थिति में असंघट्टित (जिन्हें विधिपूर्वक ग्रहण नहीं किया है ऐसे) वस्त्रों को धारण कर और संघट्टित (संस्पर्शित) पात्रा-तिरपणी आदि को ग्रहण कर आहार-पानी के लिए सौ कदम के बाहर जा सकते हैं, परन्तु संघट्टित पात्रादि का असंघट्टित वस्त्रादि के साथ स्पर्श नहीं होना चाहिए। यदि स्पर्श हो जाये तो संघट्टित पात्र आदि उपकरण संघट्टा से बाहर हो जाते हैं तथा पात्रों में रही हुई खाद्य वस्तु योगवाही के लिए अकल्प्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में आहार बच जाये और उसे परिष्ठापित करना पड़े तो दिन गिरता है।
67. असंखय, बंधक, चमर, गोशालक और सप्तसप्ततिका अध्ययन के योग में यदि दूसरा कालग्रहण शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं हुआ हो तो पिछले दिन का अनुष्ठान निरर्थक तो नहीं होता है,परन्तु उसे दूसरे दिन आयंबिल करना चाहिए।
68. किसी भी सूत्र का योग करने के लिए अस्वाध्यायकाल में प्रवेश नहीं करना चाहिए। यदि सूत्र विशेष के योग में प्रवेश करने के पश्चात अस्वाध्याय हो जाये और योग से निकलना आवश्यक हो तो तीन दिन के उपरान्त ही बाहर हो सकते हैं।
69. यदि प्रवर्त्तमान सूत्र का योग पूर्ण करने के पश्चात उसमें से बाहर निकले बिना ही दूसरे सूत्र के योग में प्रवेश कर लिया जाए, और फिर किसी कारणवश बाहर निकलना पड़े तो नये सूत्र के तीन कालग्रहण पूर्णकर उसके पश्चात निकल सकते हैं, तीन दिन पूरे करने की जरूरत नहीं है।
70. अनागाढ़ सूत्रों के योग चल रहे हो, कदाचित बीच में से बाहर निकलना पड़े तो निकलने के छह माह पूर्व पुनः इस सूत्रयोग में प्रवेश कर अनुज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। छः माह के अन्तर्गत अनुज्ञा प्राप्त कर लेने पर उस सूत्र के योग पूर्व में जितने दिन किये हो उतने दिन गिनती में आते हैं, अन्यथा निरस्त हो जाते हैं। तब फिर से उस सूत्र के योग करने होते हैं। स्पष्टार्थ है कि किसी भी अंगसूत्र अथवा श्रुतस्कन्ध के उद्देशक दिन से लेकर छह मास के भीतर उसकी अनुज्ञा हो जानी चाहिए।

71. एक महीने के अन्तर्गत अनागाढ़ सूत्रों के योग में दो बार और अतिरिक्त सूत्रों के योग में तीन बार प्रवेश कर सकते हैं।
72. यदि सूर्यग्रहण दिन में होकर दिन में ही समाप्त हो जाये तो एक दिन की अस्वाध्याय होने से एक दिन गिरता है, यदि ग्रसित हुआ अस्त होता है तो दो दिन गिरते हैं।
73. चन्द्रग्रहण रात्रि में होकर रात्रि में ही समाप्त हो जाये तो एक दिन भी नहीं गिरता है परन्तु चन्द्रमा ग्रसित हुआ ही अस्त हो जाए तो एक दिन गिरता है।
74. व्याघातिक काल की पहली स्वाध्याय प्रस्थापना सभी योगवाहियों को एक साथ करनी चाहिए, शेष काल सम्बन्धी पहली स्वाध्याय प्रस्थापना युगपद करने का नियम नहीं है।
75. संघट्ट क्रिया पूर्ण करने के पश्चात 'अविधि आशातना मिच्छामि दुक्कडं' पाठ बोल दिया हो, उसके पश्चात आउत्तवाणय का अनुष्ठान करते समय असावधानीवश भूल हो जाये तो पुनः 'आउत्तवाणय' क्रिया करनी चाहिये, परन्तु संघट्ट क्रिया करना आवश्यक नहीं होता है।
76. प्राभातिक आदि काल ग्रहण करते समय विकलेन्द्रिय (भंवरा, मच्छर, मकोडा आदि) जीवों के द्वारा दंडी, पाटली या दंडासन हिल जाये तो कालग्रहण नष्ट हो जाता है, केवल स्पर्श मात्र हो तो काल नहीं जाता है।
77. आचारिक और संघट्ट योगवाही का परस्पर में व्यवधान (आड़) नहीं माना जाता है।
78. वसति का शोधन करने के तुरन्त बाद संघट्टा लेना प्रारम्भ कर देना चाहिए। उसके बाद अचानक किसी के नकसिर (नाक में से खून) गिरने लग जाये अथवा मच्छर आदि के उपद्रव से रक्त निकलना शुरू हो जाये तो पुनः वसति शुद्धि करके दंडी की स्थापना करें, इससे संघट्टा नष्ट नहीं होता है।
79. जिस आचार्यादि मुनियों ने सूत्रादि का उद्देश कराया हो, उन्हीं के द्वारा समुद्देश और अनुज्ञा की क्रिया करवायी जाये, ऐसा नियम नहीं है। अन्य अधिकृत मुनि भी समुद्देशादि क्रिया करवा सकते हैं।

80. काल प्रवेदन करते समय किसी योगवाही को छींक आ जाये या सुनाई पड़ जाये तो कालग्रहण नष्ट हो जाता है, उस दिन प्रवेदन क्रिया होती है।
81. पात्रादि का संघट्टा लेते समय तत्सम्बन्धी बोल बोलते हुए योगवाही के हाथ में से कोई उपकरण आदि गिर जाये या बोल का पुनरावर्तन हो जाये या एकाध बोल विस्मृत हो जाये या दंडी स्थापन करते समय छींक आदि सुनाई पड़ जाये या स्वयं योगवाही को छींक आ जाये तो दुबारा संघट्ट क्रिया करनी चाहिए।
82. संघट्टा लेने के बाद रजोहरण या मुखवस्त्रिका शरीर से स्पर्शित होते हुए गिरे तो संघट्टा नष्ट नहीं होता है, यदि शरीर से अस्पर्शित होकर गिरे तो संघट्टा अमान्य हो जाता है।
83. योगोद्वहन काल में दो पात्रों के ऊपर तीसरा, चौथा आदि पात्र नहीं रखने चाहिए क्योंकि दो से ऊपर के पात्रों का संघट्टा नष्ट हो जाता है यानी उन पात्रों में रही आहार आदि सामग्री योगवाही के लिए अग्राह्य हो जाती है, नीचे के दो पात्र ही संघट्टे में रहते हैं।
84. कालिक सूत्रों के योगकाल में एक पात्र में से दूसरे पात्र में आहारादि प्रदान करते हुए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दोनों पात्र एक दूसरे से स्पर्शित रहे, यदि पृथक-पृथक (अस्पर्शित) रहें तो एक मुनि दूसरे मुनि को आहारादि न दें, क्योंकि पृथक स्थिति में आहारादि नीचे गिरने की सम्भावना रहती है।
85. योगोद्वाही के किसी अंग पर फोड़ा, फुन्सी हो जाये और उसमें से पीप या रक्तादि निकले तो वसति अशुद्ध कही जाती है।
86. आगाढ़ योग में से अनागाढ़ योग में प्रवेश करना हो, तो निर्गमन एवं प्रवेश की क्रिया एक ही दिन में कर सकते हैं।
87. एक सूत्र का योग पूर्णकर दूसरेसूत्र के योग में प्रवेश करना हो, तो पूर्व दिन आयंबिल आदि तप करने का नियम नहीं है, नीवि तप हो तो भी दूसरे दिन प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु योग में से निकलना हो तो पूर्व दिन आयंबिल करना आवश्यक है।
88. अनागाढ़ योग में से आगाढ़ योग में प्रवेश करना हो तो योग निक्षेप (निर्गमन) की क्रिया करना आवश्यक नहीं है, परन्तु आगाढ़ योग में से

अनागाढ़ योग में प्रवेश करना हो तो योग निक्षेप करवाकर अनागाढ़ योग में प्रवेश करवाना चाहिए, अन्यथा सभी दिन आगाढ़ योग में गिने जाते हैं।

89. परम्परागत सामाचारी के अनुसार शुक्ल पंचमी, दो अष्टमी एवं दो चतुर्दशी इन पाँच तिथियों के दिन सूत्र योग को पूर्ण नहीं करना चाहिए, किन्तु योग में प्रवेश कर सकते हैं।
90. योगवाही के बंधे हुए रजोहरण द्वारा अकृतयोगी मुनि संघट्टा आदि नहीं ले सकता है।
91. कालप्रवेदन करते समय यदि योगवाही उपस्थित न हो तो उसका कालग्रहण नष्ट हो जाता है।
92. कालिक योग में सात कालग्रहण के बाद एक दिन बढ़ता है। उत्कालिक योग में सात दिन के बाद एक दिन बढ़ता है। मूल दिन और वृद्धि दिन के पश्चात अमान्य दिनों की सम्पूर्ति करनी चाहिए।
93. तपागच्छ सामाचारी के अनुसार प्रवर्त्तमान सूत्र की अनुज्ञा हो जाने के बाद कालिक सूत्रों के योग में प्रवेदन क्रिया करते समय **इच्छाकारेण भगवन्! तुम्हे अम्हं...श्रुतस्कंधे संघट्टे उत्संघट्टे दिन पईसरावणी संघट्टो आउत्तवाणय लेवरावणी पाली०....करशुं** उत्कालिक योग में **इच्छ. भगवन्! तुम्हे अम्हं ..श्रुतस्कंधे विधि-अविधि दिन पईसरावणी पाली०....करशुं**, यह बोलें।
94. उत्तराध्ययन आदि आगाढ़ सूत्रों के योगकाल में अखण्ड धान, मेथी, मूंग, चना आदि और आवाज करने वाले खाखरा, पापड़, कड़क पुड़ी आदि ग्रहण करना वर्जित है तथा जिस सूत्रयोग में आउत्तवाणय के आदेश लिये जाते हैं उनमें भी उक्त वस्तुएँ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।
95. उपस्थापना की नन्दी और दशवैकालिकसूत्र की अनुज्ञा नन्दी एक ही दिन में आती हों तो एक नन्दी करनी चाहिए, एक नन्दी के समक्ष दोनों क्रियाएँ एक साथ कर सकते हैं। यदि उपस्थापना का मुहूर्त्त विलम्ब से हो तो 'बहुपडिपुन्ना पौरुषी' यह विधि पहले करें और स्वाध्याय एवं प्रत्याख्यान बाद में करें।
96. एक दिन में एक कालग्रहण लेना हो तो प्राभातिक कालग्रहण ही लेना चाहिए। एक से अधिक कालग्रहण लेने हों तो शेष तीनों को क्रम पूर्वक

लिया जा सकता है, परन्तु प्राभातिक काल सभी कालग्रहण में होना ही चाहिए।

97. जितने कालग्रहण लिए हों, प्रात:काल सभी का एक साथ प्रवेदन करना चाहिए।
98. किसी सूत्र के योग दिन शेष हों और भगवतीसूत्र में प्रवेश कर संघट्ट-आउत्तवाणय ग्रहण करें तो वे दिन भगवतीसूत्र में नहीं गिने जाते हैं।
99. भगवतीसूत्र के योग में 75 कालग्रहण पूर्ण होने तक आयंबिल–नीवि इस क्रम से तप करते हैं। उसके पश्चात पाँच तिथियों में आयंबिल और शेष दिनों में नीवि करते हैं। वर्तमान में नीवि के दिन फल वगैरह लेने की प्रवृत्ति है।
100. भगवतीसूत्र के योग में प्रवेश करने के पश्चात चार माह से लेकर पाँच महीने और पन्द्रह दिन के भीतर 'गणिपद' दिया जाता है।
101. भगवतीसूत्र के योग दिन के सम्बन्ध में मत-मतान्तर हैं। किंचिद् हस्तप्रतों में 188 तथा कुछ हस्तप्रतों में 189 दिनों का उल्लेख मिलता है। इन दिनों की गणना नवपद ओली सम्बन्धी अस्वाध्याय के लगभग 13 दिनों को सम्मिलित कर की गई है। नवपद ओली में तिथि क्षय हो तो 12 दिन होते हैं और तिथि वृद्धि हो तो 14 दिन गिनती में आते हैं। वर्तमान में इस सूत्र योग के 186 दिन माने गये हैं। इनमें उपर्युक्त दोनों अस्वाध्याय सम्बन्धी दिनों का अन्तर्भाव है, परन्तु वृद्धि दिनों की गणना नहीं की गई है। इस सूत्र योग को वहन करते हुए यदि अधिक मास हो तो दो दिन की वृद्धि करके 188 दिन, दो ओली पर्व आ जाये तो 196 दिन और दो ओली पर्व एवं अधिक मास आ जाये तो 198 दिन तक योग तप करना चाहिए। उसके पश्चात गिरे हुए दिनों की पूर्ति करना चाहिए।
102. भगवतीसूत्र के योग करते हुए जिस दिन गणिपद का शुभ मुहूर्त्त हो उस दिन अनुज्ञा और उससे पूर्व दिन में समुद्देश सम्बन्धी कालग्रहण करना चाहिए।
103. आचरणा से भगवतीसूत्र योगकृत मुनि को गणिपद दिया जाता है। उसके पश्चात गणि पदस्थ को ही पन्यास आदि पद देने की परम्परा है।
104. प्रचलित परम्परा के अनुसार गणिपद और पन्यासपद दिन के मध्याह्न

काल में भी दिये जा सकते हैं, किन्तु प्रवेदन और स्वाध्याय प्रस्थापन आदि अनुष्ठान प्रात: काल में कर लेने चाहिए।

105. सेनप्रश्न में कहा गया है कि पूर्वकाल में योगोद्वहन करने के बाद साधुजन द्वादशाङ्गी का अध्ययन करते थे। किसी ने योगवहन किये बिना भी द्वादशांगी का अध्ययन किया, शास्त्रों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, परन्तु यह आगम व्यवहारी की अपेक्षा से जानना चाहिए। आगम व्यवहारी जिस तरह से लाभ जानते हैं उस तरह से करते हैं।[37]
106. योगोद्वहन क्रिया में नन्दीसूत्र का योगवाही देववंदन करवाए तो मान्य है, परन्तु उपधान की क्रिया में मान्य नहीं है।[38]
107. सेनप्रश्न के अनुसार उपस्थापना और दशवैकालिकसूत्र के योग पूर्ण होने के बाद मांडली के सात आयंबिल करवाए जाने चाहिए।[39]
108. कालिकसूत्र का योगवाही मुनि रात्रि में अणाहारी वस्तुओं का सेवन नहीं कर सकता है। यदि शारीरिक अस्वस्थता हो, तो दूसरे दिन प्रवेदन विधि करने के पश्चात अणाहारी औषधि ले सकता है।
109. आचारांगसूत्र के योगकाल में सप्तसप्ततिका नामक अध्ययन के सात दिन पूर्ण होने के बाद शेष अध्ययनों के निमित्त कालग्रहण करना चाहिए।
110. यदि अकृत योगी को व्याघातिक आदि काल ग्रहण करने हो तब वह सन्ध्या को नोंतरा देने से पूर्व प्रत्याख्यान करे और नोंतरा देने के बाद स्थंडिल भूमि की प्रतिलेखना करे।
111. वर्तमान में उपस्थापना के पश्चात क्रमश: उत्तराध्ययन, आचारांग, कल्पसूत्र, नंदी, अनुयोगद्वार, महानिशीथ अथवा महानिशीथ के बाद नंदी एवं अनुयोगद्वार फिर शिष्य की योग्यतानुसार सूत्रकृतांग आदि सूत्रों के योग करवाये जाते हैं।
112. आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, औपपातिक राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रकीर्णक ग्रन्थों आदि के योग उत्कालिक योग हैं। इन सूत्रों के योग में कालग्रहण एवं संघट्टा ग्रहण नहीं किया जाता है।
113. प्रत्येक योगवाही के लिए काल प्रवेदन करना आवश्यक है। काल प्रवेदन करने वाला ही कालग्रहण सम्बन्धी अनुष्ठान कर सकता है और उसी का काल ग्रहण मान्य होता है।

114. जब योग में से बाहर निकलना हो तब पहले दिन आयंबिल आदि तप करना जरूरी है, नीवि करके दूसरे दिन योगोद्वहन से बाहर नहीं निकला जा सकता है।
115. वर्तमान आचार्यों के निर्देशानुसार संघट्टाग्राही (कालिक योगवाही) को आउत्तवाणय (विशेष रूप से उपयोग रखने योग्य नियम) ग्रहण करना हो तो प्रवेदन के समय ही गुर्वानुमति प्राप्त कर लेनी चाहिए, क्योंकि गुर्वाज्ञा के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है।
116. जिस योगवाही ने आउत्तवाणय (विशेष रूप से सजग रहने का नियम) ग्रहण किया है उस मुनि को मात्र संघट्टा ग्रहण करने वाले मुनि के द्वारा लाया गया भक्त-पान कल्प्य नहीं होता है, परन्तु आउत्तवाणय ग्रहण करने वाले मुनि द्वारा लाया गया आहार संघट्टाग्राही योगवाही को कल्पता है। मुनि द्वारा संघट्टा ग्रहण करने वाले मुनि को दिया गया आहार-पानी उसे पुनः लेना नहीं कल्पता है। यदि आउत्तवाणय ग्रहण करने वाला मुनि संघट्टाग्राही को दिया गया भोजन आदि वापस ले लें और उसका उपभोग कर लें तो दिन गिरता है।
117. आचारांगसूत्र के सप्तसप्ततिका अध्ययन का योगोद्वहन करने वाले मुनि को उत्तराध्ययनसूत्र का योग किए हुए मुनि के द्वारा लाया गया और सप्तसप्ततिका अध्ययन का योग नहीं किए हुए आचारिक मुनि के द्वारा लाया गया आहारादि ग्रहण करना नहीं कल्पता है।
118. निशीथसूत्र के दस दिन पूर्ण होने के बाद कल्पसूत्र एवं व्यवहारसूत्र के योग में प्रवेश कर सकते हैं।
119. नोंतरा देते हुए, कालग्रहण लेते हुए, स्वाध्याय प्रस्थापन, पाटली स्थापन आदि करते हुए ईर्यापथ प्रतिक्रमण में छींक आदि हो जाये तो पुनः ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें।
120. काल प्रवेदन करते समय किसी तरह की असावधानी हो जाये तो पूर्व रात्रि में गृहीत सभी कालग्रहण नष्ट हो जाते हैं। शुद्ध रूप से ग्रहण किया गया काल भी विनष्ट हो जाता है। उस दिन प्रवेदन विधि होती है।
121. संघट्टा– आउत्तवाणय ग्राही को आहार लेते समय झोली में पडला एवं ढक्कन दोनों रखने चाहिए।

122. उपांगसूत्र के योग एक साथ करने की प्रवृत्ति है।
123. दस प्रकीर्णक के योग में प्रथम, अन्तिम एवं पाँच तिथि के दिनों में आयंबिल करना चाहिए।
124. सप्तसप्ततिका नामक अध्ययन के योग में क्रमशः आयंबिल-नीवि करते हैं तथा इस अध्ययन के योग आउत्तवाणय (विशेष सजगता) पूर्वक करने चाहिए।
125. संथारा पौरूषी करने के पहले 'देवसी' और बाद में 'राई' शब्द बोलना चाहिए।
126. दिशावलोकन करने वाले योगवाही को अत्यन्त सावधानी पूर्वक बैठना चाहिए।
127. वर्तमान परम्परा के अनुसार काल ग्रहण किये हों तो प्रभात में चारों कालग्रहणों का काल प्रवेदन एक ही साथ किया जाता है।
128. पंन्यास, गणि, महानिशीथ कृतयोगी, योगानुष्ठान करवाने वाला अथवा मंडली योग किया हुआ– इनमें से कोई भी कालप्रवेदन कर सकता है।
129. कालग्रहण लेते समय आचार्य होने चाहिए।
130. उत्तराध्ययन, आचारांग, कल्पसूत्र, नंदी, अनुयोग एवं महानिशीथ– इन सूत्रों का योग किया हुआ साधु उपधान, मालारोपण तथा उक्त सूत्रों के योग करवाने का अधिकारी होता है, परन्तु उपस्थापना (पंच महाव्रतों का आरोपण) गणि या आचार्य आदि ही करवा सकते हैं।
131. कालिक सूत्रों के योगोद्वहन काल में सन्ध्याकालीन क्रिया करते समय **इच्छा. संदि. भगवन्! दांडी कालमांडला पडिलेहशुं?** – हे भगवन्! आपकी स्वेच्छा से दंडी एवं कालमंडल भूमि की प्रतिलेखना करूँ? यह आदेश, अनुज्ञा होने तक ही लिया जाता है और उस अवधि में दोनों समय मयूरपिच्छ का रजोहरण, पाटली, दंडी एवं कालभूमि का प्रतिलेखन करना चाहिए।
132. योगसामाचारी के अनुसार योगानुष्ठान कराने वाला मुनि एक स्वाध्याय-प्रस्थापना करता है, परन्तु वर्तमान में योगवाही मुनियों के लिए जितनी बार कालग्रहण किया जाता हैं उतनी ही बार स्वाध्याय की प्रस्थापना की जाती है।

133. प्रभातकाल सम्बन्धी तीसरी पाटली का अनुष्ठान करते समय वैरात्रिककाल और पाँचवीं पाटली का अनुष्ठान करते समय प्राभातिक काल के निवेदन पूर्वक गुर्वाज्ञा ली जाती है तथा रात्रिकाल सम्बन्धी तीसरी पाटली का अनुष्ठान करते समय व्याघातिक काल और पाँचवीं पाटली का अनुष्ठान करते समय अर्द्धरात्रिक काल की गुर्वानुमति प्राप्त की जाती है।
134. गुरु जहाँ-जहाँ तीन 'नमस्कारमन्त्र' अथवा 'नन्दीपाठ' बोलकर वासचूर्ण डालते हुए 'नित्थारपारगा होह' कहें उस समय शिष्य 'इच्छामो अणुसट्ठिं' अर्थात मैं भी यही चाहता हूँ– ऐसा बोलें।
135. यदि आचार्य हो तो योगवाही के साथ स्थंडिल भूमि पर वे ही जाएं। वहाँ निर्दोष स्थान देखकर खड़े हो जाएं, डंडे की स्थापना करें, फिर ईर्यापथ प्रतिक्रमण कर एक-एक कंकर (लघु प्रस्तर खण्ड) उठाकर योगवाही को दें। यदि कंकर देने वाले आचार्य योगवहन कर रहे हों तो दूसरे आचार्य इस तरह की क्रिया करें। योगवाही मल विसर्जन करने के बाद जब आचार्य के साथ हो जाए, तब कंकर फेंक दें। इस दौरान किसी तरह का व्यवधान नहीं माना जाता है। यह परम्परा आज भी अस्तित्व में है। इसका रहस्य गीतार्थ गम्य है। हमारी दृष्टि में इसका प्रयोजन अंग शुद्धि या व्यवधान निवारण हो सकता है।
136. योग प्रवेश के प्रथम दिन काल प्रवेदन और एक स्वाध्याय प्रस्थापना करने के पश्चात योग में प्रवेश करवाना चाहिए। उसके बाद नन्दी आदि की क्रिया करवाई जानी चाहिए।
137. दांडीधर कालग्रहण के समय बायें हाथ की अंगुलियों और अंगूठे के बीच दंडी स्थिर कर उसे पाटली के समक्ष रखें। उसके बाद एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए पाटली एवं दंडी की स्थापना करें। फिर दायें हाथ की मुट्ठी बांधकर एवं एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए बायें हाथ में स्थित दंडी की स्थापना करें।
138. जिस दिन श्रुतस्कन्ध का समुद्देश या अनुज्ञा की गई हो उस रात्रि में दीर्घ शंका का निवारण करना पड़े तो कालग्रहण नष्ट हो जाता है फिर उस दिन कालग्रहण सम्बन्धी कोई अनुष्ठान नहीं किया जाता है।
139. जिस स्थान पर संघट्टा विधि करें उसके चारों ओर सौ-सौ कदम तक

वसति शुद्ध होनी चाहिए, यदि अशुद्ध वसति में संघट्टा लेकर आहार आदि करें तो दिन गिरता है।

140. योगानुष्ठान करते समय नन्दि रचना की गई हो तो द्वादशावर्त्तवन्दन करते वक्त जिनप्रतिमा पर परदा करवाएं।

141. रात्रि सम्बन्धी कालग्रहण क्रिया पृथक्-पृथक् करें तो छह स्वाध्याय प्रस्थापना और छह पाटली स्थापन की क्रिया होती है, परन्तु एक साथ की जाये तो कुल पाँच ही क्रिया करने की प्रवृत्ति है। स्पष्ट है कि रात्रि के काल ग्रहण जब लिए जाते हैं तब उनकी सज्झाय-पाटली की प्रत्येक क्रिया उसी समय कर ली जाती है। रात्रि के दो काल ग्रहण की क्रिया एक साथ नहीं होती, किन्तु प्रभात समय के दो कालग्रहण की क्रिया (सज्झाय-पाटली) एक साथ कर सकते हैं।

142. सभी सूत्रों के मूल दिन पूर्ण होने के बाद वृद्धि और गिरे हुए जितने दिन हों, उतने दिन का प्रवेदन करना चाहिए।

143. चातुर्मास के अतिरिक्त काल में मेघ आदि के कारण आकाश आच्छादित हो तो व्याघातिक, अर्द्धरात्रिक, वैरात्रिक– ये तीनों काल जघन्य से तीन तारे दिखाई देने पर ही लिये जा सकते हैं, किन्तु प्राभातिक काल में एक भी तारा दिखाई न दें तब भी लिया जा सकता है। वर्षाकाल में चारों कालग्रहण ताराओं के न दिखने पर भी लिये जा सकते हैं।

144. आक संधि का शब्दशः अर्थ तो स्पष्ट नहीं है किन्तु आगम विशारद पूज्य रत्नयशविजयजी महाराज साहब के अनुसार समुद्देश + अनुज्ञा इन दो महत्त्वपूर्ण क्रियाओं को जोड़ने वाले दिन विशिष्ट होने से उन्हें आक संधि कहा जाता होगा। समुद्देश से आगम अध्ययन परिपूर्ण होता है तथा अनुज्ञा से अन्य सुयोग्य को अध्ययन कराने का अधिकार मिलता है इस प्रकार ये दोनों क्रियाएँ आगम को आत्मस्थ करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

145. आकसंधि के दिनों में योग में से बाहर नहीं निकल सकते हैं।

146. आकसंधि काल में यदि दिन गिरें तो, जितने दिन गिरते हैं उतने आयंबिल किये जाते हैं, बीच में नीवि नहीं होती है।

147. आचारांगसूत्र के सप्त सप्तमिका नामक अध्ययन की अनुज्ञा होने पर वह योगवाही 'आचारी' बनता है। यह आचारी संघाटक (संघट्टा ग्रहण करने वाला योगवाही) कहलाता है। इस आचारी मुनि को गोचरी-पानी या

स्थंडिल भूमि के गमनागमन में साथ ले जा सकते हैं। वह आचारी अन्य जोगवाहियों का संघाटक बन सकता है, फिर भले अन्य योगवाही मुनि उत्तराध्ययनसूत्र के योग करने वाले हो या भगवती गणिपद के जोगवाही हो। परन्तु इस आचारी मुनि को अपने चालु जोग में स्वयं के लिए संघाटक के रूप में अन्य आचारी की आवश्यकता जरूर रहती है। आचारी स्वयं अन्य को आहार-पानी दिलवा सकता है पर उसे कोई अन्य आचारी आहार आदि दिलाए तो ही खपता है।

148. स्थंडिल या आहारादि के लिए गमनागमन करते समय आचारी साधु साथ होने से पंचेन्द्रिय की आड़ नहीं गिरती है फिर इस सम्बन्ध में भी कुछ विशेष नियम होते हैं।
149. एक साथ अनेक जोगवाही साधु-साध्वी आहार आदि के लिए जाते हों तो उनकी परस्पर आड़ नहीं गिरती है। कुछ सूत्रों के योग में श्रुतस्कन्ध एवं अनुज्ञा दो दिन में, कुछ में समुद्देश + अनुज्ञा एक दिन में होती है। इसका मुख्य कारण सूत्र का प्रभाव एवं ज्ञानी की तद्विषयक आज्ञा है।
150. तपागच्छीय आम्नाय के अनुसार दस प्रकीर्णकों के प्रवेश दिन में एवं मध्य में अष्टमी-चतुर्दशी आ जाये तो उस दिन एवं अन्तिम दिन में आयंबिल करते हैं, शेष दिन नीवि तप करते हैं।
151. परवर्ती कुछ आचार्यों के अभिमतानुसार भगवती सूत्र के 77 कालग्रहण पूर्ण होने के बाद हरी वनस्पति ग्रहण कर सकते हैं।
152. जीत व्यवहार से आचारांग आदि सभी सूत्रों के योग में सात दिन के बाद एक दिन वृद्धि का होता है, जैसे सूत्रकृतांग सूत्र योग के मूल दिन तीस हैं तो उसमें पाँच दिन वृद्धि के होते हैं। वृद्धि के दिन में भी क्रमशः आयंबिल एवं नीवि तप करना होता है। वृद्धि के दिन में किसी तरह की त्रुटि होने पर पुनः एक दिन बढ़ता है। वृद्धि दिन की क्रिया योग काल के मध्य या योगकाल पूर्ण होने पर कभी भी की जा सकती है। जैसे पहले दिन कालग्रहण किया हो और दूसरे दिन नहीं किया हो तो उस दिन को वृद्धि का दिन मान सकते हैं।
153. अष्टमी-चतुर्दशी एवं पंचमी के दिन क्रमबद्ध दो आयंबिल आ रहे हों तो उस दिन 'पाली पलटुं' (तप क्रम का परिवर्तन) नहीं करना चाहिए।

154. योगवाही स्वयं कालग्राही और दांडीधर की भूमिका वहन कर सकता है।
155. जिस दिन गणि, उपाध्याय या आचार्य आदि पदोत्सव हो उस दिन पदानुज्ञा के निमित्त पददाता गुरु एवं पदग्राही शिष्य दोनों प्राभातिक काल ग्रहण करते हैं।
156. सामाचारी के अनुसार प्राभातिक काल ग्रहण सूर्योदय से पूर्व कर लेना चाहिये, अन्यथा कालग्रहण नष्ट हो जाता है।
157. आश्विन- चैत्र मास में नवपद ओली के 11 या 12 दिन तथा आषाढ़ी, कार्तिकी एवं फाल्गुनी इन तीनों चातुर्मासिक दिनों में ढ़ाई-ढ़ाई दिन अस्वाध्याय काल रहता है। उन दिनों सूत्र योग को पूर्णकर बाहर नहीं हो सकते हैं। इसी तरह अष्टमी, चतुर्दशी एवं शुक्ल पंचमी के दिन भी योग निक्षेप नहीं कर सकते हैं।
158. नवपद ओली के दिनों में किया गया तप गिनती में नहीं आता है, उतने दिन गिरते हैं।
159. योगोद्वहन के दिनों में पाटली, स्वाध्याय प्रस्थापन एवं प्रवेदन– ये तीनों अनुष्ठान योगवाही स्वयं करता है तथा कालग्रहण और नोंतरा सम्बन्धी क्रियाएँ कालग्राही एवं दांडीधर करते हैं।
160. नोंतरा विधि संध्या को कालग्रहण लेने से पूर्व और प्रत्याख्यान एवं वसति शुद्धि करने के पश्चात की जाती है।
161. बृहत्कल्पभाष्य टीका के अनुसार योगवाही मुनि भिक्षाचर्या से पूर्व कायोत्सर्ग करें। उस कायोत्सर्ग में चिन्तन करे कि आज मेरे क्या है आयंबिल अथवा नीवि? क्योंकि भिक्षाचर्या से पूर्व प्रत्याख्यान की स्मृति कर लेने पर योग विराधना और संयम विराधना नहीं होती है। अन्यथा तप व्यतिरिक्त आहार ग्रहण की संभावना रहती है।[40]
162. योगवाही निष्कारण विगय सेवन नहीं कर सकता। यदि जरूरी हो तो गुरु आज्ञा से कर सकता है।[41]
163. निशीथभाष्य के अनुसार आगाढ़ योग में अवगाहिम (पक्वान्न) के अतिरिक्त शेष नौ विकृतियों का वर्जन किया जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययनकाल में सर्व प्रकार की अवगाहिम विकृति तथा महाकल्पश्रुत-

अध्ययनकाल में एक मोदक विकृति ग्राह्य है, शेष आगाढ़ सूत्रों के योग में सब विकृतियाँ वर्जनीय हैं। अनागाढ़ योग में विकृति वर्जन की भजना है। यदि गुर्वाज्ञा हो तो दसों विकृतियाँ ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा एक भी ग्राह्य नहीं है।[42]

164. भगवतीसूत्र के योग में 77 कालग्रहण होते हैं उनमें से 75 कालग्रहण पूर्ण होने पर नित्य नीवि (पाँच तिथि आयंबिल) की अनुमति दी जाती है।
165. कालग्रहण में काल मांडला मोर पंख के दंडासन से किए जाते हैं। इसके द्वारा एक ही जगह पर स्थिर रहते हुए अलग-अलग स्थानों को शुद्ध किया जा सकता है।
166. कालिक सूत्रों के योग में ही संघट्टा-आउत्तवाणय ग्रहण किया जाता है। इनमें कुछ सूत्र संघट्टा वाले हैं तो कुछ सूत्रों में संघट्टा + आउत्तवाणय दोनों लिए जाते हैं।
167. संघट्टा एवं आउत्तवाण के आदेश हर दिन प्रात:काल में क्रिया के अंत में मांगे जाते हैं और सन्ध्या में क्रिया के अन्त में विसर्जित किए जाते हैं।
168. संघट्टा या आउत्तवाणय का आदेश सुबह में मांग लेने पर दिन में जब चाहें गोचरी या स्थंडिल हेतु डंडे की स्थापना करके संघट्टा ग्रहण कर सकते हैं और प्रयोजन पूर्ण हो जाए तब डंडा छोड़ देने से अपने आप संघट्टा का त्याग हो जाता है। आउत्तवाणय में भी ऐसा ही है। यह क्रिया दिन में कितनी भी बार कर सकते हैं।
169. हर सात (एक सप्ताह) दिन के जोग के बाद एक दिन बढ़ाने की आज्ञा योग ग्रन्थों के अनुसार है। एक दिन की वृद्धि होने पर जिस क्रम से तप चलता हो उसी क्रम से चलता रहता है, केवल वृद्धि दिन की क्रिया में जो आदेश मांगने होते हैं उनके शब्दों में कुछ फेरफार होता है।

पूज्य रत्नयशविजयजी महाराज साहब के मतानुसार दिन वृद्धि की आज्ञा Compulsory penalty के रूप में होनी चाहिए। दूसरे, जैसे पाक्षिक आलोचना के रूप में उपवास का विधान है वैसे ही योग क्रिया के अन्तराल में ज्ञात-अज्ञात में कुछ त्रुटि हुई हो उसका सामूहिक रूप से निश्चित किया गया आलोचना दिन प्रतीत होता है।

170. किन्हीं सूत्रों के योग में श्रुतस्कन्ध का समुद्देश एवं अनुज्ञा दो दिन में होती है तथा कुछ सूत्रों में समुद्देश एवं अनुज्ञा एक दिन में होती है। उसका मुख्य कारण सूत्र का अपना वैशिष्ट्य एवं ज्ञानी की तद्विषयक आज्ञा है।
171. जैन परम्परा में सामायिक आदि धार्मिक क्रियाएँ करते समय मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया ही जाता है, योग क्रिया में भी उसी आचरणा का पालन करते हुए उद्देशादि क्रिया के पूर्व मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया जाता है। आगमसूत्र के उद्देशादि की क्रिया पूर्ण होने पर वायणा (वाचना) के आदेश नहीं होते हैं, किन्तु समुद्देश की क्रिया पूर्ण होने पर वायणा के दो आदेश लिए जाते हैं।
172. भगवतीसूत्र के योगोद्वहन के सम्बन्ध में 'अट्ठम योग' 'छट्ठयोग' शब्दों का प्रयोग किया गया है। विधिमार्गप्रपा के अनुसार अट्ठम जोग = आठ दिन का संलग्न तप, जिसमें सात दिन नीवि एवं आठवें दिन आयंबिल (अन्य मतानुसार 8 नीवि + 1 आयंबिल) और छट्ठ जोग = छह दिन का संलग्न तप, जिसमें 5 दिन नीवि + 1 आयंबिल (अन्य मतानुसार 6 नीवि + 1 आयंबिल) होता है।
173. वर्तमान में प्रादोषिक आदि चारों काल ग्रहण पौषधशाला (उपाश्रय) में ही लिए जाते हैं। पूर्वकाल में व्याघातिक (शाम का) काल ग्रहण पौषधशाला में लिया जाता था, शेष तीनों बाहर जाकर लिए जाते थे।
174. इस कृति में विधिमार्गप्रपा के अनुसार कप्पतिप्प (कल्पक्षेत्र) सामाचारी दर्शायी गई है। पूज्य आचार्य कीर्तियशसूरीजी म.सा. के सुयोग्य शिष्य पूज्य रत्नयशविजयजी म.सा. के अनुसार तपागच्छ परम्परा में यह सामाचारी कल्प अर्थात कपड़ा सांधे (सीले) हुए न पहनना, अशुचि वाले न पहनना, टूटे-फूटे पात्रों का उपयोग न करना आदि प्रचलित है।
175. तपागच्छ में महानिशीथ आदि कुछ सूत्रों को छोड़कर शेष सभी आगमों के योग काल में एकांतर आयंबिल + नीवि और पाँच तिथि को आयंबिल करने की परम्परा है।
176. योगोद्वहन की विधियों में प्रयुक्त 'तिविहेण' शब्द आगमिक है। इस शब्द का अर्थ त्रिकरण योग से यानी मन-वचन-काया से वंदन के अर्थ में है। यहाँ वंदन से तात्पर्य खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन करना है। सामान्य खमासमण में 'तिविहेण' शब्द का प्रयोग नहीं होता, किन्तु कुछ स्थानों

पर (ऐसे स्थान तय है, जहाँ) गुरु आदेश देते समय 'तिविहेण' बोलते हैं। तब योगवाही शिष्य को उपयोग पूर्वक खमासमण देना होता है। इस विधि में खमासमण देने वाला योगवाही 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए' इतना बोलकर अटक जाता है तब गुरु 'तिविहेण' बोलते हैं। उसके पश्चात शिष्य 'मत्थएण वंदामि' कहकर खमासमण पूर्ण करता है।

177. व्याघातिक एवं अर्द्धरात्रिक कालग्रहण रात्रि में 12 बजे से पूर्व लिए जाते हैं तथा उसकी क्रिया भी रात्रि में की जाती है। वैरात्रिक एवं प्राभातिक कालग्रहण प्रात: लिए जाते हैं तथा उसकी क्रिया उसी समय की जाती है।
178. कालिक सूत्रों के उद्देश-समुद्देश या अनुज्ञा क्रिया के पश्चात सामान्यत: निम्न खमासमण दिये जाते हैं– वायणा संदिसाउं, वायणा लेशुं, कालमंडला संदिसाउं, कालमांडला पडिक्कमशुं, सज्झाय पडिक्कमशुं, पाभाईकाल पडिक्कमशुं आदि।
179. निवियाता का अर्थ है– दूध, दही, घी आदि विगई की शक्ति को नष्ट किया गया द्रव्य, जैसे कि जला हुआ घी आदि।
180. प्रचलित परम्परानुसार स्वाध्याय प्रस्थापना के समय एक दण्डी की आवश्यकता रहती है जबकि पाटली क्रिया के समय दो दण्डी की जरूरत होती है।
181. भगवती, महानिशीथ, प्रश्नव्याकरण आदि कुछ सूत्रों को छोड़कर अन्य सूत्रों के योग में नीवियाता की सामग्री ग्रहण कर सकते हैं। इन दिनों पूर्ण विगय का त्याग नहीं होता है, किन्तु मूल विगय का सेवन भी नहीं किया जाता है। परिमित विगय की वस्तु ग्राह्य होती है। उसमें भी कई तरह के मिष्ठान्न आदि उस दिन के निर्मित भी अभक्ष्य माने जाते हैं और दूसरे दिन वे ही ग्राह्य हो जाते हैं। कुछ पदार्थ उस दिन ग्राह्य रहते हैं और दूसरे दिन अभक्ष्य हो जाते हैं जैसे– मातर (घी, गुड़ एवं आटे से बना एक पदार्थ) दूसरे दिन ग्राह्य होती है और ठोर (घी, शक्कर एवं मैदा से निर्मित मिष्ठ पदार्थ) उस दिन के ही शुद्ध होते हैं।
182. यदि दो कालग्रहण लिए जाएं, तो पहले दो स्वाध्याय प्रस्थापना विधि भी एक साथ करें, फिर एक बार स्वाध्याय प्रस्थापना करके तीन बार पाटली

क्रिया करें, फिर पुनः दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना करके दो बार पाटली की क्रिया करनी चाहिए।

183. रात्रिकाल में पवेयणा एवं संघट्टा आदि की विधि नहीं होती है।

184. सामान्यतया भगवतीसूत्र को छोड़कर शेष सभी सूत्रों में जितने दिन योग के होते हैं उतने ही कालग्रहण के होते हैं। कदाचित एकाधिक कालग्रहण लेकर दिन पूर्ण होने से पहले ही उन्हें पूरे कर दिए जाएं, तब भी उतने दिन योग सम्बन्धी अनुष्ठान सम्पन्न करना जरूरी होता है। अंग सूत्र और श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा के दो कालग्रहण अवशेष रखने चाहिए। इन्हें दिन के साथ ही पूरे किये जाते हैं। जैसे उत्तराध्ययनसूत्र के 28 कालग्रहण हैं, उन्हें प्रतिदिन चार-चार की संख्या में ग्रहण किए जाएं तो 26 कालग्रहण पहले पूरे कर सकते हैं परन्तु दो कालग्रहण समुद्देश एवं अनुज्ञा के दिन करना चाहिए।

185. प्रतिदिन एक कालग्रहण लेना उत्सर्ग मार्ग है तथा एक से अधिक ग्रहण करना अपवाद मार्ग है।

186. निशीथसूत्र में नंदी क्रिया नहीं होती है अतः इस सूत्र योग में सन्ध्या को भी प्रवेश किया जा सकता है, परन्तु शेष सभी सूत्रों का प्रवेश प्राभातिक कालग्रहण के समय ही होता है। वर्तमान की तपागच्छ परम्परा में सभी योग + उपधान में प्रवेश एवं निक्षेप केवल पहली पौरुषी में ही हो सकता है।

187. योगोद्वहन काल में अष्टमी, चतुर्दशी व शुक्ला पंचमी के दिन नीवि-तप आ रहा हो तो आयंबिल करना चाहिए।

188. खरतरगच्छ की सामाचारी के अनुसार महानिशीथ, उपांगसूत्र एवं समवायांग– इन तीन सूत्रों के योग आयंबिल पूर्वक वहन किए जाते हैं, किन्तु तपागच्छ की सामाचारी के अनुसार नन्दीसूत्र का योग भी आयंबिल पूर्वक ही होता है।

190. साधु एक दिन में चार एवं साध्वी दो कालग्रहण ले सकती हैं। वस्तुतः कालग्रहण का अधिकार मुनियों को ही है, साध्वियों को नहीं। कालग्रहण के समय साध्वियों की उपस्थिति अनिवार्य है। वे 'सुझइ' शब्द बोलती हैं, तभी मुनियों द्वारा गृहीत कालग्रहण उनके लिए भी मान्य होता है,

अन्यथा नहीं। संध्या के समय एवं अर्द्ध रात्रि के समय मुनियों के उपाश्रय में साध्वियों का गमन निषिद्ध होने से साध्वियों के लिए उक्त दो काल वर्जित माने गये हैं।

191. नियमतः एक दिन में एक काल का ही ग्रहण करना चाहिए, किन्तु कुछ योगवाही कालग्रहण संख्या की परिपूर्ति हेतु या परिस्थिति विशेष में एक दिन में दो, तीन या चार काल का ग्रहण भी कर सकते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कुछ आगम सूत्रों के लिए अमुक काल एवं अमुक संख्या में ही कालग्रहण का नियम है।
192. एक काल का शुद्ध रूप से ग्रहण कर लेने पर सामान्यतया दो बार स्वाध्याय प्रस्थापन करना चाहिए। प्रत्येक कालग्रहण में दो बार पाटली की स्थापना एवं दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना होती है। इसमें पहले पाटली स्थापना फिर स्वाध्याय प्रस्थापना, फिर दूसरी पाटली स्थापना और दूसरी स्वाध्याय प्रस्थापना इस क्रम से पाटली एवं स्वाध्याय प्रस्थापना की विधि करते हैं। कालिक सूत्रों के योग में ही पाटली विधि होती है।
193. स्वाध्याय प्रस्थापन करते समय एक दंडी और पाटली स्थापना करते समय दो दंडी की आवश्यकता रहती है।
194. पाटली क्रिया उत्कटासन मुद्रा (द्वादशावर्त्तवन्दन मुद्रा) में करनी चाहिए।
195. योगोद्वहन के दिनों में प्रतिदिन तीन या चार बार वसति शोधन करना चाहिए। जैसे– कालग्रहण लेने से पूर्व, स्वाध्याय प्रस्थापन करने से पूर्व, काल प्रवेदन करने से पूर्व और संघट्टा-आउत्तवाणय ग्रहण करने से पूर्व वसति शुद्धि अपरिहार्य है।
196. जिस दिन काल ग्रहण नहीं करना हो अथवा उद्देशादि पूर्ण हो गये हों और शेष बचे हुए दिनों को पूर्ण करना हो तो उस दिन केवल प्रवेदन विधि करते हैं।
197. योगोद्वहन काल में सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनना चाहिए, क्योंकि सिली हुई वस्त्र की किनार में एवं सांधे हुए वस्त्र में सूक्ष्म जीवोत्पत्ति शक्य है, अतएव सिला हुआ वस्त्र धारण करने का निषेध है।
198. आगाढ़ एवं आउत्तवाणय विधियुक्त सूत्रों के योग में कठोर (दलहन धान अखण्ड) धान्य का सेवन नहीं करना चाहिए।

नष्ट दन्त विधि

यदि किसी योगवाही का दाँत टूटकर कहीं गिर जाये और खोजने पर पुनः प्राप्त हो जाये तो उसे वसति (उपाश्रय) से सौ कदम की दूरी पर परिष्ठापित कर देना चाहिए। यदि खोया दांत प्राप्त न हो तो वह योगवाही एक खमासमणसूत्र से वन्दन कर कहे– **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! नट्ठदंत ओहडावणी काउस्सग्ग करूं? इच्छं'** कहकर पुनः **नट्ठदंत ओहडावणी करेमि काउस्सग्गं,** अन्नत्थसूत्र बोलकर नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में एक नमस्कारमन्त्र बोलें।

नष्टदंत के दिन उक्त विधि करने पर ही कालग्रहण शुद्ध होता है।

आगमसूत्रों की उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा कब करें?

प्राचीन काल में गुरु के मुखारविन्द से अध्ययन किया जाता था। शास्त्र लिखे नहीं जाते थे। उन्हें कण्ठस्थ रखने की परम्परा थी। इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के उद्देश्य से गुरुगम पूर्वक अध्ययन पद्धति का सूत्रपात हुआ। उसका प्रतिपादन उद्देश (पढ़ने की आज्ञा) समुद्देश (पठित ज्ञान के स्थिरीकरण का निर्देश), अनुज्ञा (अध्यापन की आज्ञा) और अनुयोग (व्याख्या)– इन चार पदों द्वारा किया गया। जैसे कि विद्यार्थी शिष्य सबसे पहले गुरु की आज्ञा प्राप्त करता है, फिर वह परिवर्तना के द्वारा पढ़े हुए ज्ञान को स्थिर रखने का अभ्यास करता है, तीसरे चरण में उसे अध्यापन की अनुमति प्राप्त होती है और चौथे चरण में उसे व्याख्या करने की स्वीकृति मिलती है।[43]

- जिस कालिकश्रुत का उद्दिष्ट दिन की प्रथम पौरुषी में हो चुका है वह आगम प्रथम एवं अन्तिम पौरुषी में पढ़ा जा सकता है।
- जिस उत्कालिक श्रुत का उद्दिष्ट हो चुका है वह व्यतिकृष्ट काल में भी पढ़ा जा सकता है, किन्तु संध्या और अस्वाध्यायकाल में उसका पठन वर्जित है।
- स्तव, स्तुति और धर्माख्यान संध्या वेला में भी पढ़े जा सकते हैं।
- जब भी अध्ययन या उद्देशक का पाठ ग्रहण करते हैं तभी उसका समुद्देश किया जाता है। अंग अथवा श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा दिन की प्रथम पौरुषी में की जाती है।

• उद्देशक और अध्ययनों की अनुज्ञा दिन की चरम पौरुषी तथा रात्रि की प्रथम या अन्तिम पौरुषी में की जाती है।

• निशीथ आदि आगाढ़ योगों की अनुज्ञा दिन की प्रथम और अन्तिम पौरुषी में की जाती है, रात्रि में नहीं।

• दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, क्षुल्लककल्पश्रुत, औपपातिक आदि की अनुज्ञा वैकल्पिक है– दिन की प्रथम पौरूषी में भी हो सकती है और अन्तिम पौरुषी में भी हो सकती है।[44]

योगवाही के लिए विधि-निषेध सामाचारी

तिलकाचार्य सामाचारी[45] विधिमार्गप्रपा[46] आचारदिनकर[47] आदि में योगवाही मुनि के लिए करणीय-अकरणीय सामाचारी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि

• योगवाही रात्रिक प्रतिक्रमण के समय प्रतिदिन नवकारसी का प्रत्याख्यान करें। प्रतिदिन जो भी तप करना हो उसे गुरुमुख से ही ग्रहण करें।

• रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में सभी मुनियों को हमेशा जागृत रहना चाहिए, परन्तु योगवाही मुनि प्रतिक्षण जागृत रहें।

• योगवाही मुनियों को योग काल में विकथा, शोक, हँसी, कलह आदि नहीं करना चाहिए।

• सामान्य मुनि को अकेले सौ कदम (पच्चीस धनुष परिमाण भूमि) से अधिक नहीं जाना चाहिए, तब योगवाही के लिए एकाकी आवागमन का प्रश्न ही नहीं उठता है? वह सौ कदम के बाहर अकेला न जाए, अन्य मुनि को हमेशा साथ लेकर ही जाए। सौ कदम से अधिक दूर जाने पर उसे आयंबिल का प्रायश्चित्त आता है।

• योगवाही भिक्षा ग्रहण हेतु भी अकेले सौ कदम से अधिक न जाएं, अन्यथा हाथ में रहा हुआ भोजन-पानी उनके लिए ग्राह्य नहीं होता।

• आगाढ़सूत्र के योगवाही सिलाई करना, लेप करना, उपकरण बनाना आदि कार्य न करें। सामान्यतया सभी योगों में और विशेष रूप से आगाढ़ योगों में योगवाही को उक्त कार्य नहीं करने चाहिए।

• आगाढ़सूत्र के योगवाही तांबा, सीसा, कांसा, लोहा, रांगा, रोम, नख, चर्म आदि का स्पर्श न करें और स्पर्श होने पर कायोत्सर्ग करें। इन धातुओं का

स्पर्श न हो तो भी दिन में एक बार 'दंत ओहड़ावणियं करेमि काउस्सग्गं' पूर्वक 'अन्नत्थसूत्र' बोलकर कायोत्सर्ग में एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करें।

• योगवाही दिन और रात्रि की प्रथम एवं अन्तिम दोनों पौरुषियों में सूत्र-अर्थ का पुनरावर्त्तन करें।

• जिस सूत्र का योग चल रहा हो उसके अतिरिक्त अन्य अपठित सूत्रों का स्वाध्याय न करें और पूर्व पठित पाठों को विस्मृत न करें।

• वह सदैव अप्रमत्त रहें और पात्र, उपधि आदि उपकरणों की दिन की प्रथम पौरुषी के अन्त में एवं चतुर्थ पौरुषी के प्रारम्भ में ऐसे दो बार प्रतिलेखना अवश्य करें।

• योगवाही अल्प भाषण करें। मन्द स्वर में बोलें। काम, क्रोध आदि का त्याग करें। पंचमहाव्रत का दृढ़ता पूर्वक पालन करें। संघ या समुदाय का विरोध न करें। पात्र में रहे हुए अन्न को झूंठा न छोड़ें और न ही वमन आदि करें। संस्तारक, वस्त्र एवं आसन आवश्यकता अनुसार ग्रहण करें। अत्यन्त सावधानी पूर्वक कालग्रहण करके स्वाध्याय करें।

• अकाल में स्वाध्याय और कालग्रहण न करें और असमय (रात्रिकाल) में मल का उत्सर्ग न करें।

• अकृतयोगी द्वारा लाया हुआ आहार-पानी ग्रहण न करें, उनका संघट्टा नहीं करें और उनके पाट, शय्या एवं आसन आदि का उपयोग भी न करें।

• अकृतयोगी से अपनी उपधि एवं शय्या की प्रतिलेखना न करवाएं। शरीर की चिकित्सा न स्वयं करें और न अन्य से करवाएँ।

• वर्षा एवं महावायु के समय भिक्षा आदि के लिए वसति से बाहर न जाएं।

• कालिक योगवाही परिष्कृत भूमि पर ही संघट्टा ग्रहण करें, इससे भिन्न स्थान पर लिये गये संघट्टे वाले पात्रादि में गृहीत आहार-पानी उनके लिए अग्राह्य हो जाता है।

• योगवाही शरीर को इधर-उधर हिलाते हुए, विकथा करते हुए या कलह की भाँति बातचीत करते हुए संघट्टा ग्रहण न करें, अन्यथा वह संघट्टा चला जाता है।

• योगवाही आहार-पानी का सेवन करते समय गिरे हुए भोजन-पानी आदि का स्पर्श न करें, एक के ऊपर एक से अधिक पात्र न रखें यानी एक के

ऊपर एक ऐसे दो पात्र रख सकते हैं किन्तु उसके ऊपर तीसरा-चौथा आदि पात्र न रखें। बैठे हुए साधु को खड़ा हुआ साधु भोजन आदि न दें, संघट्टा लेते समय बैठे-बैठे या खड़े-खड़े निद्रा न लें, भोजन में केश न आ जाए, इसका पूर्ण विवेक रखें, अन्यथा संघट्टा नष्ट हो जाता है। ऊबड़-खाबड़ भूमि पर संघट्टा न लें। यदि लिया जाए तो संघट्टित वस्तुएँ संघट्टा से बाहर हो जाती है, फिर पुन: संघट्टा ग्रहण करना होता है।

सामान्यतया कालिक-उत्कालिक सभी सूत्रों के योगों में उपर्युक्त चर्या का पालन करना चाहिए।

गणियोगवाही की कल्प्याकल्प्य सामाचारी

पांचवाँ अंग आगम भगवती सूत्र का योगोद्वहन करने वाला मुनि गणियोगवाही कहलाता है। इस सूत्र का तपोनुष्ठान करते समय गणियोगी को भिक्षा सम्बन्धी अनेक सावधानियाँ रखने का निर्देश दिया गया है क्योंकि भगवतीसूत्र का अध्ययन (योग) काल एवं चर्या की अपेक्षा कठिनतर है। दूसरे, इस सूत्र के योग पूर्ण होने तक उसे 'गणिपद' पर भी आरूढ़ किया जाता है।

तिलकाचार्य सामाचारी[48] विधिमार्गप्रपा[49] एवं आचार दिनकर[50] आदि में उल्लिखित गणियोगवाही की कल्प्याकल्प्य सामाचारी इस प्रकार है–

- गणियोगवाही मुनि को यह ध्यान रखना चाहिए कि भिक्षाटन करते समय यदि अपने समानवर्गी योगवाही से उसके शरीर आदि का स्पर्श हो जाये तो उसके हाथ में ग्रहण किया गया आहार पानी दूषित नहीं होता है, किन्तु अन्य मुनियों या गृहस्थादि से संस्पर्श हो जाये तो गृहीत भोजन पानी उसके लिए अग्राह्य हो जाता है।

- गणियोगवाही सिलाई, पात्र लेप आदि की क्रिया वाचनाचार्य की अनुज्ञा से करें।

- गणियोग करते समय वसति के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त मनुष्य की विष्टा पड़ी हुई हो तो अस्वाध्याय होता है और वह स्थान जब तक विष्टा से शुद्ध न हो तब तक वहाँ स्वाध्याय करना निषिद्ध है, परन्तु मनुष्य का रूधिर आदि गिरा हुआ हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है।

- गणियोगी देवी-देवता को समर्पित करने के लिए बनाया गया आहार,

गर्हित आहार एवं मृत क्रिया (मृत्युभोज) के निमित्त बनाया गया भोजन आदि ग्रहण न करें।

• जिस पात्र के द्वारा देवता आदि को आहार सामग्री अर्पित की गई हो उससे संस्पर्शित आहार और उस आहार से संस्पर्शित अन्य आहार भी ग्रहण न करें, वह गणिवाही के लिए अग्राह्य है। इसी प्रकार विगय से संस्पर्शित एवं विगय युक्त आहार भी ग्रहण न करें।

• गणियोगी अकृतयोगी के साथ भिक्षाटन आदि न करें और नगर के बाह्य भाग में मलोत्सर्ग हेतु भी न जायें।

• गुर्वानुमति के बिना उपधि प्रक्षालन आदि न करें।

• कोई दाता पके हुए भोजन के अतिरिक्त विगय युक्त पदार्थ को भिक्षा रूप में दें तो गणियोगी उसे ग्रहण न करें। दाता का शरीर सचित्त जल आदि से गीला हो अथवा उसके देह आदि से कुत्ता, बिल्ली, मांसभक्षक पक्षी एवं बछड़े का संस्पर्श होते हुए देख लिया हो, तो उसके हाथ से आहार आदि ग्रहण न करें। इसी प्रकार गीली चमड़ी आदि का संस्पर्श मात्र होने पर भी उस दाता से भिक्षा न लें।

• यदि नपुंसक या वेश्या के हाथ दूध, तेल, घी से युक्त हों, तो योगवाही उनका स्पर्श न करें और उनसे स्पर्शित भिक्षा का भी वर्जन करें।

• यदि कोई गृहिणी उसी दिन के मक्खन से युक्त काजल को आँखों में लगाकर भिक्षा दें रही हो तो उससे ग्रहण न करें। यदि वह काजल दो-तीन दिन का हो तो उसके हाथ से भिक्षा ली जा सकती है।

• यदि दात्री ने पूर्व दिन के मक्खन को शरीर पर लगाकर उसी दिन अंजन किया हो, तो उसके हाथ से भोजन-पानी ग्रहण न करें।

• यदि स्तनपान कराती हुई स्त्री अपने बालक को स्तनपान छुड़ाकर भिक्षा दे, तो गणियोगी मुनि उस भिक्षा को ग्रहण न करें। यदि वह स्तनपान नहीं करवा रही हो अथवा स्तनपान करवाते हुए स्तन सूख गया हो तो उसके द्वारा दी गई भिक्षा ग्राह्य है। इसी तरह गाय आदि के विषय में भी समझना चाहिए।

• गणियोगी द्वारा भिक्षाटन करते समय गाय, हाथी आदि की गीली विष्टा का उससे स्पर्श हो जाये तो ग्रहण किया गया भोजन-पानी उसके लिए दूषित हो जाता है, किन्तु इन्हीं जीवों से सम्बन्धित शुष्क विष्टा (गोबर आदि) का स्पर्श होने पर हस्तगृहीत भोजन अशुद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार गीली हड्डी और

गीली चमड़ी का स्पर्श होने पर योगवाही द्वारा ग्रहण किया गया भोजन-पानी उसके लिए दूषित हो जाता है, किन्तु सूखे चमड़े आदि का स्पर्श होने पर गृहीत आहार अशुद्ध नहीं होता है।

गोशालक अध्ययन की अनुज्ञा हो जाने के पश्चात भी भिक्षार्थ घूमते हुए बाल, सूखी चमड़ी, हड्डी, विष्टा आदि का स्पर्श हो जाये तो भोजन-पानी दूषित नहीं होता है, किन्तु स्पर्शादि के कारण हुई विराधना को दूर करने के लिए प्रवेदन के समय कायोत्सर्ग करना चाहिए।

- गणियोगवाही द्वारा गृहीत आहार में आठ अंगुल से अधिक परिमाण वाला केश दिख जाये तो वह भोजन उसके लिए अकल्प्य हो जाता है।
- गणियोगी द्वारा भिक्षाटन करते समय आधाकर्मी दोष वाला आहार ग्रहण कर लिया जाये तथा मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का स्पर्श हो जाये तो गृहीत भोजन-पानी उसके लिए अग्राह्य हो जाता है।
- यदि झोली, पात्र या पात्रबंध पूर्व दिन के भोजन आदि से अंश मात्र भी खरडे हुए रह गये हों तो दूसरे दिन जल से स्वच्छ करने के बाद ही उसमें आहार आदि ग्रहण करें, अन्यथा गृहीत भोजन-पानी दूषित हो जाता है।
- यदि गणियोगवाही के पात्र आधाकर्मादि से दूषित हो जाये तो वह आहार के लिए अधिकतम चार पात्र ले सकता है, नियम से तीन पात्र ग्रहण करने का ही विधान है।
- यदि गृहस्थ दाता का भोजन पात्र शुद्ध है और उसके हाथ आदि भी शुद्ध हैं फिर भी पात्र एवं हाथ आदि गीले हों, तो गीले हाथ आदि से भिक्षा ग्रहण कर सकता है, किन्तु भोजन मंडली में आने के बाद आर्द्र हाथादि से ग्रहण की गई भिक्षा पर स्थित जल के अंशादि सूख जायें, उसके पश्चात योगवाही कायोत्सर्ग करके वह आहार ग्रहण करें।
- पूर्वाचार्यों की सामाचारी के अनुसार भगवती सूत्र के योग में षष्ठ योग के पूर्व तक दस प्रकार के घृत आदि विगय द्रव्यों से और षष्ठ योग प्रारम्भ होने पर पकवान को छोड़कर शेष नौ विगय द्रव्यों से जिस दाता के हाथ स्पर्श कर रहे हों, खरड़े हुए हों, लीपे हुए हों, उसके द्वारा भोजन-पानी ग्रहण न करें। क्योंकि विगय संस्पृष्ट व्यक्ति के हाथ से गृहीत भोजन गणियोगी के लिए अकल्प्य माना गया है।

• यदि दाता के शरीर का कोई भी अवयव उक्त नौ विगयों से स्पर्श कर रहा हो, तो भी गणियोगी उसके द्वारा भोजन-पानी ग्रहण न करें। यदि गृहस्थ दाता के शरीर से नौ विगय का स्पर्श एक दूसरे से संस्पर्शित तीसरे व्यक्ति से हो रहा हो, तो प्रथम व्यक्ति के हाथ से भक्त-पानादि ग्रहण किया जा सकता है।

• गणियोग करने वाला मुनि, घृत-तेल आदि से मालिश किया हुआ पुरुष अथवा स्त्री जिस आहार आदि को स्पर्श कर रहे हों वह ग्रहण न करें। इससे पूर्वगृहीत भोजन पानी दूषित हो जाता है।

• गृहस्थ दाता के शरीर का कोई भी अवयव अकल्पित द्रव्य से युक्त अथवा स्पर्शित हो रहा हो, तो उस दिन उसके हाथ से भोजन आदि ग्रहण न करें, किन्तु दूसरे दिन उसके द्वारा भोजनादि ग्रहण कर सकते हैं।

• यदि आहार दाता गृहिणी के केश आदि गीले हों तो योगवाही उससे आहारादि ग्रहण न करें।

• कोई दात्री तेल मिश्रित कुंकुम द्वारा शरीर को पीतवर्णी कर रही हो, तो गणियोगी उस दिन उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण न करें।

• यदि देय पदार्थ स्थिर कपाट आदि में रखे हुए हों और अकल्पित द्रव्य उससे स्पर्शित हो रहे हों, तब भी उस कपाट से बाहर करके दिया जाने वाला भोजन गणियोगी के लिए शुद्ध है किन्तु अस्थिर कपाट आदि अकल्पित द्रव्य से स्पर्शित हों, तो उसके ऊपर से नीचे उतारकर दिया जाने वाला भोजन-पानी आदि गणियोगी के लिए शुद्ध नहीं होता है।

• यदि देय पदार्थ एक के ऊपर एक ऐसे चार-पाँच बर्तन में रखे हुए हों या इसी प्रकार कोई बर्तन माले (टांड) आदि पर रखे हुए हों या नीचे तलघर में रखे हों, तो योगवाही उन बर्तनों से दी जाने वाली भिक्षा ग्रहण न करें। एक बर्तन के साथ दूसरा बर्तन रखा हो अथवा वे तिर्यक दिशा में किंचित दूरी पर रखे हुए हों तो उन बर्तनों से आहार ग्रहण कर सकते हैं। स्पष्ट है कि गणियोगवाही एक के ऊपर एक ऐसे दो-तीन बर्तनों से दी गई भिक्षा ही ग्रहण कर सकता है। इससे अधिक ऊपर रखे गए एवं अधिक दूरी पर रखे गए बर्तनों से दी गई भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता है।

• यदि देने योग्य भोजन के पात्रों का ऊँचा ढेर लगा हुआ हो, वहाँ अकल्पित वस्तु से युक्त पात्र का सातवें पात्र तक भी स्पर्श हो रहा हो, तब भी गणियोगवाही

उन पात्रों की भिक्षा ग्रहण न करें। कुछ आचार्यों के अनुसार अकल्पित वस्तु प्रासुक भोजन के बर्तनों से तीसरे क्रम तक स्पर्श कर रही हों, तो उस पात्र का आहार ले सकते हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार अकल्पित वस्तु दो परम्परा तक स्पर्श कर रही हों, तो भी उस पात्र का आहार आदि ग्रहण कर सकते हैं।

• इसी तरह की सामाचारी ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर बैठे हुए एवं परस्पर में सम्बद्ध दायक पुरुषों में भी जाननी चाहिए।

• गणियोगी आहार का संग्रह न करें और कामातुर कुत्ता, बिल्ली, वृषभ, अश्व, मुर्गा, हाथी, नपुंसक एवं आधाकर्मी आहार का संस्पर्श न करें, इससे प्रवर्त्तमान तप का उपघात होता है।

• गणियोग में उपयोग लिए गए पात्र आदि में कण मात्र भी भोजन का अंश न रहे, इसका पूरा ध्यान रखें, यदि रह जाये तो तप दूषित होता है।

• गणियोगी सूखे प्रासुक हाथों से ही भिक्षादि ग्रहण करें। यदि भिक्षादाता अप्रासुक जल से युक्त हो अथवा अप्रासुक वस्तु से स्पर्शित हो तो उस स्थिति में आहार लेने पर आधाकर्म दोष लगता है।

• गणियोगवाही स्वाध्याय आदि की समस्त प्रवृत्तियाँ वाचनाचार्य की अनुमति से करें, स्वेच्छा से कुछ भी न करें। यद्यपि सूत्र पुनरावर्तन और अनुप्रेक्षा, ये दो प्रकार के स्वाध्याय यथेच्छा कभी भी किए जा सकते हैं उसके लिए गुर्वाज्ञा आवश्यक नहीं है।

• जैनाचार्यों के अनुसार गणियोगी को दिन की प्रथम पौरुषी के मध्य ही प्रवेदन एवं संघट्ट ग्रहण की अनुमति प्राप्त कर लेनी चाहिए, तभी उसके लिए आहारादि लेना कल्पता है। यदि प्रथम पौरुषी बीत जाने के पश्चात प्रवेदन आदि का अनुष्ठान करते हैं तो उस दिन उसे आहारादि ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

• गणियोग के दिनों में गणियोगी को शारीरिक असह्य कारण उत्पन्न हो जाये तो उसे वाचनाचार्य की अनुमति पूर्वक घृत-तेल आदि द्वारा हाथ-पैर आदि की मालिश करना तथा विगय द्रव्य से संसृष्ट हाथ आदि द्वारा दी जाती हुई भिक्षा ग्रहण करना कल्पता है।

अब, गणियोगवाही किस प्रकार का भोजन-पानी ग्रहण कर सकता है? वह बताते हैं–

कक्कव– गुड़ बनाते समय इक्षुरस की एक अवस्था, इक्षुरस, *गुड़पाक*–

गुड़ की चासनी, *गुलवाणी*– थोड़े आटे को घी में सेककर, उसमें गुड़ का पानी डालकर बनायी गई वस्तु– राब, शक्कर-मिश्री, शक्कर का बाट, खीर-दूध में थोड़े से चावल डालकर बनाया गया खाद्य पदार्थ, दूधपाक, *दुग्धशाटिका*–सूखा नारियल एवं द्राक्ष डालकर पकाया गया दूध, *कर्करियग*– कर्कर आवाज करने वाली वस्तु, *मोरिंडक*– तिल आदि के मोदक, *गुलधाणा*– गुड़ और घी की चासनी बनाकर उसमें धान्य विशेष डालकर बनाया गया पदार्थ, *कुल्लरि*– आटे से बनाया गया एक तरह का मिष्ठान्न, *सत्तु*– भुंजे हुए जौ आदि का चूर्ण, *करबा*– दधि निष्पन्न चावल, *घोल*– वस्त्र से छाना हुआ दही, *श्रीखंड*– दही में से पानी निकालकर, शक्कर डालकर एवं छानकर बनाया गया पदार्थ, *तिल पपड़ी*– तिल से बनी हुई खाद्य *वस्तु*– ये सभी पदार्थ संस्कारित हों तो योगवाही ग्रहण कर सकता है। आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार तिल का चूर्ण, तिल का पिण्ड, तिल का खोल दूसरे दिन ही लेना कल्पता है।

गृहस्थ के द्वारा निम्न वस्तुएँ स्वयं के लिए निर्मित की गई हों तो गणियोगी को लेना कल्पता है। जैसे *वीसंदण*– दही की तर और आटे से बनता एक प्रकार का खाद्य मिष्ठान्न, *भरोलग*– घृत और कच्चे चावल से निर्मित मुठिया आदि, *नन्दिहलि*– एक तरह का खाद्य पदार्थ आदि। इनके अतिरिक्त छोटी हरडों का पानी, द्राक्ष का पानी, इमली का पानी, सौंठ, कालीमिर्च आदि उसी दिन के हों तो मुनि को लेना कल्पता है।

यदि दही और चावल को मिश्रित कर संस्कारित किया गया पदार्थ और पूरण पूडी उसी दिन की बनी हों, तो गणियोगी के लिए ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु दूसरे दिन ये ही पदार्थ अकल्प्य हो जाते हैं।

विधिमार्गप्रपा के मतानुसार भगवतीसूत्र के योग करते समय षष्ठ योग लगने के पूर्व तक छाछ की कढ़ी एवं छाछ द्वारा निर्मित पदार्थ ग्रहण करने नहीं कल्पते हैं, किन्तु षष्ठयोग लगने के पश्चात अच्छी तरह से बनाई गई छाछ के पदार्थ लेने कल्पते हैं। आचारदिनकर के अभिप्राय से छाछ एवं घी (निवियाता घी) में पकी हुई सब्जी सदैव कल्प्य है। इसी तरह मार्जित करके बनाए गए व्यंजन, यदि उनमें ऊपर से घी न डाला गया हो, तो वे सभी भी कल्प्य है। इस प्रकार पकाए हुए रस रहित पकवान भी योगवाही मुनियों को लेना कल्पता है।

गणियोग के दिनों में किसी योगवाही का शारीरिक सामर्थ्य शिथिल हो

गया हो तो अपवादत: जिस घृत आदि में से तीन बार पकवान बनाया जा चुका है, उसके बाद जो घी शेष बचा हो, उसमें चौथी बार बनाया गया पकवान ग्रहण करना कल्पता है अथवा तीन बार पकवान बनने के बाद बचे हुए तेल आदि में पीछे से बनाई गई मिठाई अथवा पूआ आदि बन जाने के पश्चात उस घृत पात्र में बनाया गया पकवान भी ग्रहण करना कल्पता है।

सामान्यतया जिस योगवाही के द्वारा गृहस्थ के हाथ आदि विगय द्रव्यों से व्याप्त देखे गये हों अथवा उन्हें आँखों से अंजन पोंछते हुए अथवा धोयी हुई आँखों को सुखाते हुए देखा गया हो, तो वह ऐसे दायकों से भिक्षा न लें।

तात्पर्य है कि एक ही दाता किसी योगवाही को आहार देने के लिए शुद्ध होता है और किसी के लिए अशुद्ध। इसीलिए 'अमुक दूषित है' ऐसा परस्पर में नहीं कहना चाहिए।

योगवाही की विशिष्ट सामाचारी

1. परम्परागत सामाचारी के अनुसार योगवाही को बत्तीस ग्रास से अधिक नहीं खाना चाहिए।

2. योगवाही भिक्षा प्राप्ति के लिए ढाई कोस से अधिक परिभ्रमण न करें।

3. सशक्त योगवाही शरीर ढकने के लिए तीन वस्त्रों का ही उपयोग करें तथा निर्बल योगवाही समाधि न रहने तक चार वस्त्रों का भी उपयोग कर सकता है। योगवाही दिन के प्रथम प्रहर के अन्त में प्रवेदन विधि और संघट्ट विधि अवश्य करें।

4. द्वितीय प्रहर के अन्त में भिक्षाचर्या सम्बन्धी कृत्य करें।

5. योगवाही वाचनाचार्य से संस्पृष्ट वस्त्र को दो, तीन, चार दिन या स्वयं की समाधि के अनुसार इससे अधिक दिनों तक भी पहन सकता है।

6. योगवाही शीतादि सर्व प्रकार के परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करें।

7. योगवाही मुनियों के साथ साध्वियाँ भी उद्देशादि क्रिया कर रही हों तो वे चोलपट्ट धारण करें, नहीं तो अग्रभाग ढ़कना ही आवश्यक है, परन्तु योगोद्वाहिनी साध्वियों को चद्दर ओढ़कर ही योगक्रिया करनी चाहिए।

समाहारत: इस अनुष्ठान को आगम विहित और गीतार्थ उपदिष्ट विधि के अनुसार वाचनाचार्य की अनुमति पूर्वक शंका रहित होकर करना चाहिए। यदि कोई शिष्य आगम सूत्रों को स्वयं ही पढ़ लें अथवा विपरीत विधि पूर्वक योग

चर्या करें तो वह महापाप का बंधन करता है। शास्त्रों में कहा भी गया है कि जो शिष्य योगोद्वहन के विपरीत कोई अनुष्ठान करता है वह उन्माद अवस्था को प्राप्त करता है, दीर्घकाल तक रोगांतक कष्ट पाता है और केवलि प्ररूपित धर्म से भी भ्रष्ट होता है।

जो श्रुत की आशातना करता है, वह आशातना के परिणामस्वरूप इहलोक और परलोक में शास्त्र विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता है और दीर्घ समय तक संसार परिभ्रमण करता है। तीर्थंकर पुरुषों के द्वारा श्रुत की आराधना के लिए जो कुछ कहा गया है उससे विपरीत करने पर जिनाज्ञा भंग और महापाप होता है।

योगवाही कायोत्सर्ग आदि अन्य अनुष्ठान भी अत्यन्त उपयोग पूर्वक करें। ग्रासैषणा सम्बन्धी पाँच दोषों का परिहार करते हुए आहार सेवन करें। यह मुख्यतया गणियोग की सामाचारी है।

योगोद्वहन सम्बन्धी प्रायश्चित्त

योगोद्वहन चर्या को सजगता पूर्वक करते हुए भी प्रमादवश या अज्ञान आदि के कारण किसी तरह की स्खलना हो जाये तो योगवाहियों को प्रायश्चित्त आते हैं। इस विषयक विस्तृत वर्णन प्रायश्चित्त विधि (खण्ड-10) में किया जाएगा। यद्यपि सामान्य प्रायश्चित्त निम्न हैं–

कालिकसूत्र का योगोद्वहन करने वाला मुनि संघट्टा ग्रहण किए बिना ही भोजन कर ले, आधाकर्मी या पूर्व से संगृहीत किया गया भोजन करें, असमय में मलोत्सर्ग करें, वसति का प्रतिलेखन नहीं करें, एकाकी ही वसति से 100 कदम आगे भ्रमण कर लें, कषायों का पोषण करें, व्रतों का पोषण नहीं करें, अभ्याख्यान, पैशुन्य या परपरिवाद करें, पुस्तक को जमीन पर रखे या इसी तरह की अन्य क्रियाओं के द्वारा ज्ञान की आशातना करें, रजोहरण एवं चोलपट्टे को अपने हाथों से भूमि पर न रखकर ऊपर से ही भूमि पर डाल दें, दोनों समय खड़े होकर आवश्यक क्रिया न करें, प्रात:काल स्वाध्याय न करें, उपधि एवं भोजन भूमि की प्रतिलेखना न करें, स्वाध्याय भूमि का प्रमादवश प्रमार्जन न करें तो इन सभी अतिचारों से मुक्त होने के लिए योगवाही प्रायश्चित्त के रूप में उपवास करें। इसी प्रकार दरवाजे को प्रमार्जित किए तो प्रायश्चित्त के रूप में आयंबिल करें। आवश्यक क्रिया समय पर न की हो, गोचरी भी उचित समय

न की हो या नैषेधिकी सामाचारी का पालन न किया हो तो उसके प्रायश्चित्त के लिए नीवि करें। तिर्यंच जीवों को पीड़ा दी हो तो एकासना करें।[51]

दीक्षा पर्याय के अनुसार आगमों का अध्ययन क्रम

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात मुनि को आगम ग्रन्थों का अध्ययन (योगोद्वहन) एवं उसका वाचन (अध्यापन) कब करना चाहिए? यदि इस सन्दर्भ में पर्यावलोकन करें तो श्वेताम्बर-परम्परा के आगम साहित्य में तद्विषयक स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है।

व्यवहारसूत्र में इसकी चर्चा करते हुए बतलाया गया है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को आचारांगसूत्र, चार वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को सूत्रकृतांगसूत्र, पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को दशाश्रुत, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र, आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को स्थानांग और समवायांगसूत्र, दस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को भगवती सूत्र, ग्यारह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका और व्याख्या चूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात, तेरह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्र परियापनिका और नागपरियापनिका, चौदह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को स्वप्न भावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को चारण भावना, सोलह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को तेजोनिसर्ग, सत्रह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को आसीविष भावना, अठारह वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को दृष्टिविष भावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग तथा बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण सर्वश्रुत को धारण कर सकता है अर्थात बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय होने के बाद तो सभी आगम-सूत्र पढ़े जा सकते हैं।[52]

आगमों के अध्ययन हेतु निश्चित दीक्षा पर्याय का विधान क्यों?

आगमों का अध्ययन करने के लिए निर्धारित दीक्षा पर्याय का होना इसलिए आवश्यक है कि अमुक दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण ही उपर्युक्त आगम सूत्रों को सम्यक प्रकार से ग्रहण कर सकता है। व्यवहारभाष्य में तत्सम्बन्धी

कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिसके, उपस्थ रोम नहीं उगे हैं उसे आचार्य आचार प्रकल्प (आचारांगसूत्र) की वाचना नहीं दे। जैसे–चारित्र को धारण करने में आठ वर्ष से कम आयु का बालक असमर्थ होता है वैसे ही अपरिपक्व बुद्धि वाला मुनि आपवादिक नियमों को धारण करने में असमर्थ होता है। किन्तु जिसके उपस्थ रोम उग चुके हैं, जो 14-15 वर्ष की आयु को प्राप्त हो चुका है वह आचारांगसूत्र की वाचना ले सकता है। लगभग तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला मुनि संयम पालन आदि क्रियाओं में परिपक्व बुद्धि वाला हो जाता है। इसलिए तीन वर्ष के दीक्षित मुनि के लिए आचारांग पढ़ने का निर्देश किया है।

चार वर्ष की संयम पर्याय वाला मुनि धर्म में गाढ़ मति वाला होता है। अत: वह कुतीर्थिकों के सिद्धान्तों से अपहृत नहीं होता, इसलिए चार वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले मुनि के लिए सूत्रकृतांगसूत्र पढ़ने का निर्देश किया है। पाँच वर्ष की संयम पर्याय वाला मुनि अपवादों को धारण करने योग्य होता है अर्थात द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के अनुसार आचार मर्यादाओं का निरतिचार पालन करने में समर्थ होता है। इसलिए उसे दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र की वाचना दी जा सकती है। पाँच वर्षों से ऊपर का संयम पर्याय प्रकृष्ट कहलाता है। स्थानांग और समवायांगसूत्रों के अध्ययन के बिना कोई भी मुनि श्रुत स्थविर नहीं कहा जाता तथा इस पर्याय (छ: से नौ वर्ष) के बिना उनका अध्ययन भी नहीं होता, इसलिए स्थानांग और समवायांग के अध्ययन का काल छ: से नौ वर्ष बताया है। इन सूत्रों से परिकर्मित मति वाले साधु को आगे व्याख्याप्रज्ञप्ति की वाचना दी जा सकती है अत: इसके लिए दस वर्ष की संयम पर्याय का निर्देश है।

ग्यारह वर्ष की संयम पर्याय वाला मुनि क्षुल्लिका और महल्लिका विमानप्रविभक्ति नामक ग्रन्थ पढ़ सकने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। बारह वर्ष की संयम पर्याय वाले मुनि द्वारा अरूणोपपात-गरुलोपपात आदि ग्रन्थों का अध्ययन इसलिए किया जा सकता है कि उनमें इन ग्रन्थों के परिणाम को उत्पन्न करने की शक्ति जागृत हो उठती है। भाष्यकार कहते हैं कि जब बारह वर्ष या उससे अधिक दीक्षा पर्याय वाला मुनि अरुणोपपात आदि ग्रन्थों के अधिष्ठायक देवताओं की साधना कर उनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है तब अध्ययनों के सदृश नाम वाले अरुण, वरुण, गरुड़, वेलंधर और वैश्रमण देवता दशों

दिशाओं को उद्योतित करते हुए परावर्त्तक मुनि के समक्ष बद्धांजलि पूर्वक उपस्थित होते हैं और पूछते हैं- मुनिवर! आज्ञा दीजिए, हमें क्या कार्य करना है? वरुणदेव गन्धोदक आदि की वर्षा करते हैं। अरुण और गरुड़ देव सुवर्ण दान करते हैं।

जब तेरह वर्ष की संयम पर्याय वाला मुनि कार्य विशेष से एकाग्रचित्त होकर उत्थानश्रुत का अध्ययन करता है तब वहाँ के कुल, ग्राम और देश आदि उजड़ जाते हैं। जब कार्य निष्पन्न होने पर समुत्थान श्रुत का परावर्तन होता है तब कुल, ग्राम आदि पुन: बस जाते हैं। देवेन्द्र परिज्ञापनिका का अध्ययन करने पर देवेन्द्र तथा नागपरिज्ञापनिका का अध्ययन करने पर नाग जाति के देव उपस्थित होते हैं।

चौदह वर्ष की संयम पर्याय वाले मुनि द्वारा महास्वप्न भावना अध्ययन का परावर्तन करने पर वह तीस सामान्य स्वप्न तथा बयालीस महास्वप्नों का पूर्ण ज्ञाता बन सकता है। पन्द्रह वर्ष की संयम पर्याय वाले मुनि द्वारा चारण भावना अध्ययन का पुनरावर्तन करने से चारणलब्धि उत्पन्न होती है। सोलह से लेकर उन्नीस वर्ष की संयम पर्याय वाले मुनि द्वारा तेजोनिसर्ग, आशीविष भावना और दृष्टिविष भावना- इन ग्रन्थों का अध्ययन करने पर क्रमश: तेजोलब्धि, आशीविष लब्धि और दृष्टिविषलब्धि समुत्पन्न होती है। यहाँ उल्लेख्य है कि जिस तपोयोग विधि के प्रयोग से ये लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं, वे विधियाँ इन अध्ययनों में प्रतिपादित हैं। बीस वर्ष का दीक्षित मुनि सभी आगमों का अध्ययन कर सकता है, क्योंकि कालक्रम से उसमें वैसा सामर्थ्य प्रकट हो जाता है।[53]

निष्पत्ति- यहाँ ध्यातव्य है कि व्यवहारसूत्र के कर्त्ता आचार्य भद्रबाहुस्वामी के समय जो श्रुत साहित्य उपलब्ध था, उन्हीं का अध्ययन क्रम बताया गया है। उससे परवर्तीकाल में रचित एवं निर्यूढ़ सूत्रों का इस अध्ययन क्रम में उल्लेख नहीं किया गया है, अत: औपपातिक आदि 12 उपांगसूत्रों एवं मूलसूत्रों के अध्ययन क्रम की यहाँ विवक्षा नहीं की गई है। यद्यपि सर्वप्रथम आचार सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर, उसके बाद छेद सूत्रों (प्रायश्चित्त एवं अपवाद सम्बन्धी ग्रन्थों) का अध्ययन किया जाये, उनके बाद स्थानांग, समवायांग एवं भगवती सूत्र के अध्ययन कर लेने पर पहले या पीछे किसी भी क्रम से शेष सूत्रों का अध्ययन किया जा सकता है।

आवश्यकसूत्र का अध्ययन तो उपस्थापना के पूर्व ही कर लिया जाता है। व्यवहारभाष्य में आचारांग एवं निशीथ के पूर्व दशवैकालिकसूत्र और उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन करने का भी निर्देश किया गया है। दशवैकालिकसूत्र के सम्बन्ध में ऐसी धारणा प्रचलित है कि भद्रबाहुस्वामी से पूर्व शय्यंभवसूरि ने इस सूत्र की रचना अपने पुत्र 'मनक' के लिए की थी। फिर संघ आग्रह से इस निर्यूढ सूत्र को पुनः पूर्वों में विलीन नहीं कर इसे स्वतंत्र रूप में ही रहने दिया। उत्तराध्ययनसूत्र के लिए भी ऐसी परम्परा प्रचलित है कि इस सूत्र में संकलित 36 अध्ययन भगवान महावीर की अंतिम देशना रूप है। उस समय देशना सुनकर किसी स्थविर ने उसे सूत्र रूप में गूंथा है।

किन्तु आगम अध्ययनक्रम में इन दोनों सूत्रों को स्थान नहीं दिए जाने के कारण एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों का सूक्ष्म बुद्धि से परिशीलन करने पर सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि उक्त दोनों सूत्रों से सम्बन्धित पूर्वोक्त धारणाएँ काल्पनिक हैं। वस्तुतः ये सूत्र भद्रबाहुस्वामी के पश्चात और देवर्द्धिगणी के पूर्व किसी काल में संकलित किए गए हैं। अतः इन दोनों सूत्रों का रचनाकाल व्यवहारसूत्र की रचना के बाद मानने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इन्हें उसके पहले के आचार्यों द्वारा रचित मानने पर व्यवहारसूत्र के अध्ययनक्रम में इनका निर्देश न होना विचारणीय बनता है।[54]

दूसरा पक्ष यह भी उल्लेखनीय है कि तीन वर्ष पर्याय आदि का जो कथन किया गया है उनका दो तरह से अर्थ किया जा सकता है– 1. दीक्षा पर्याय के तीन वर्ष पूर्ण होने पर उन आगमों का अध्ययन करना चाहिए। 2. तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय हो जाने पर योग्य मुनि को कम से कम आचारांग का अध्ययन कर लेना या करवा देना चाहिए। आचार्य मधुकर मुनि के अनुसार उक्त दोनों अर्थों में दूसरा अर्थ आगमानुसारी है।[55]

तीसरा पक्ष यह है कि दस वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद में अध्ययन हेतु कहे गए सूत्रों में से प्रायः सभी सूत्र नंदीसूत्र की रचना के समय कालिकश्रुत में उपलब्ध थे, किन्तु वर्तमान में उनमें से कोई भी सूत्र उपलब्ध नहीं है, केवल 'तेजनिसर्ग' नामक अध्ययन भगवतीसूत्र के पंद्रहवें शतक में उपलब्ध है।

ज्ञाताधर्मकथा आदि अंगसूत्रों का प्रस्तुत अध्ययन क्रम में निर्देश नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि इन सूत्रों में प्रायः धर्म कथाओं का वर्णन हैं जिनके क्रम की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, अनुकूलता के अनुसार इन

सूत्रों का अध्ययन कभी भी किया या करवाया जा सकता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में उपलब्ध आश्रव-संवर का वर्णन गणधर रचित नहीं है किन्तु बाद में संकलित किया गया है। व्यवहारसूत्र में उल्लेखित आगमों के नाम योगोद्वहन के क्रम से इस प्रकार हैं– 1-2. आचारांगसूत्र एवं निशीथसूत्र 3. सूत्रकृतांगसूत्र 4, 5, 6. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र 7-8. स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र 9. भगवतीसूत्र 10-14. क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्ग चूलिका, व्याख्या चूलिका 15-20. अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुड़ोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात 21-24. उत्थान श्रुत, समुत्थान श्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका, नागपरियापनिका 25. स्वप्न भावना अध्ययन 26. चारण भावना अध्ययन 27. तेजनिसर्ग अध्ययन 28. आशीविष भावना अध्ययन 29. दृष्टिविष भावना अध्ययन और 30. दृष्टिवाद अंग।

आचार्य मधुकरमुनि के निर्देशानुसार सूत्रांक 10 से 29 तक के आगम दृष्टिवाद नामक अंग के ही अध्ययन थे अथवा उससे पृथक् निर्यूढ़ किए गए सूत्र थे। इन सभी का नाम नंदीसूत्र में कालिकश्रुत की सूची में दिया गया है। इन सूत्रों के अंत में यह भी बताया गया है कि बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय तक सम्पूर्ण श्रुत का अध्ययन कर लेना चाहिए। तदनुसार वर्तमान में भी योग्य मुनि को उपलब्ध सभी आगमश्रुत का अध्ययन बीस वर्ष में पूर्ण कर लेना चाहिए। उसके बाद प्रवचन प्रभावना करनी चाहिए अथवा स्वाध्याय आदि में निमग्न रहते हुए आत्मसाधना करनी चाहिए।[56]

दीक्षा वय के अनुसार आगमों के अध्ययन का जो क्रम बतलाया गया है उसमें मुख्य हेतु यह भी है कि ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है पारिणामिकी बुद्धि विकसित होती है त्यों-त्यों दीक्षा पर्याय के बढ़ने से आत्मिक शुद्धि भी प्रगट होती है यह अनुभवसिद्ध कथन है। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्दिष्ट दीक्षा पर्याय पूर्ण होते-होते उन-उन सूत्रों को पढ़ने (आत्मसात करने) की शक्ति प्रगट हो जाती है। यह शक्ति प्रकट हुए बिना गृहीत ज्ञान स्थिर नहीं रह सकता है। वह राग-द्वेष मोहादि का नाशक नहीं होता है अपितु अजीर्ण रूप होने से अभिमान का निमित्त एवं शत्रुओं का पोषक बनता है। वस्तुतः वही सम्यक अध्ययन है जिसके द्वारा राग-द्वेष आदि शत्रु मंद, शिथिल एवं नष्ट हो। इस तथ्य को अन्य

उदाहरणों के द्वारा भी पुष्ट कर सकते हैं जैसे व्यावहारिक शिक्षण में भी क्रमबद्ध पढ़ने की ही व्यवस्था है। औषध सेवन के सम्बन्ध में भी यही क्रम अपनाया जाता है पहले सामान्य दवा दी जाती है फिर जैसे-जैसे रोग मन्द पड़ता है वैसे-वैसे पुष्टिकारी औषध देते हैं। नवजात शिशु के सम्बन्ध में भी यही देखा जाता है कि उसे प्रथम माता का स्तनपान करवाते हैं, फिर दूध देते हैं और फिर धीरे-धीरे अन्न खिलाया जाता है अन्यथा विपरीत क्रम अपनाने पर मृत्यु जैसी स्थिति भी पैदा हो सकती है। तब जो दोष आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्पृक्त हैं उन्हें दूर करने के लिए ज्ञानरूपी औषध का सेवन भी क्रम एवं विधि पूर्वक करना अत्यन्त जरूरी है। जो श्रमण स्वच्छंद वृत्ति के कारण जब चाहे तब कुछ भी पढ़ लेता है वह स्वयं के ज्ञान से ही स्व-आत्मा का अहित कर लेता है अतएव पूर्व निर्दिष्ट अध्ययन क्रम को उपकारक समझकर तथाविध आचरण करना चाहिए।

आगम शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन (योगोद्वहन) का क्रम

वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा में आगम सूत्रों के योग निम्न क्रम से करवाये जाते हैं– सबसे पहले 1. आवश्यकसूत्र 2. दशवैकालिकसूत्र 3. उत्तराध्ययनसूत्र 4. आचारांगसूत्र 5. कल्पसूत्र– इसमें निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध को समाहित करके इन सूत्रों के योग निर्दिष्ट क्रम से करवाए जाते हैं। 6. फिर महानिशीथसूत्र 7. औपपातिक आदि प्रारम्भ के चार उपांग सूत्र के योग करवाये जाते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि महानिशीथ के योग करवाने के पश्चात प्रकीर्णक सूत्रों के योग करवाए जाते हैं। तदनन्तर उपांग सूत्रों के योग एक साथ या पृथक-पृथक भी कर सकते हैं। मतान्तर से आचारांग एवं कल्पसूत्र के योगवहन के बाद भी इनके योग करवाए जा सकते हैं अथवा प्रत्येक अंगसूत्र के योग के बाद भी उससे प्रतिबद्ध उपांगसूत्र का योग किया-करवाया जा सकता है। इस नियम के अनुसार महानिशीथ के बाद 8. नंदी सूत्र 9. अनुयोगद्वार 10. प्रकीर्णकसूत्र 11. सूत्रकृतांगसूत्र 12. स्थानांगसूत्र 13. समवायांग सूत्र 14. भगवतीसूत्र 15. ज्ञाताधर्मकथासूत्र 16. उपासकदशासूत्र 17. अंतकृतदशासूत्र 18. अनुत्तरोपपातिकसूत्र 19. प्रश्न-व्याकरणसूत्र 20. विपाकश्रुत के योग करवाये जाते हैं। उपांग सूत्रों के योग उनसे प्रतिबद्ध अंग सूत्रों के योग के पश्चात या सभी अंग सूत्रों के योग पूर्ण होने के बाद करवाए जाते हैं।

दिगम्बरमान्य मोक्षमार्ग प्रकाशक के उल्लेखानुसार सर्वप्रथम द्रव्यानुयोग का अध्ययन करना चाहिए। उसके बाद क्रमशः प्रथमानुयोग, चरणानुयोग एवं करणानुयोग का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रम से अध्ययन करने का यह प्रयोजन बतलाया गया है कि सबसे पहले तत्त्व का सच्चा ज्ञान होना चाहिए, इसलिए द्रव्यानुयोग पढ़े। उसके बाद पुण्य-पाप के फल की जानकारी हेतु प्रथमानुयोग पढ़े। फिर शुद्धोपयोग से आत्मा को मोक्ष का अधिकारी मानते हुए तदनुरूप आचरण करने के उद्देश्य से चरणानुयोग का अभ्यास करें। इसके बाद गुणस्थान-मार्गणादि जीव का व्यावहारिक स्वरूप समझने हेतु करणानुयोग का अभ्यास करें। दिगम्बर मतानुसार उक्त क्रम से श्रद्धान पूर्वक आगम का अभ्यास किया जाए तो सम्यक ज्ञान होता है।[57]

कौनसा आगम कब पढ़ना चाहिए?

दशाश्रुतस्कन्ध टीका में आगम सूत्रों के स्वाध्याय काल का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि नन्दी, अनुयोगद्वार एवं दशवैकालिक- ये सूत्र अस्वाध्याय काल के अतिरिक्त शेष सभी काल में पढ़े जा सकते हैं। आवश्यकसूत्र का स्वाध्याय अहोरात्रि के सर्व कालों में किया जा सकता है।[58]

आचारांग आदि ग्यारह अंग शास्त्रों के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक आदि दिवस के प्रथम प्रहर में पढ़ने चाहिए, मध्य प्रहर में नहीं। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में पढ़ने चाहिए, रात्रि के मध्यकाल में नहीं।

अंगबाह्य शास्त्रों के अध्ययन एवं उद्देशक आदि का स्वाध्याय रात्रि काल में भी होता है। दिगम्बर आचार्य वट्टकेर मुनियों के लिए नियमित एवं अनियमित तथा विधि युक्त पढ़े जाने योग्य शास्त्रों का उल्लेख करते हुए कहते हैं- गणधर कथित अंग, श्रुतकेवली कथित चौदह पूर्व एवं वस्तु और अभिन्न दशपूर्वी कथित प्राभृत-प्राभृत, ये सूत्र कहलाते हैं अथवा तीर्थंकर परमात्मा के मुख कमल से निसृत अर्थ को ग्रहण कर गौतम आदि गणधर मुनियों द्वारा सूत्र रूप में रचित अंग, पूर्व वस्तु और प्राभृतक आदि सूत्र कहलाते हैं।[59]

मूलाचार के अभिप्राय से उपर्युक्त प्राभृतक आदि चार प्रकार के सूत्र अस्वाध्याय काल में मुनि वर्ग और आर्यिकाओं को नहीं पढ़ने चाहिए। इन सूत्रों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ काल शुद्धि आदि के बिना भी पढ़े जा सकते हैं। जैसे-

सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं का स्वरूप कहने वाले ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरण का वर्णन करने वाले ग्रन्थ, पंचसंग्रह ग्रन्थ, स्तुति ग्रन्थ, आहार आदि के त्याग का उपदेश करने वाले ग्रन्थ, सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ, महापुरुषों के चारित्र का वर्णन करने वाले ग्रन्थ तथा अन्य भी इस तरह के ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में पढ़े जा सकते हैं।[60]

दिगम्बर मतानुसार वर्तमानकाल में षट्खण्डागम सूत्र, कषायपाहुड़ सूत्र और महाबंध सूत्र अर्थात धवला, जयधवला और महाधवला जैसे टीका ग्रन्थ सूत्र माने जाते हैं, चूँकि वीरसेनाचार्य ने धवला, जयधवला टीका में इन्हें सूत्र सदृश मानकर सूत्र ग्रन्थ कहा है अत: ये ग्रन्थ अस्वाध्याय-काल में नहीं पढ़े जाते हैं। इनसे अतिरिक्त ग्रन्थों को अस्वाध्याय काल में पढ़ा जा सकता है।

साध्वियों के लिए मूल आगम पढ़ने का निषेध क्यों

वर्तमान परम्परा में साध्वी को सभी आगम सूत्रों के अध्ययन-योगोद्वहन करने का अधिकारी नहीं माना गया है किन्तु जब आगमसूत्रों का गहराई से अध्ययन करते हैं तो अन्तकृतदशा में यक्षिणी आर्या के सान्निध्य में पद्मावती आदि[61] तथा चन्दना आर्या के सान्निध्य में काली आदि के द्वारा 11 अंगों के अध्ययन करने का उल्लेख किया गया है।[62] इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा में सुव्रता आर्या के सान्निध्य में द्रौपदी द्वारा 11 अंगों के अध्ययन करने का सूचन है।[63]

डॉ. अरुणप्रताप सिंह के अनुसार बौद्ध ग्रन्थ थेरीगाथा में भी कुछ विदुषी जैन साध्वियों के द्वारा शास्त्र अध्ययन करने का निर्देश है।[64] यद्यपि उक्त ग्रन्थों में 11 अंगों के अध्ययन का जो निर्देश किया गया है वह सम्भवत: मूल पाठ न होकर अर्थ पाठ ही होना चाहिए, क्योंकि कुछ शास्त्र इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि वे आचार्य आदि पदस्थ भिक्षु के द्वारा ही ग्रहण किये जा सकते हैं। दूसरे, यहाँ जैन भिक्षुणियों के लिए 11 अंगों के अध्ययन करने का ही उल्लेख किया गया है, इससे 12वाँ दृष्टिवाद अंग के पढ़ने का स्वत: निषेध हो जाता है।

बृहत्कल्पभाष्य में 12वें अंगसूत्र को न पढ़ने के साथ-साथ इस नियम की पुष्टि में तर्क देते हुए बतलाया है कि स्त्री जाति निम्न प्रकृति वाली, गर्वीली, चंचल तथा दुर्बल बुद्धि वाली होती हैं अत: दृष्टिवाद जैसे मन्त्र-तन्त्र प्रधान ग्रन्थ को पूर्ण रूप से आत्मस्थ कर लेना साध्वी के लिए असम्भव है।[65] आगमिक व्याख्याओं में भिक्षुणी के लिए महापरिज्ञा, अरुणोपपात आदि ग्रन्थ भी पढ़ने का

निषिद्ध है क्योंकि इन ग्रन्थों को भूतवाद कहा गया है। इनमें मन्त्र, भूत-प्रेत, मारण, उच्चाटन आदि अलौकिक शक्तियों का वर्णन है।[66]

योगोद्वहन काल में करणीय अनुष्ठानों का क्रम

उत्कालिक सूत्रों के योग में अनुष्ठानों का क्रम

पहले दिन योग प्रवेश की विधि करें। • फिर नन्दी क्रिया करें। • फिर जिस सूत्र के योग में प्रवेश किया गया है उसके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। • फिर प्रवेदना विधि करें। • इसी क्रम में मुनि जीवन की दैनिक चर्याएँ जैसे प्रतिलेखना, भिक्षाचर्या आदि सम्पन्न करें।

प्रतिदिन प्रात:काल में प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखना आदि करें। • फिर गुरु के समक्ष जिस सूत्र का योग चल रहा है, उसके उद्देश– समुद्देशादि करें अर्थात उस सूत्र पाठ की वाचना लें। • फिर प्रवेदन विधि करें। तत्पश्चात मुनि जीवन की दैनिक चर्याओं का पालन करें।

कालिक सूत्रों के योग में क्रियानुष्ठानों का क्रम

• सूर्योदय होने से कुछ समय पूर्व नोंतरा विधि करें। • फिर प्राभातिक काल का ग्रहण करें। • साथ इसी के कालमंडल की प्रतिलेखना करें। • तदनन्तर रहने योग्य वसति का प्रमार्जन कर निकले हुए अशुचि द्रव्य का परिष्ठापन करें तथा वसति के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त भूमि का निरीक्षण करें। फिर गुरु के निकट आकर 'वसति शुद्ध है' और 'काल शुद्ध है' इस प्रकार वसति एवं काल की शुद्धि का प्रवेदन करें। • उसके बाद स्वाध्याय प्रस्थापना करें। • तत्पश्चात पाटली क्रिया (कालमंडल का प्रतिक्रमण) करें। यदि अंग सूत्र या श्रुतस्कन्ध का उद्देश या अनुज्ञा करनी हो तो नंदी क्रिया करें। • फिर प्रवेदन विधि करें अर्थात जिस सूत्र का योग चल रहा हो, उस सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का निवेदन करें और उन्हें नियत समय पर करने की अनुमति ग्रहण करें। • फिर जिस सूत्र का योग चल रहा हो, उसके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। फिर संघट्ट (पात्रादि) ग्रहण एवं आउत्तवाणय विधि (अत्यन्त सजग रहने की प्रतिज्ञा) करें। तदनन्तर सन्ध्याकाल में संघट्टा एवं आउत्तवाणय से निवृत्त होने की क्रिया करें अर्थात उक्त क्रियाओं में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करें। फिर सन्ध्याकाल में प्रादोषिक काल ग्रहण करें। इसके अतिरिक्त साधु जीवन की सभी आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करें।

विविध दृष्टियों से योगोद्वहन की उपादेयता

योगोद्वहन मूलत: स्थूल से सूक्ष्म, सक्रिय से निष्क्रिय, भेद से अभेद और योग से अयोग का प्रयोग है। इस प्रयोगात्मक साधना की संसिद्धि हेतु चित्त की एकाग्रता, विशुद्ध संयम व्यापार, ऐन्द्रिक नियंत्रण, तप:कर्म एवं योग गुप्ति आदि का होना परमावश्यक है। इन सभी में योगशुद्धि का प्राधान्य है। योग-बंधन एवं निर्जरा दोनों का हेतु है। योग से ही योग की विशुद्धि होती है। मन, वचन और कायिक सत्यता से योग को विशुद्ध किया जा सकता है। योग की निरोध करने से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति होती है।

सर्वप्रथम मनोगुप्ति से एकाग्रता प्राप्त होती है। एकाग्रता से निम्न लाभ होते हैं- 1. चित्तवृत्ति का निरोध 2. अशुभ विकल्प से मुक्ति 3. समभाव की पुष्टि और 4. विशुद्ध संयम की वृद्धि।[67] वचनगुप्ति से साधक निर्विचार भाव को प्राप्त करता है। निर्विचार भाव से तीन लाभ होते हैं- 1. अशुभ वचन से निवृत्ति और शुभ वचन में प्रवृत्ति 2. मौन व्रत की आराधना और 3. अध्यात्म योग के साधनभूत ध्यान से युक्त होता है।[68]

कायगुप्ति से साधक आस्रव का निरोध और संवर की प्राप्ति करता है। संवर की प्रवृत्ति से निम्न तीन लाभ होते हैं-

1. अशुभ कायिक प्रवृत्तियों का निरोध 2. शुभ कायिक चेष्टाओं में प्रवृत्ति और 3. पापास्रवों का निरोध होता है।[69]

इस प्रकार मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति से कर्म निर्जरा होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में शुभ योग को समाधारणा कहा गया है। समाधारणा का मूलार्थ समाधि है अथवा योग प्रवृत्ति को सम्यक प्रकार से नियोजित करना अर्थात स्थिर करना समाधारणा है। योग तीन है अत: समाधारणा (समाधि) भी तीन प्रकार की होती है। उनकी फलश्रुतियाँ निम्न हैं-

सम्यक मनन, चिन्तन और समाधि भाव में स्थिर रहना मन समाधारणा है। मन समाधारणा से 1. चित्त की एकाग्रता 2. वस्तु स्वरूप का तात्त्विक बोध 3. सम्यकदर्शन की विशुद्धि और 4. मिथ्यात्व का क्षय होता है।[70]

वाणी को सतत स्वाध्याय में संलग्न रखना वचन समाधारणा है। वचन समाधारणा से 1. वाणी के विषय भूत दर्शन पर्यवों की विशुद्धि 2. सुलभबोधि की प्राप्ति और 3. दुर्लभबोधि की निर्जरा होती है।

काया को संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में संलग्न रखना काय समाधारणा है। काय समाधारणा से 1. चारित्र पर्यायों की विशुद्धि 2. यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति 3. तीर्थंकरों में विद्यमान चार अघाति कर्मों का क्षय 4. सिद्ध दशा की उपलब्धि और 5. समस्त दु:खों का अन्त होता है।

योगोद्वहन की चरम फलश्रुति समाधारणा की उपलब्धि है। इस प्रकार यह साधना योग गुप्ति से प्रारम्भ होकर समाधारणा में पूर्ण होती है।

योगोद्वहन के माध्यम से श्रमण ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पन्न बनता है यानी ज्ञानादि रत्नत्रय की समृद्धि को उपलब्ध करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि सम्यक प्रकार से श्रुतज्ञान की प्राप्ति करने वाला ज्ञान सम्पन्न कहलाता है। ज्ञान सम्पन्नता से 1. सर्व पदार्थों का ज्ञान 2. चतुर्गति रूप संसार का निरोध 3. ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों की संप्राप्ति और 4. स्व-सिद्धान्त पर सिद्धान्त विषयक संशय छेदन के योग्य होता है।[71]

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला अथवा श्रुतज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करने वाला दर्शन सम्पन्न कहलाता है। दर्शन सम्पन्नता से 1. मिथ्यात्व का उच्छेद 2. सम्यक्त्व का प्रकाश 3. अनुत्तर (श्रेष्ठतम) केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति और 4. सम्यक प्रकार से भावित हुआ निर्विकल्प विचरण करता है।

सतरह प्रकार के संयम में सुस्थित एवं मुनि धर्म के सत्ताईस गुणों को प्राप्त करने वाला साधक चारित्र सम्पन्न कहलाता है। चारित्र सम्पन्नता से तीन लाभ होते हैं 1. शैलेशी भाव की प्राप्ति 2. चार अघाति कर्मों का क्षय और 3. सिद्ध-बुद्ध-मुक्त दशा की संप्राप्ति होती है।

योगोद्वहन संयमित व्यापार और तपश्चर्या पूर्वक वहन किया जाता है। संयम से आश्रव निरोध और तपस्या से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होकर विशुद्ध दशा प्राप्त होती है। विशुद्धि से अक्रियता तथा अक्रियता से निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।[72]

व्यवहारभाष्य के अनुसार प्रतिक्रमण या प्रतिलेखन आदि संयम योगों में से किसी भी योग में तन्मय होने से प्रतिक्षण असंख्य भावों में अर्जित कर्म क्षीण होते हैं। विशेष रूप से स्वाध्याय योग (योगोद्वहन) कायोत्सर्ग, वैयावृत्य और अनशन में तल्लीन होने से असंख्य भवोपार्जित कर्मों की विशेष निर्जरा होती

है।[73] जो आचार्य अपने योग्य शिष्यों को यथाविहित काल में प्रकीर्णक आदि की वाचना देते हैं, आगम अभ्यास करवाते हैं, उनकी भी विपुल निर्जरा होती है।[74]

बृहत्कल्पभाष्य के उल्लेखानुसार शास्त्रों के अध्ययन से निम्न आठ गुण निष्पन्न होते हैं-

1. आत्महित- आत्महित का सम्यक ज्ञान होता है।

2. परिज्ञा- प्रत्याख्यान परिज्ञा का विकास होता है।

3. भाव संवर- क्रोध-मान आदि कषायों का निरोध होता है।

4. नव-नव संवेग- मुनि जैसे-जैसे अपूर्व श्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे वह संवेग श्रद्धा (वैराग्यमयी मोक्षाभिलाषा) से अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है।

5. निष्कम्पता- वह कर्ममल से विशुद्ध होता हुआ जीवन पर्यन्त संयम में स्थिर रहता है।

6. तप- श्रुत अध्ययन से यह भावना पुष्ट होती है कि तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट द्वादशविध बाह्य और आभ्यन्तर तप में स्वाध्याय के तुल्य कोई तप:कर्म न है, न था और न होगा।

7. निर्जरा- अज्ञानी जीव अनेकों कोटि वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, ज्ञानी उतने कर्मों का क्षय उच्छवास मात्र में कर लेता है।

8. परदेशकत्व- श्रुत का पारगामी मुनि दूसरों को श्रुत पढ़ाता हुआ स्वयं के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है और उनको अज्ञानतम सागर से पार उतारता है। इससे तीर्थंकर आज्ञा की आराधना, शिष्यों के प्रति उसके वात्सल्य का प्रगटीकरण, प्रवचन की प्रभावना और भक्ति तथा तीर्थ की अव्यवच्छित्ति होती है।[75]

वैज्ञानिक स्तर पर धारणा शक्ति की अभिवृद्धि एवं उसके स्थायित्व के लिए देह को कृश करना आवश्यक है। कृशकायी व अप्रमत्त योगवाही सरलता से ज्ञानार्जन कर सकता है। यदि शरीर में भारीपन हो तो लंबे समय तक एक आसन में बैठना, एकाग्रचित्त होकर बैठना, विधिवत क्रिया करना मुश्किल होता हैं अत: देहासक्ति का त्याग आवश्यक है, वह योगोद्वहन के माध्यम से सहज हो जाता है। शारीरिक स्तर पर देह निरोग रहता है और देहाध्यास में न्यूनता आती है।

योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश में आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं– 'विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्माविडम्ब्यते' अर्थात ज्ञानाराधना से पल-पल वैराग्य बढ़ता है, ममत्व भाव न्यून होता है, राग-द्वेष की परिणति मन्द होती है, समत्व अभिवृद्ध होता है।

आगम अध्ययन के दिनों में आयंबिल-नीवि आदि तप करने की जो परिपाटी है, इसके पीछे कुछ कारण ये हैं–

निर्विकृतिक द्रव्य का सेवन करने वाला साधु ही आगम सूत्रों के रहस्य को समझने में सक्षम होता है।

विगय सेवन से वासना, प्रमाद, निद्रा, विकथा आदि दोषों की अधिक संभावना रहती है जबकि रूक्ष द्रव्य के सेवन से अप्रमत्तता, जागरूकता, कषाय मन्दता आदि आत्मिक गुण प्रकट होते हैं, जो योगवाही के लिए अनिवार्य है।

तपस्या के आचरण से क्रमशः तन, मन और चेतना तीनों परिशुद्ध बनते हैं।

फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि योगोद्वहन मोक्षफल का पारम्परिक हेतु है। यही इस विधि की सर्वोत्कृष्ट उपयोगिता है।

आधुनिक संदर्भों में योगोद्वहन की प्रासंगिकता

वर्तमान संदर्भ में योगोद्वहन सम्बन्धी प्रचलित विधियों को लेकर यदि चिन्तन किया जाए तो अनेक तथ्य उजागर होते हैं। योगोद्वहन जैनाचार्यों की दीर्घदृष्टि एवं विधि-विधानों में अन्तर्भूत मनोवैज्ञानिक रहस्यों का श्रेष्ठ उदाहरण है। यद्यपि कुछ विधियाँ देश-काल-परिस्थिति में आए परिवर्तन के कारण वर्तमान में अप्रासंगिक प्रतीत होती है, परंतु उनके गूढ़ रहस्यों को जानने के बाद पूर्वाचार्यों के प्रति अहोभाव विकसित होता है।

यदि अनध्याय विधि के विविध पहलुओं का अध्ययन करें तो जिन-जिन स्थितियों में मुनि को स्वाध्याय न करने का निर्देश दिया है वे वर्तमान समय में भी अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होते हैं। जैसे कि प्रकृति में होने वाले विविध परिवर्तनों के समय में अनध्याय या अस्वाध्याय काल शास्त्रों में बताया गया है। यदि मनोवैज्ञानिक एवं प्राकृतिक दृष्टि से इस विषय में चिंतन करें तो जिस तरह के वातावरण का निर्माण उस समय होता है उसमें स्वाध्याय में एकाग्रता रहना मुश्किल है। इसी के साथ अनेक प्रकार की शारीरिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो

सकती है। स्वाध्याय हेतु उपयोगी ग्रन्थों को हानि पहुँच सकती है। स्वाध्याय में एकाग्रता न होने से कई बार विपरीत अर्थ का भी ग्रहण हो जाता है, जो कि अनर्थकारी है। ऐसी परिस्थितियों में किया गया स्वाध्याय या अध्ययन मात्र मानसिक श्रम में ही हेतुभूत बनंता है।

इसी प्रकार अशुचि स्थानों में, महोत्सव के दिनों में, प्रतिपदा आदि के दिन किया गया स्वाध्याय आम जनता के मन में जिनधर्म के प्रति हीलना के भाव उत्पन्न कर सकता है तथा इन स्थितियों में मानसिक अवस्था सदा चंचल या अस्थिर होती है जबकि स्वाध्याय में स्थिरता सर्वाधिक अपेक्षित है। इसी तरह नगर में शोक हो या संकट विशेष का माहौल हो तब स्वाध्याय करने से आम जनता में विरोधाभास भी उत्पन्न हो सकता है अत: वैयक्तिक, मानसिक, व्यावहारिक आदि अनेक परिप्रेक्ष्यों में इस विधि की मूल्यवत्ता है।

योगोद्वहन यह आगमों पर अधिकार प्राप्त करने की क्रिया है अत: अधिकार प्राप्त कर्ता के लिए अनेक प्रकार के नियमोपनियम निर्देशित है। यदि वर्तमान समय की अपेक्षा चिंतन करें तो इसके बहुत से लाभ समझ में आते हैं। सर्वप्रथम आगम अध्येता के लक्षणों की चर्चा करें तो अनेक प्रकार के गुणों का वर्णन योगवाही के लिए किया गया है। जैसे कि योगवाही विनीत, लज्जालु, महासत्त्ववाला, सरल परिणामी, दृढ़धर्मी, कषाय विजेता, निद्राजयी आदि हो। इन सब गुणों का धारक होने से वह शास्त्रकारों के अभिप्राय को अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकता है तथा किसी एक विषय में आग्रह बुद्धि नहीं रखता। इसी के साथ प्रत्येक आगम अध्ययन के लिए कुछ विशेष नियम-मर्यादाएँ भी बतलाई गई हैं जैसे कि अमुक दीक्षा पर्याय वाला अमुक-अमुक आगम का अध्ययन कर सकता है और उसमें भी उसने यदि उससे पूर्व नींव के रूप में अमुक-अमुक आगमों का अध्ययन कर लिया हो तो। इससे यह स्पष्ट है कि योग्य (Qualified) पात्र को ही आगम ज्ञान दिया जाता है। आयु के साथ बुद्धि कई प्रकार से स्वयमेव विकसित होती है जिससे व्यक्ति रहस्यमयी सूत्रों के गंभीर गूढ़ार्थमयी तथ्यों को समझ सकता है। जिस प्रकार Post Graduation करने वाले को पहले 10th, 12th, Graduation की क्लास को पास करना पड़ता है तब वह Post Graduation के योग्य बनता है वैसे ही मुनियों को आगम शास्त्र भी क्रम से पढ़ाए जाते हैं जिससे विषय को समझने एवं उस पर अधिकार करने में सुगमता हो। इसी प्रकार योग प्रवर्तक गुरु, योगोद्वहन सहायक मुनि,

योगोद्वहन योग्य व्यक्ति, काल आदि का भी निर्वचन शास्त्रकारों ने किया है क्योंकि माहौल या वातावरण ज्ञानार्जन का मुख्य घटक होता है। एक व्यक्ति College या Tution में तो पढ़ाई कर सकता है, पर यदि किसी को Cinema Hall या Disco में जाकर Exam की तैयारी करने को कहें तो मूर्खता होगी वैसे ही आगम शास्त्रों के ज्ञानार्जन हेतु विविध मर्यादाओं का उल्लेख किया गया है।

इसी क्रम में योगवहन करते हुए तप विशेष का भी उल्लेख किया गया है। तप पूर्वक अध्ययन करने से ज्ञानार्जन हेतु पर्याप्त समय मिल जाता है। साथ ही गरिष्ठ भोजन, अति भोजन आदि न करने से प्रमाद भी नहीं आता तथा अधिक सजगतापूर्वक आगमों का आलोडन हो सकता है। जैसे एक M.D. करने वाले Intern doctor को Hospital में 24 घंटे Duty देनी पड़ती है और तब ही वह किसी विषय का विशेषज्ञ बन सकता है वैसे ही सजगतापूर्वक एवं प्रमाद रहित होकर किया गया अध्ययन ही विषय को अधिकृत करने में सहायक बनता है।

विधि-निषेध, कल्प्य-अकल्प्य आदि की सामाचारी अनुशासन एवं मर्यादायुक्त जीवन जीने में विशेष मार्गदर्शक बनती है। योगवाही के द्वारा इस Exam Period को जितनी सजगता पूर्वक व्यतीत किया जाता है वह उसके भविष्य निर्माण के लिए उतना ही श्रेयस्कर होता है। साररूप में कहें तो योगोद्वहन मुनि जीवन का Turning Point of Life है।

शिक्षा प्रबंधन का आवश्यक अंग– योगोद्वहन

जैनाचार में योगोद्वहन को एक विशेष स्थान प्राप्त है। मुनि जीवन का मूल आधार स्वाध्याय है क्योंकि यह मुनि को मुनि धर्म में रमण करने की कला सिखाता है। यदि व्यावहारिक एवं सामाजिक क्षेत्र में हम इस विधि की उपादेयता के विषय में मनन करें तो योगोद्वहन मुनि के ज्ञान एवं गुणों को परिपक्व बनाता है। ऐसा मुनि ही समाज को यथोचित आगमोक्त मार्गदर्शन देते हुए सुदृढ़, सुज्ञ एवं अनुकरणीय समाज का नव निर्माण कर सकता है। सम्यक् ज्ञान होने पर ही युवा मनो में रही विभ्रान्त मान्यताओं एवं शंकाओं का निवारण कर सकता है।

योगोद्वहन अध्ययन करने की परिष्कृत प्रक्रिया है। जब व्यक्ति मर्यादा, अनुशासन, सजगता एवं समर्पण के साथ किसी भी कार्य को करता है तो वह

उस कार्य में सहज निपुणता या अधिकार प्राप्त कर लेता है। आज के Education युग में जहाँ हर कार्य के लिए उचित Qualification और Degree चाहिए वहाँ पर अध्ययन करने वालों की Quantity और अध्ययन के प्रकार भले ही बढ़ गए हैं पर अध्ययन तथा अध्यापक आदि के प्रति बहुमान, आंतरिक जुड़ाव एवं Quality में अपेक्षाकृत न्यूनता ही आई है। इन परिस्थितियों में यदि योगोद्वहन की जो अध्ययन रीति है उसे अपनाया जाए तो शिक्षा के घटते हुए स्तर एवं उसके व्यवसायीकरण को अवश्य सुधारा जा सकता है।

यदि प्रबंधन की अपेक्षा से योगोद्वहन की विविध विधियों का मूल्यांकन किया जाए तो सर्वप्रथम वर्तमान युग में शिक्षा क्षेत्र के सम्यक संचालन में यह अत्यन्त उपयोगी बन सकती है। इसी प्रकार वैयक्तिक जीवन के उत्कर्ष, स्वाभाविक मानवीय गुणों के उत्थान एवं जीवन निर्माण में योगोद्वहन मुख्य भूमिका निभाते हुए एक उच्च व्यक्तित्व का सृजन कर सकती है। इसकी समयबद्ध क्रियाएँ समय के नियोजन एवं उसके अधिकाधिक उपयोग का संदेश देती है। इसी के साथ इस क्रिया में गुरु तथा सहोदर मुनियों के सहयोग एवं मार्गदर्शन की भी पूर्ण आवश्यकता रहती है, जो समुदायवर्ती साधुओं में सामंजस्य एवं मैत्री की स्थापना करती है।

प्रत्येक कार्य करने का एक उचित काल होता है एवं उसी काल में करने पर वह लाभकारी होता है। इसीलिए योगोद्वहन हेतु कालग्रहण, काल प्रवेदन, नोतरा आदि कई क्रियाएँ बताई गई है। इसी प्रकार संघट्टा ग्रहण, संघाटक मुनि आदि के माध्यम से आपसी समन्वय एवं एक दूसरे को समझने का गुण विकसित होता है। यदि यह सभी गुण प्रत्येक व्यक्ति में विकसित हो जाए तो उस व्यक्ति का जीवन Well-managed तो बनेगा ही साथ ही सुखी एवं सुव्यवस्थित परिवार एवं समाज की व्यवस्था में भी सहयोग प्राप्त होगा। इसी तरह प्राचीन शास्त्रों का पारायण करने से उनका भी बार-बार निरीक्षण होता रहता है जिससे ग्रन्थों में जीव आदि नहीं लगते एवं Library आदि का भी व्यवस्थापन समुचित रूप से होता रहता है। इन सब तथ्यों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि योगोद्वहन क्रिया के माध्यम से Education system management, personal development, group management, scripture & library management, time punctuality & time management आदि कई प्रकार के नियोजन एवं प्रबंधन में मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है।

नव्य युग की समस्याएँ एवं योगोद्वहन सामाजिक एवं वैश्विक स्तर पर व्याप्त अनेकविध समस्याओं के समाधान में भी योगोद्वहन का महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है। शिक्षा के स्तर एवं उसकी निष्प्राणता को सुधारने में यह एक महत्त्वपूर्ण क्रिया हो सकती है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन करने एवं उनमें आनंदमय रहने के लिए यह औषधि का कार्य करती है। आज सामुदायिक स्तर पर देखे तो चाहे Office हो या बड़ी-बड़ी Companies या फिर पारिवारिक संघटन सभी स्थानों पर आपसी सहयोगवृत्ति कम होती जा रही है तथा इसके विपरीत ईर्ष्या भावना, प्रतियोगी भावना आदि का वर्धन हो रहा है। इन सबसे व्यक्ति व्यक्तिगत स्तर पर प्रगति भले ही कर ले परन्तु वह प्रगति कभी भी संतोष एवं आत्मसुख में हेतुभूत नहीं बन सकती। योगोद्वहन में योगवाही मुनि के लिए कालग्राही दंडीधर मुनि आदि भी अपनी ओर से प्रत्येक संभव सहायता करते है, तो ज्ञानयुत वाचनाचार्य आदि निस्पृह एवं निरपेक्ष भाव से अपना ज्ञान प्रदान करते है। इसी प्रकार समाज का प्रत्येक तबका यदि अपने-अपने में रही योग्यता के अनुसार समाज एवं देश के उत्थान में सहयोगी बने तो एक आदर्श प्रस्तुत कर सकते है।

ऐसे ही आजकल अपात्र व्यक्तियों को ज्ञान देने से ज्ञान का दुरुपयोग भी बढ़ रहा है इसका एक मुख्य कारण है ज्ञान की सहज उपलब्धि एवं गुणों की अपेक्षा पैसे के आधार पर उसका आदान-प्रदान। योगोद्वहन में अनेक प्रकार की योग्यताएँ एवं उसके साथ कठिन साधना करने वाले, ज्ञानार्जन हेतु अपने सर्वस्व को समर्पित करने वाले तथा पूर्ण जागरूकता एवं बहुमानपूर्वक ज्ञान लेने वाले व्यक्ति को ही ज्ञान दिया जाता है। स्वभावत: दुर्लभतापूर्वक प्राप्त वस्तु का व्यक्ति सही मूल्यांकन भी करता है। ऐसे ही कठिनता पूर्वक ज्ञान का भी व्यक्ति उचित समादर करता है। अत: योगोद्वहन एक सुसभ्य, सुज्ञ एवं सुसंस्कृत समाज के निर्माण का अभिन्न अंग है।

सूत्र पाठ देवता अधिष्ठित कैसे?

यह अवधारणा दीर्घकाल से मान्य रही है कि आगमसूत्र देवता अधिष्ठित होते हैं। इस बात का समर्थन करते हुए व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि सूत्र सर्वज्ञ भाषित है, इसलिए सर्व लक्षण सम्पन्न है। संसार में लक्षण सम्पन्न सब

वस्तुएँ देवता द्वारा अधिष्ठित होती हैं– इस आधार पर कहा जा सकता है कि सूत्र देवता अधिष्ठित हैं।[76]

भारतीय दर्शन की विविध परम्पराओं में योगोद्वहन

'योग' समस्त भारतीय दर्शनों का केन्द्र बिन्दु रहा है। यद्यपि 'योगोद्वहन' इस नाम का उल्लेख जैन साहित्य में ही उपलब्ध होता है किन्तु 'योग' शब्द का प्रयोग इतर परम्पराओं में भी दृष्टव्य है। जहाँ तक वैदिक दर्शन का सवाल है वहाँ सर्वप्रथम ऋग्वेद में 'योग' शब्द मिलता है। यहाँ इसका अर्थ जोड़ना मात्र किया गया है।[77] उपनिषद् साहित्य में 'योग' पूर्णत: आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कुछ उपनिषदों में योग एवं योग-साधना विषयक विस्तृत वर्णन किया गया है।[78] महाभारत में योग के विभिन्न अंग उल्लिखित हैं।[79] स्कन्दपुराण में कई स्थानों पर योग की चर्चा की गई है।[80] भगवतपुराण में अष्टांग योग के साथ-साथ तज्जनित लब्धियों आदि का भी वर्णन है।[81] गीता के अठारह अध्याय योग नाम पर आधारित हैं, जैसे– ज्ञानयोग, भक्तियोग, आत्मयोग, बुद्धियोग, सातव्ययोग, ब्रह्मयोग आदि। गीता का दूसरा नाम योगशास्त्र भी है।[82] हम देखते हैं कि वैदिक दर्शन में योग का क्रमश: विकास हुआ है। ऋग्वेद काल में योग का अर्थ जोड़ना मात्र था, औपनिषद् काल में वह अध्यात्म साधना के रूप में प्रयुक्त हुआ और गीता काल तक आते-आते अत्यन्त व्यापक और प्रचलित हो गया, जिसके फलस्वरूप गीता के अठारह अध्यायों के नाम ही योग पर रख दिये गये तथा उनका सम्बन्ध आध्यात्मिक साधना से ही जुड़ा रहा।

जहाँ तक बौद्ध आदि दर्शनों का सवाल है वहाँ न्यायदर्शन प्रणेता महर्षि पतंजलि ने 'योगदर्शन' नाम का ग्रन्थ ही रच डाला है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने भी यम-नियम आदि पर प्रकाश डाला है। ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में आसन, ध्यान आदि योग के अंगों का स्पष्ट वर्णन है अत: इसका नाम ही साधनपाद है। सांख्यदर्शन में योग विषयक अनेक सूत्र हैं। बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है यद्यपि उनके विसुद्धिमग्गो, समाधिराज, अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रन्थों में ध्यान, समाधि आदि योगिक विषयों का निरूपण किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में वर्णन आता है कि तथागत बुद्ध ने बोधित्व प्राप्त करने से पूर्व श्वासोश्वास निरोध अर्थात प्राणायाम साधना की थी। वर्तमान युग की विपश्यना पद्धति बौद्धानुयायियों द्वारा ही प्रवर्तित है।[83]

जैन दर्शन में योग शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत है। यहाँ योग, योगवाही, योगोपधान आदि कई शब्द प्राप्त होते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में 'जोगवं' शब्द का उल्लेख संयम अर्थ में हुआ है।[84] स्थानांगसूत्र में 'जोगवाही' शब्द समाधि में स्थित आसक्त पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।[85] उत्तराध्ययनसूत्र में योग शब्द कई बार उल्लिखित है। इसमें 'जोगवं उवहाणवं' शब्द समाधिवान अथवा मन, वचन, काया के योग व्यापार से युक्त– इस अर्थ में प्रयुक्त है।[86] इस आगमसूत्र में यह भी कहा गया है कि जैसे वाहन (गाड़ी आदि) में जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को हांकता हुआ पुरुष अरण्य को सुख पूर्वक पार कर लेता है उसी तरह योग (संयम व्यापार) में सम्यक प्रकार से प्रवृत्त हुए शिष्यों का निर्वाहन करते हुए आचार्यादि संसार को सुख पूर्वक पार कर लेते हैं।[87]

यहाँ 'योग' शब्द संयम साधना के अर्थ में प्रयुक्त है। आचारांगसूत्र में साधु के लिए धूत-अवधूत शब्दों का प्रयोग किया गया है[88] जबकि वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में ये शब्द योगी के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने समिति और गुप्ति की साधना को योग का अंग माना है।[89]

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि अपने योग व्यापार को किसी एक शुभ आलम्बन में केन्द्रित करने का अभिप्राय है कि साधक ध्यान में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त तक स्थिर रह सकता है स्पष्ट है कि जैन साहित्य में योग शब्द संयम, समाधि एवं ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दूसरी ओर मन-वचन-काया के शुभाशुभ व्यापार को भी योग कहा गया है, किन्तु वहाँ भी शुभयोग को ही प्रधानता दी गई है। समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि योगोद्वहन श्रुत (ज्ञान) धर्म के अभ्यास पूर्वक चारित्र धर्म का निर्दोष पालन करते हुए, ध्यान आदि शुभ आलम्बनों द्वारा आत्म समाधि (मोक्ष पद) को उपलब्ध करने के उद्देश्य से ही किया जाता है। वही वाच्यार्थ उक्त ग्रन्थों में दर्शाया गया है।[90]

योगोद्वहन की ऐतिहासिक विकास यात्रा

देहधारी प्राणियों की जीवन-यात्रा मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापार पर आश्रित है। जैनागमों में मन-वचन और शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति को योग कहा गया है। शुभयोग से पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा या पुण्य कर्म का बंध होता है और अशुभ योग से नवीन कर्मों का बंधन होता है। शुभाशुभ प्रवृत्ति से

रहित आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण है। योगोद्वहन निर्वाण सम्प्राप्ति का पारम्परिक उपाय है। इस अनुष्ठान के माध्यम से तीर्थंकर पुरुषों एवं श्रुतधर आचार्यों द्वारा उपदिष्ट एवं गुंफित अमर वाणी को आत्मसात करने का सत्प्रयास किया जाता है। साथ ही योग की शुद्धि पूर्वक ज्ञानयज्ञ का उत्सव मनाते हुए परमानन्द की अनुभूति की जाती है।

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। ज्ञान को आत्मा का नेत्र कहा गया है। जैसे– नेत्र विहीन व्यक्ति के लिए सारा संसार अंधकारमय है उसी प्रकार ज्ञानविहीन के लिए सत्यासत्य का निर्णय कर पाना मुश्किल है। भौतिक जीवन की सफलता और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए प्रथम सीढ़ी ज्ञान की प्राप्ति है। जीवन की उलझने, समस्याएँ, राग-द्वेष, द्वन्द-क्लेश आदि का मूल कारण सद्ज्ञान का अभाव है। बिना सद्ज्ञान के न तो जीवन सफल होता है और न ही सार्थक। जो व्यक्ति अपने जीवन में चरम ऊँचाईयों को पार करना चाहता है, उसे सम्यकज्ञान के लिए विधिवत पुरुषार्थ करना चाहिए। योगोद्वहन सम्यकज्ञान की आराधना का ही मुख्य अंग है। यदि योगोद्वहन की अवधारणा का ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण किया जाए तो ज्ञात होता है कि जैनागमों, आगमिक व्याख्याओं एवं परवर्ती ग्रन्थों में इस विषयक स्पष्ट उल्लेख हैं। इससे इस अनुष्ठान की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है।

जहाँ तक आगम ग्रन्थों का सवाल है वहाँ आचारांगसूत्र में कहा गया है कि 'ग्यारह अंगों में से प्रथम अंगसूत्र में दो श्रुतस्कंध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं और पचास उद्देशकाल हैं।' यहाँ काल का आशय 'कालग्रहण' किया जा सकता है, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र के 26वें अध्ययन में उल्लिखित है कि 'चार कालग्रहण हैं जो योग विधि में ही योग्य हैं।' पूर्व विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि कालिकसूत्रों के योग कालग्रहण पूर्वक ही होते हैं और उद्देश आदि की वाचना के लिए ही कालग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आचारांगसूत्र योगोद्वहन के सन्दर्भ में कालग्रहण आदि का स्पष्ट सूचन करता है।

स्थानांगसूत्र में योग विधि को पुष्ट करने वाले अनेक तत्त्व हैं। जैसे कि तीसरे स्थान में बताया गया है तीन स्थानों से सम्पन्न अनगार (साधु) अनादि अनन्त चार गति रूप संसार अटवी का उल्लंघन करते हैं। 1. अनिदानता से (भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करने से) 2. दृष्टि सम्पन्नता से (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से) और 3. योगवाहिता से।[91]

टीकाकार अभयदेवसूरि ने योगवाहिता के दो अर्थ किये हैं- 1. **श्रुतोपधानकारिता** अर्थात शास्त्राभ्यास के लिए आवश्यक अल्पनिद्रा लेना, अल्प भोजन करना, मित भाषण करना, विकथा-हास्य आदि का त्याग करना। 2. **समाधिस्थायिता** अर्थात काम-क्रोध आदि का त्याग कर चित्त में शान्ति और समाधि रखना। इस प्रकार की योगवाहिता से युक्त, निदान-रहित एवं सम्यक्त्व सम्पन्न साधु इस अनादि अनन्त संसार से पार हो जाता है। स्थानांग के तीसरे स्थान में निर्देश है कि श्रमण तीन कारणों से महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है-

1. कब मैं श्रुत का अध्ययन करूंगा? 2. कब मैं एकल विहार प्रतिमा को स्वीकार कर विहार करूँगा? 3. कब मैं मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर एवं पादोपगमन संथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर विचरूंगा?[92] इस प्रकार मन, वचन, काया से उत्तम भावना करता हुआ श्रमण महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में वर्णित है कि संसारी जीव दस कारणों से आगामी भद्रता (आगामी भव में देवत्व की प्राप्ति और तदनन्तर मनुष्य भव पाकर मुक्ति प्राप्ति) के योग्य शुभ कर्म का उपार्जन करते हैं जैसे-

1. अनिदान- तप के फल से सांसारिक सुखों की कामना न करना।
2. दृष्टिसम्पन्नता- सम्यग्दर्शन की सांगोपांग आराधना करना।
3. योगवाहिता- मन-वचन-काया को समाधि में रखना।
4. क्षान्ति क्षमणता- अपराधी को क्षमा करना एवं क्षमा याचना करना।
5. जितेन्द्रियता- पाँचों इन्द्रियों के विषय को जीतना।
6. ऋजुता- मन-वचन-काया की सरलता होना।
7. अपार्श्वस्थता- चारित्र पालन में शिथिलता का अभाव।
8. सुश्रामण्य- श्रमण धर्म का यथाविधि पालन करना।
9. प्रवचन वत्सलता- जिन आगम और शासन के प्रति प्रगाढ़ अनुराग।
10. प्रवचन उद्भावना- आगम और शासन की प्रभावना करना।[93]

उपर्युक्त सूत्र पाठों के पर्यवेक्षण से यह सुनिश्चित हो जाता है कि तीसरे अंग आगम में योगोद्वहन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने वाले विविध स्थान हैं तथा इसे बहु निर्जरा और भव मुक्ति का अनन्य कारण माना गया है।

चतुर्थ आगमसूत्र समवायांग में बत्तीस योगसंग्रह का उल्लेख है, जो मन-वचन-काया के प्रशस्त व्यापार रूप कहे गये हैं तथा इनके द्वारा मोक्ष की साधना सुचारू रूप से सम्पन्न होती है। वस्तुत: योग संग्रह के कुछ तथ्य योगोद्वहन चर्या से ही सम्बन्धित हैं। योगकाल में उन संग्रह पदों का पूर्णत: पालन किया जाता है। स्पष्ट बोध के लिए शुभ योग सम्बन्धी व्यापार के बत्तीस प्रकार निम्न हैं–

1. आलोचना– व्रत शुद्धि के लिए गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करें।
2. निरपलाप– आचार्य शिष्य-कथित दोषों को किसी के समक्ष न कहें।
3. आपत्सु दृढ़धर्मता– आपत्तियों के आने पर साधक अपने धर्म में दृढ़ रहें।
4. अनिश्रितोपधान– अन्य के आश्रय की अपेक्षा न करके तपश्चरण करें।
5. शिक्षा– सूत्र और अर्थ का पठन-पाठन एवं अभ्यास करें।
6. निष्प्रतिकर्मता– शरीर का श्रृंगारादि न करें।
7. अज्ञातता– यश, ख्याति, पूजा आदि के लिए अपने तप को प्रकट न करें।
8. अलोभता– भक्त-पान एवं वस्त्र, पात्र आदि में निर्लोभ वृत्ति रखें।
9. तितिक्षा– भूख, प्यास आदि परीषहों को सहन करें।
10. आर्जव– अपने व्यवहार को निश्छल एवं सरल रखें।
11. शुचि– सत्य और संयम पालन में शुद्धि रखें।
12. सम्यग्दृष्टि– शंका, कांक्षादि दोषों का परिवर्जन करते हुए आत्मिक अध्यवसायों को निर्मल रखें।
13. समाधि– चित्त को संकल्प-विकल्पों से रहित शान्त रखें।
14. आचारोपगत– आचार व्यवहार को मायाचार से रहित रखें।
15. विनयोपगत– विनम्र स्वभाव में अभ्यस्त रहें।
16. धृतिमति– बुद्धि में धैर्य रखें अर्थात बुद्धि को स्थिर रखें।
17. संवेग-संसार सागर से भयभीत रहें और निरन्तर मोक्ष की अभिलाषा रखें।
18. प्रणिधि-मन, वचन और कर्म को एकाग्रचित्त और संयमित रखें।
19. सुविधि– गृहीत चारित्र का विधिपूर्वक अनुष्ठान करें।
20. संवर– कर्मास्रव के कारणों का निरोध करें।
21. आत्मदोषोपसंहार– क्रोधादि आत्मिक दोषों का वर्जन करें।
22. सर्वकाम विरक्तता– सर्व विषयों से विरक्त रहें।

23. मूलगुण धारण– अहिंसादि मूलगुणों का सम्यक पालन करें।
24. उत्तरगुण धारण– इन्द्रिय निरोध आदि उत्तर गुणों का अनुपालन करें।
25. व्युत्सर्ग– वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपधि और मूर्च्छा आदि आभ्यन्तर उपधि का परित्याग करें।
26. अप्रमाद– दैनिक आवश्यक क्रियाओं में सदैव अप्रमत्त रहें।
27. लवालव– सर्व प्रकार की सामाचारी के परिपालन में सजग रहें।
28. ध्यान संवर योग– धर्म और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के लिए आस्रव द्वारों का संवर करें।
29. मारणान्तिक उदय– मारणान्तिक कष्ट आ पड़ने पर भी क्षोभ न करें, मन में शान्ति रखें।
30. संग परिज्ञा-परिग्रह के दु:खद स्वरूप को भलीभाँति जानकर उसका परिहार करें।
31. प्रायश्चित्त करण– छद्मस्थता वश लगने वाले दोषों से निवृत्त होने के लिए तप आदि का सम्यक आचरण करें।
32. मारणान्तिक आराधना– मृत्यु काल सन्निकट जानकर संलेखना पूर्वक रत्नत्रय की विशिष्ट आराधना करें।

इन बत्तीस योग संग्रह में से लगभग सभी नियमों का योगचर्या काल में अनुसरण किया जाता है। इस प्रकार समवायांग सूत्र के आधार पर भी योगोद्वहन की मूल्यवत्ता सुसिद्ध हो जाती है।[94]

अनुयोगद्वार में प्रतिपाद्य विषय का समर्थन करते हुए कहा गया है कि "ज्ञान पाँच प्रकार का कहा गया है– मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान। इनमें से चार ज्ञान अध्ययन विषयक नहीं है। इन चार ज्ञानों के उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा नहीं होती है यानी उक्त चार ज्ञानों का अध्ययन-अध्यापन नहीं किया जा सकता है, किन्तु श्रुतज्ञान के उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा एवं अनुयोग आदि होते हैं।"[95] इसी प्रकार नन्दीसूत्र में भी श्रुत के उद्देश और समुद्देश के काल बतलाए गए हैं।[96]

इन कथनों का आशय यह है कि मति आदि चारों ज्ञान पदार्थ बोध के हेतु हैं परन्तु श्रुतज्ञान की तरह इनमें शब्द व्यवहार की प्रवृत्ति का अभाव होने से ये

अपने अनुभव एवं पदार्थ के स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाते हैं। श्रुतज्ञान का आश्रय लिये बिना वे अपने विषयभूत हेयोपादेय विषय से न तो साक्षात रूप में निवृत्त कराते हैं और न ही उसमें प्रवृत्त कराते हैं। इसीलिए उक्त चारों ज्ञानों को अध्ययन-अध्यापन की कोटि में ग्रहण करने योग्य नहीं माना गया है। जो लोकोपकार में प्रवृत्त होता है, वह संव्यवहार्य है, लेकिन मत्यादि चारों ज्ञानों की स्थिति वैसी नहीं है। मति आदि चार ज्ञान लोकोपकार में प्रवृत्त न होने से इनका उद्देश, समुद्देश नहीं होता और न अनुज्ञा-आज्ञा होती है। ये चारों ज्ञान अपने-अपने आवरणीय कर्म के क्षयोपशम एवं क्षय से स्वत: ही आविर्भूत हो जाया करते हैं। अपनी आविर्भूति-उत्पत्ति में उद्देश, समुद्देश आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं। जबकि श्रुतज्ञान संव्यवहार्य अर्थात आदान-प्रदान के योग्य होने के कारण गुरु के उपदेश द्वारा उसकी प्राप्ति होने से, गुरु द्वारा शिष्यों को प्रदान किए जाने से और स्व एवं पर के स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ होने से श्रुतज्ञान का उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा आदि किया जाना सम्भव है और जिसके उद्देश आदि होते हैं उसमें अनुयोग आदि की प्रवृत्ति होती है।

सारांश यह है कि श्रुतज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान आदान-प्रदान के योग्य नहीं हैं, परोपकारी नहीं हैं, अपितु जिस आत्मा को जो ज्ञान होता है वही उसका अनुभव करता है, अन्य नहीं। किन्तु श्रुतज्ञान परोपकारी है इसीलिए श्रुतज्ञान के उद्देश आदि होते हैं और चारों ज्ञानों का स्वरूपात्मक बोध भी श्रुतज्ञान द्वारा ही किया जाता है। अत: श्रुतज्ञान उद्देशादिरूप (योगोद्वहन योग्य) है, ऐसा निर्विवादत: सिद्ध हो जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में काल प्रतिक्रमण, काल प्रतिलेखन, काल कायोत्सर्ग आदि के स्पष्ट उल्लेख हैं। जैसा कि इसमें कहा गया है– "दिन की प्रथम पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना करके काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किए बिना ही भाजन (पात्र) का प्रतिलेखन करे।"[97] सामान्यतया स्वाध्याय से उपरत होने पर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करके दूसरा कार्य प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु उसके प्रतिवाद में उक्त बात कही गई है। इसका आशय है कि चतुर्थ पौरुषी में पुन: स्वाध्याय करना चाहिए। स्वरूपत: काल प्रतिक्रमण आदि से कालग्रहण और कालग्रहण से कालिक सूत्रों के योग और कालिक सूत्रों के योग से उत्कालिक आदि सूत्रों के योग की भी सिद्धि हो जाती है, किन्तु योग सम्बन्धी

तप किस विधि पूर्वक किया जाना चाहिए, यह प्रतिपादन लगभग मूलागमों में नहीं है।

जहाँ तक आगमिक व्याख्या साहित्य का प्रश्न है वहाँ यदि योगोद्वहन के मूल स्रोत ढूँढना चाहें तो व्यवहारभाष्य में इस सम्बन्धी सम्यक वर्णन उपलब्ध होता है।[98] इस भाष्य में कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापना, कालप्रतिक्रमण आदि के विधि-विधान भी उल्लिखित हैं। परमार्थतः योगोद्वहन-विधि की प्रारम्भिक चर्चा इन्हीं व्याख्या ग्रन्थों में मिलती है। इसके अतिरिक्त ओघनिर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य आदि में भी प्रस्तुत विधि की सम्यक चर्चा की गई है।

यदि आगमेतर साहित्य का अवलोकन किया जाए तो विक्रम की 8वीं शती से लेकर 16वीं शती तक के ग्रन्थों में इसका उत्तरोत्तर विकसित स्वरूप परिलक्षित होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तुक में तद्विषयक विधि स्वरूप का वर्णन तो नहींवत है, किन्तु इसके महत्त्व को समग्र रूप से पुष्ट किया गया है। इसमें कहा गया है कि जो शिष्य योग (विधि) पूर्वक श्रुताभ्यास नहीं करता है उसे आज्ञाभंग, अनवस्था आदि चार दोष लगते हैं।[99] इसी तरह के अन्य सूचन भी दृष्टिगत होते हैं। इसके अनन्तर तिलकाचार्यसामाचारी,[100] प्राचीनसामाचारी,[101] सुबोधासामाचारी,[102] विधिमार्गप्रपा,[103] आचारदिनकर[104] आदि ग्रन्थों में भी योगोद्वहन सम्बन्धी अलभ्य सामग्री प्राप्त होती है। इनमें विषय वस्तु की दृष्टि से विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर का विशिष्ट स्थान रखते हैं। वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की लगभग सभी परम्पराओं में नोंतरा विधि, पाली पलटुं ऐसे कुछ विधियों को छोड़कर योगोद्वहन के अन्य सभी अनुष्ठान इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर किये-करवाये जाते हैं तथा इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार आज यह विधि प्रचलित है।

जहाँ तक उत्तरवर्ती या अर्वाचीन साहित्य का सवाल है वहाँ 16वीं शती के अनन्तर इस विषय से सम्बन्धित एक भी मौलिक ग्रन्थ लिखा गया हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता है। हाँ! गुरु परम्परागत एवं सामाचारी सम्बद्ध संकलित कृतियाँ अवश्य देखने में आई हैं, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर ही निर्मित हैं।

यदि दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा से विचार करें तो अनगारधर्मामृत[105] एवं मूलाचार में स्वाध्याय प्रारम्भ एवं स्वाध्याय समापन विधि, अस्वाध्यायकाल, विनय पूर्वक श्रुत अध्ययन के लाभ, काल के प्रकार आदि का ही वर्णन प्राप्त

होता है। चूंकि दिगम्बर परम्परा ने आगमों का विच्छेद मान लिया है अत: उसमें यह विधि प्रचलन में नहीं रही।[106]

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगोद्वहन विधि के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जहाँ आगम साहित्य में इसके संकेत मात्र मिलते हैं वहीं आगमिक व्याख्याओं एवं परवर्ती साहित्य में अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

उपसंहार

आगमसूत्रों का अधिकृत रूप से अध्ययन करने हेतु योगोद्वहन विधि की जाती है। योगोद्वहन का मूल उद्देश्य– मन, वचन एवं काया की अशुभ प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाना है। सांसारिक प्राणी इन तीन योगों के कारण ही कर्मबंध करता है, जबकि प्रस्तुत अनुष्ठान के माध्यम से अशुभ योगों को शुभ कार्यों में लगाया जाता है, जिससे वे कर्मबंध का हेतु न बन सके।

उदाहरण के तौर पर देखा जाए तो स्वाध्याय प्रस्थापना, प्रवेदन, कायोत्सर्ग आदि शुभ क्रियाओं से मन का, मौन आदि के माध्यम से वचन का एवं नीरस आहार तथा संघट्टा ग्रहण आदि क्रियाकलापों से काया का संयम अथवा संवर किया जाता है। वस्तुत: इसविधि के माध्यम से बहिर्मुखी जीव अन्तर्मुखी होकर आगम के गूढ़-गंभीर विषयों को सरलतया समझकर साधना के उच्च स्तर पर पहुँच सकता है। दूसरे, इस क्रिया के प्रयोगात्मक स्वरूप द्वारा आगमसूत्रों का न केवल सम्यक अभ्यास ही होता है अपितु श्रमण जीवन की कठोर चर्या से भी वह भलीभाँति परिचित हो जाता है। योगोद्वहन के दिनों में विशेष रूप से शुभ प्रवृत्तियाँ ही क्रियाशील रहती है अत: अनन्तगुणी कर्म निर्जरा होती है। इस प्रकार योगोद्वहन कर्ममल के शोधन का भी अनन्य हेतु बनता है।

योगोद्वहन की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, इस आशय से यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि कदाचित किसी को शंका हो कि "यदि सूत्रागमों का अध्ययन योग विधि पूर्वक किया जाए तो बहुत सा समय बीत जायेगा, जबकि आगमों में यह भी उल्लेख है कि धन्ना आदि अनेक मुनियों और साध्वियों ने अल्पकाल में ही ग्यारह अंगों का अभ्यास कर लिया था, इसलिए योगोद्वहन पूर्वक श्रुताभ्यास करना चाहिए, यह अनिवार्य नियम नहीं है।" जैनाचार्यों ने इसका समाधान करते हुए बतलाया है कि जैन दर्शन में पाँच प्रकार के व्यवहार

कहे गये हैं उनमें से जिस काल में जो व्यवहार प्रवृत्त होता हो, उस समय उसी व्यवहारानुसार वर्तन करना चाहिए, अन्यथा जिनाज्ञा का भंग होता है। धन्ना मुनि आदि आगम-व्यवहार काल में हुए थे, उन मुनियों की तुलना वर्तमानकाल के साधकों से करना अयोग्य है, क्योंकि वर्तमान समय में श्रुतकेवली आदि का साक्षात अभाव होने से जीतव्यवहार ही प्रमुख है।

उक्त मत के समर्थन में गजसुकुमाल का उदाहरण भी द्रष्टव्य है। प्रभु नेमिनाथ ने जिस दिन गजसुकुमाल को दीक्षा दी, उसी दिन एकलविहारी प्रतिमा धारण करने की अनुमति भी प्रदान कर दी, परन्तु यह उदाहरण सर्वकाल में सर्वत्र लागू नहीं होता है, अतएव सर्व क्रिया को अनुक्रम से करने पर ही गुणों की अभिवृद्धि होती है। ऐसा न्याय संगत विचार कर निरर्थक युक्तियाँ देना योग्य नहीं है।

यदि यहाँ कोई यह शंका करे कि "गृहस्थ श्रावकों को 'सुअपरिग्गहिआ' अर्थात श्रुत को ग्रहण करने वाले ऐसा कहा गया है इसलिए श्रावक को श्रुत का अभ्यास करना योग्य है।" तो इसके समाधान में यह समझना चाहिए कि यहाँ 'श्रुत' का अर्थ छः आवश्यक रूप सूत्र हैं। ये सूत्र भी उपधान वहन के बाद ही पढ़ना योग्य है, क्योंकि यह पाठ नन्दीसूत्र का है। उसमें 'सुअपरिग्गहिआ' इस पाठ के बाद तुरन्त 'तवोवहाणाइं' यह पाठ दिया गया है। इस पर फिर शंका की जाती है कि आवश्यक सूत्र पढ़ने का निषेध क्यों नहीं किया गया? इस विषय पर अनुयोगद्वार में कहा गया है कि श्रमणों और श्रावकों के द्वारा दिन एवं रात्रि के अन्त में अवश्य करने योग्य होने के कारण इसका नाम आवश्यक है। इस वचन से आवश्यकसूत्र निश्चित ही करने योग्य है।[107]

योगोद्वहन एक गूढ़ रहस्यमयी विधान है। आगमों के सुचारू, सुगम एवं सर्वांगीण अध्ययन के लिए यह एक सफल प्रक्रिया है। इसके द्वारा मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं होता अपितु यह सदाचरण में भी हेतुभूत बनता है। इसके माध्यम से ज्ञान के साथ विनय गुण का भी आरोपण किया जाता है। यही अर्जित ज्ञान को जीवन उपयोगी एवं सफल बनाता है। वर्णित अध्याय के माध्यम से इस आगमोक्त प्रक्रिया का यथोचित एवं यथार्थ ज्ञान हो पाएगा।

सन्दर्भ-सूची

1. मनोवाक्कायानां तपः समाधौ योजनं योगः अथवा सिद्धान्तवाचनाया-मन्यविहितया तपसा योजनं योगः ते चागमक्रमोद्वहनेन बहुविधाः तेषां निरूद्धपारणक कालस्वाध्यायादिभिरूद्वहनं योगोद्वहनं।

   आचारदिनकर, पृ. 81

2. (क) संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 837
   (ख) युजृंपी योगे। हेमचन्द्रधातुमाला, गण-7
   (ग) युजिं च समाधौ, वही, गण 4
3. वही, पृ. 198
4. (क) विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 116
   (ख) आचारदिनकर, पृ. 87
5. पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. 107
6. भिक्षु आगमविषय कोश, पृ. 56
7. आचारदिनकर के अनुसार आवश्यकसूत्र आगाढ़ योग है जबकि विधिमार्गप्रपा में इस सूत्र को अनागाढ़ योग माना गया है।
   (क) आचारदिनकर, पृ. 87
   (ख) विधिमार्गप्रपा, पृ. 116
8. नन्दीसूत्र, सू. 80
9. स्वाध्याय सौम्य सौरभ, पृ. 191
10. नन्दीसूत्र, सू. 81
11. दोग्गइ पडणुपधरणा, उवधाणं जत्थ जत्थ जं सुत्ते।
    आगाढमणागाढे, गुरुलहु आणादि सगडपिता ॥
    (क) निशीथभाष्य, 15 की चूर्णि
    (ख) व्यवहारभाष्य, 62 की टीका
12. आगाढप्रज्ञा येषु व्याप्रियते न या काचन तान्यागाढ प्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मा तात्पर्यग्राहितया तत्रातीवनिष्पन्नमतिः।

    व्यवहारभाष्य, गा. 1403 की टीका

13. स्थानांग टीका, स्था. 10
14. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 4, देखिए– जोग शब्द
15. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 115

16. आचारदिनकर, पृ. 81-82
17. वही, पृ. 82
18. व्यवहारभाष्य, गा. 3176-77
19. आचारदिनकर, पृ. 82
20. वही, पृ. 82
21. आचारदिनकर, पृ. 82
22. उत्तराध्ययनसूत्र, 24/17-18
23. आचारदिनकर, पृ. 82
24. वही, पृ. 82
25. गणिविद्या, गा. 10, 15-17, 22-24, 29-32
26. विधिमार्गप्रपा, पृ. 116
27. आचारदिनकर, पृ. 87
28. समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/65
29. गणिविद्या, गा. 29-32
30. वही, गा. 22-24
31. (क) आचारदिनकर, पृ. 87
    (ख) नंदे जए य पुन्ने, सेहनिक्खमण करे।
    नंदे भद्दे सुवट्ठावे, पुन्ने अणसणं करे॥
    गणिविद्या, गा. 10
32. आचारदिनकर, पृ. 92-108
33. श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 23-26
34. श्री बृहद्योग विधि, पृ. 88-89
35. वही, पृ. 85-86
36. (क) वही, पृ. 123-142
    (ख) श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 72-82
37. सेनप्रश्न, प्रश्न 962
38. वही, प्रश्न 71
39. वही,प्रश्न 470
40. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1704 की टीका
41. व्यवहारभाष्य, गा. 2142

42. निशीथभाष्य, गा. 1594-97
43. अनुयोगद्वार, सू. 2 की टीका
44. व्यवहारभाष्य, गा. 3034-3037 की टीका
45. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 41
46. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 137-138
47. आचारदिनकर, पृ. 82-83
48. तिलकाचार्य सामाचारी, पत्र 40 पृ. 2
49. विधिमार्गप्रपा, पृ. 139-144
50. आचारदिनकर, पृ. 83-85
51. वही, पृ. 82-85
52. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/22-36
53. व्यवहारभाष्य, गा. 4654-4670
54. व्यवहारसूत्र, 10/22-36 की व्याख्या, पृ. 453
55. वही, 454
56. वही, 455
57. मोक्षमार्ग प्रकाशक, आठवाँ अधिकार
58. दशाश्रुतस्कन्ध हिन्दी गुर्जर टीका, सू. 14, पृ. 25
59. मूलाचार, गा. 277
60. वही, गा. 278-279 की टीका
61. अंतकृतदशा, वर्ग-5
62. वही, वर्ग-8
63. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, 1/16
64. जैन और बौद्ध क्षिक्षुणी संघ, पृ. 91-92
65. नहि प्रज्ञावत्योऽपि स्त्रियो दृष्टिवादं पठन्ति।

(क) बृहत्कल्पभाष्य, 145 की टीका

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए इति आइसेसज्झयणा, भूयाबाओ य नोत्थीणं।

(ख) विशेषावश्यकभाष्य, 552

(ग) बृहत्कल्पभाष्य, 146

66. बृहत्कल्पभाष्य, 146 की टीका
67. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/26,54
68. वही, 29/55
69. वही, 29/56
70. वही, 29/57-59
71. वही, 29/59-61
72. वही, 29/27-29
73. व्यवहारभाष्य, गा. 4338-4341
74. वही, गा. 4671-4672
75. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1163, 1166, 1171
76. व्यवहारभाष्य, गा. 3019
77. (क) स घा नो योग आ भुवत् –ऋग्वेद, 1/5/3
    (ख) कदा योगो वाजिनो रासभस्य – वही, 1/34/9
78. अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति।
    कठोपनिषद्, 1/2/12
79. महाभारत के शान्ति, अनुशासन एवं भीष्म पर्व दृष्टव्य है।
80. स्कन्दपुराण, भा.1, अ. 55
81. भागवतपुराण, 3/28, 11/15
82. जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ. 14
83. वही, पृ. 15
84. जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरूत्तरा।
    अणुसासणमेव पक्कम्मे, वीरेहिं सम्मं पवेदियं॥
    सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/1/गा. 11
85. स्थानांगसूत्र, 10/133
86. वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।
    उत्तराध्ययनसूत्र, 11/14
87. वहणे वहमाणस्स, कंतारं अइवत्तइ।
    जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तइ॥
    वही, 27/2

88. आचारांगसूत्र, 1/6/181
89. पातंजलि योगदर्शन, 1/2 की टीका
90. भगवतीसूत्र, मुनि आत्मारामजी, 21.25, उ. 7, पृ. 254
91. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/88
92. वही, 3/496
93. वही, 10/133
94. समवायांगसूत्र, 32/209
95. अनुयोगद्वार, संपा. मधुकरमुनि, सू. 1-2
96. नन्दीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 171
97. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/22
98. व्यवहारभाष्य-सानुवाद, 7/3195-3217
99. पंचवस्तुक, गा. 589
100. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 31-45
101. प्राचीन सामाचारी,
102. सुबोधा सामाचारी, पृ. 20-34
103. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 115-181
104. आचारदिनकर, पृ. 81-110
105. अनगारधर्मामृत, 9/1-7
106. मूलाचार, 270-276
107. अनुयोगद्वार, सू. 29

●

अध्याय-5

योगोद्वहन सम्बन्धी विविध विधियाँ

जैन परम्परा में आगमसूत्रों का अभ्यास योगोद्वहन पूर्वक होता है। योगोद्वहन में आयंबिल आदि तप के साथ-साथ कुछ विधियाँ भी सम्पन्न की जाती हैं जैसे– योगप्रवेशविधि, योगनिक्षेप (निर्गमन) विधि, कालग्रहणविधि, कालमंडल प्रतिलेखन विधि, प्रवेदन विधि, स्वाध्याय प्रस्थापना विधि, वसतिप्रवेदन विधि, नोंतरा विधि, पाटली विधि आदि।

इस अध्याय में योगोद्वहन से सम्बन्धित उपर्युक्त विधियाँ प्रस्तुत करेंगे।

योग प्रवेश विधि

- जिस दिन योग में प्रवेश करना हो उस दिन नन्दीरचना करवानी चाहिए। यह क्रिया व्रतधारी श्रावक या सौभाग्यवती नारी के द्वारा करवायी जानी चाहिए।
- यदि कालिकसूत्र के योग में प्रवेश कर रहे हों तो योगवाही मुनि सर्वप्रथम कालग्रहण लें, फिर प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन करें। उसके बाद वसति (उपाश्रय) के चारों तरफ सौ-सौ कदम तक की भूमि का निरीक्षण करें, उस स्थान में हड्डी, रुधिर आदि किसी प्रकार की अशुचि हो तो उसे दूर करवाएँ।
- फिर कालिकसूत्र के योग में प्रवेश किया जा रहा हो तो कालप्रवेदन और स्वाध्याय प्रस्थापना करें।
- तदनन्तर महानिशीथ योगकृत मुनि द्वारा प्रतिलेखित स्थापनाचार्य को अनावृत्त करके उसके चारों ओर अथवा नन्दिरचना के चारों ओर एक-एक नमस्कार मन्त्र गिनते हुए तीन प्रदक्षिणा दें।
- फिर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। योग प्रवेश क्रिया नन्दी के समक्ष करें।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार योगप्रवेश की यह विधि है–

निवेदन– योगवाही मुनि एक खमासमणसूत्र से वंदन कर कहें– **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं जोगे उक्खिवेह'**– हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो

हमें योग में स्थापित करिये। गुरु बोले **'उक्खेवामो'**– मैं योग में स्थापित करता हूँ।

कायोत्सर्ग– उसके बाद योगवाही शिष्य पुनः खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर कहें– **'तुब्भे अम्हं जोगोक्खेवावणियं काउस्सग्गं करावेह'–** हे भगवन्! आप हमें योग में स्थापित (प्रविष्ट) करवाने के लिए कायोत्सर्ग करवाइये। गुरु कहें– **'करावेमो'–** करवाता हूँ। उसके बाद **'जोगोक्खेवावणियं करेमि काउस्सग्गं'** एवं **अन्नत्थ सूत्र** बोलकर एक लोगस्ससूत्र (चंदेसुनिम्मलयरा तक) अथवा चार नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कुछ परम्पराओं में 'सागरवरगंभीरा' तक एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

वासदान– तत्पश्चात गुरु अंगसूत्र अथवा श्रुतस्कन्ध के उद्देश या अनुज्ञा निमित्त योगवाही मुनियों के मस्तक पर वासचूर्ण डालें। इसके अनन्तर देववंदन, नंदी श्रवण, कायोत्सर्ग आदि रूप नन्दीविधि की जाती है। वह अग्रिम पृष्ठों पर उल्लेखित है।[1]

तपागच्छ आदि में योगप्रवेश विधि निम्न प्रकार है–

वसतिशोधन– पूर्वनिर्दिष्ट ईर्यापथप्रतिक्रमण पर्यन्त की सर्वक्रिया सम्पन्न करने के पश्चात योगवाही मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! वसहि पवेउं?** गुरु– **पवेह।** शिष्य– **इच्छं** कहे। पुनः एक खमासमण देकर कहें– **भगवन् सुद्धावसहि**– वसति शुद्ध है। गुरु– **तहत्ति** कहें।

फिर योगवाही मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** शिष्य– इच्छं कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।

वासदान– शिष्य– खमासमण पूर्वक **इच्छकारि भगवन्! तुम्हें अम्हं जोगं उक्खेवेह।** गुरु– **उक्खेवामि।** शिष्य– **इच्छं।**

शिष्य– खमासमण पूर्वक **इच्छकारि भगवन्! तुम्हें अम्हं जोगउक्खेवाणणी नंदिकरावणी वासनिखेवं करेह।** गुरु– **करेमि।** फिर गुरु तीन नमस्कार मन्त्र गिनकर वासचूर्ण डालते हुए कहें– **जोगं उक्खेव, नंदि पवत्तेह, नित्थारपारगाहोह।** शिष्य– **तहत्ति** बोलें।

चैत्यवंदन– उसके बाद शिष्य खमासमण पूर्वक **इच्छकारि भगवन्!**

तुम्हे अम्हं जोग उक्खेवावणी नंदीकरावणी वासनिक्खेवकरावणी देवे वंदावेह। गुरु- **वंदावेमि।** फिर गुरु चैत्यवंदन से लेकर जयवीयराय तक सूत्रपाठ बोलें।

कायोत्सर्ग– तदनन्तर शिष्यगण दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर एक खमासमण देकर कहें- **इच्छकारि भगवन्! तुम्हें अम्हं जोगउक्खेवावणी नंदिकरावणी वासनिक्खेवकरावणी देववंदावणी काउस्सग्ग करावेह।** गुरु- **करेह।** शिष्य- **इच्छं** कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्स (सागरवरगंभीरा तक) का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। फिर एक खमासमण द्वारा अविधि-आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें।

समीक्षा– योग प्रवेश विधि के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाये तो खरतरगच्छ एवं तपागच्छ आदि में परस्पर कुछ समरूपता तो कुछ भिन्नता प्राप्त होती है-

1. वासदान, कायोत्सर्ग, योग प्रवेश हेतु निवेदन आदि क्रियाएँ दोनों में एक समान हैं, यद्यपि क्रम में अन्तर है।
2. तपागच्छ आम्नाय में योगप्रवेश के प्रारम्भ में मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन और वासदान के पश्चात चैत्यवंदन एवं द्वादशार्त्तवन्दन- ये विधियाँ अतिरिक्त होती हैं।
3. दोनों परम्पराओं में आलापक पाठ एवं उनके शब्द विन्यास को लेकर भी असमानताएँ हैं। फिर भी मूल विधि में कोई अन्तर नहीं है।[2]

योगनन्दी विधि

योग प्रवेश के दिन, आचारांग आदि अंगसूत्रों और उनके श्रुतस्कन्धों के आरम्भ एवं समापन के दिन नन्दी विधि होती है। जिस दिन नन्दी हो उस दिन निम्न विधि करनी चाहिए। विधिमार्गप्रपा के अनुसार योगनन्दी विधि इस प्रकार है-

सर्वप्रथम जिन मंदिर में अथवा उपाश्रय में समवसरण की स्थापना करें। फिर चारों दिशाओं में एक-एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए और गुरु भगवन्त को नमस्कार करते हुए तीन प्रदक्षिणा दें।

देववन्दन फिर खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर योगवाही बोलें- **'तुब्भे अम्हं अमुगसुयक्खंधाइ-उद्देसाइ निमित्तं चेइयाइं वंदावेह'–** हे भगवन्!

आप हमें अमुक श्रुतस्कन्ध या उद्देशक आदि के निमित्त चैत्यवंदन (देववंदन) आदि क्रिया करवायें। तब गुरु कहते हैं- **'वंदावेमो**- मैं देववन्दन करवाता हूँ। तत्पश्चात गुरु योगवाहियों को अपनी बायीं ओर बिठाकर महावीर स्वामी की चार और अंबिका आदि देवी-देवताओं सहित कुल 18 स्तुतियों तथा अरिहाण आदि स्तोत्र पूर्वक देववन्दन करवायें।

द्वादशावर्त्तवंदन- तदनन्तर योगवाही मुनि मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर नन्दीसूत्र का श्रवण करने के लिए अन्नत्थसूत्र बोलकर आठ श्वासोश्वास परिमाण एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट स्वर में नमस्कार मन्त्र बोलें। यहाँ कुछ परम्पराओं में सत्ताईस श्वासोश्वास (सागरवरगंभीरा तक लोगस्ससूत्र) का कायोत्सर्ग कर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलते हैं।

नन्दीश्रवण- तदनन्तर एक खमासमण देकर योगवाही कहें- **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं नंदि सुणावेह'** – हे भगवन्! आप हमें अपनी स्वेच्छा से नंदिसूत्र सुनाइये। तब गुरु तीन बार नमस्कार मन्त्र बोलकर नन्दीपाठ सुनाते हैं। कुछ परम्पराओं में निम्न लघुनन्दी पाठ सुनाया जाता है-

'नाणं पंचविहं पन्नत्तं, तंजहा-आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं। तत्थ चत्तारि नाणाइं उप्पाइं ठवणिज्जाइं, नो उद्दिसिज्जंति, नो समुद्दिसिज्जंति, नो अणुन्नविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्ना अणुओगो पवत्तइ, इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च इमस्स साहुस्स इमाइ साहुणीए वा अमुगस्स अंगस्स, सुयक्खंधस्स वा उद्देसनन्दी अणुण्णानंदी वा पयट्टइ।'

कुछ परम्पराओं में बृहद्नंदी का पाठ सुनाते हैं, जो निम्न है-

'नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा- आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं केवलनाणं। तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं, नो उद्दिसिज्जंति, नो समुद्दिसिज्जंति, नो अणुन्नविज्जंति। सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ? अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ? अंग पविट्ठस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा

अणुओगो पवत्तइ, अंग बाहिरस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।

जइ अंगबाहिरस्स, उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ, किं आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ? आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ? आवस्सगस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ; आवस्सगवइरित्तस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।

जइ आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ; किं सामाइयस्स, चउवीसत्थयस्स, वंदणस्स, पडिक्कमणस्स, काउस्सगस्स, पच्चक्खाणस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ?

जइ आवस्सग वइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ; किं कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ, किं उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तई; उकालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ; उक्कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।

जइ उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ; किं दसवेयालियस्स, कप्पियाकप्पियस्स, चुल्लकप्पसुयस्स, महाकप्पसुयस्स, पमायप्पमायस्स, ओवाइयस्स, रायपसेणईयस्स, जीवाभिगमस्स, पण्णवणाए, महापण्णवणाए, नंदीए, अणुओगदाराणं, देविंदत्थस्स, तंदुल वेयालियस्स, चंदाविज्झयस्स, पोरिसीमंडलस्स, मंडलि पवेसस्स, गणिविज्जाए, विज्जाचरण विणिच्छियस्स, झाणविभत्तीए, मरणविभत्तीए, आयविसोहीए, मरणविसोहीए, संलेहणासुयस्स, वीयरायसुयस्स, विहारकप्पस्स, चरणविहीए, आउरपच्चक्खाणस्स, महापच्चक्खाणस्स, सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।

जइ कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ; किं उत्तरज्झयणाणं, दसाणं, कप्पस्स, ववहारस्स, इसिभासियाणं, निसीहस्स, जंबुद्दीवपन्नत्तीए, चंदपन्नत्तीए, सूरपन्नत्तीए, दीवसागरपन्नत्तीए, खुड्डियाविमाणपविभत्तीए, महल्लियाविमाण पविभत्तीए, अंगचूलियाए,

वग्ग चूलियाए, विवाह चूलियाए, अरुणोववायस्स, गुरुलोववायस्स, धरणोववायस्स, वेलंधरोववायस्स वेसमणोववायस्स, देविंदोववायस्स, उट्ठाणसुयस्स, समुट्ठाणसुयस्स, नागपरियावलियाणं, निरयावलियाणं, कप्पियाणं, कप्पवडिसियाणं, पुप्फियाणं, पुप्फ चूलियाणं, वण्हीदसाणं, आसीविस भाववाणं, दिट्ठिविस भावणाणं, चारण सुमिणग भावणाणं, महासुमिणग भावणाणं, तेयग्गनिसग्गाणं, सव्वेसिंपि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।

जइ अंग पविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ, किं आयारस्स, सूयगडस्स, ठाणस्स, समवायस्स, विवाह पण्णत्तीए, नायाधम्मकहाणं उवासगदसाणं, अंतगडदसाणं, अणुत्तरोववाइदसाणं, पण्हावागरणाणं, विवागसुयस्स, दिट्ठिवायस्स, सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च– इमस्स साहुस्स इमाइ साहुणीए वा अमुगस्स अंगस्स सुयक्खंधस्स वा उद्देसनन्दी अणुण्णानंदी का पयट्टइ।'

उक्त नन्दीपाठ तीन बार सुनायें। इस नन्दीपाठ का अन्तिम अंश **'इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च..... वा पयट्टइ** को सुनाने का भावार्थ यह है कि अमुक साधु अथवा अमुक साध्वी अमुक अंगसूत्र अथवा अमुक श्रुतस्कंध पढ़ने एवं पढ़ाने हेतु योग में प्रवेश कर रहे हैं।

नन्दीपाठ सुनाने के पश्चात गुरु वासचूर्ण को अभिमन्त्रित कर जिनप्रतिमा के चरणयुगल में डालें और उपस्थित संघ को प्रदान करें।[3]

आचारदिनकर में योगनंदी विधि इस प्रकार उल्लेखित है–[4]

सर्वप्रथम जिनालय या उपाश्रय में समवसरण की स्थापना कर तीन प्रदक्षिणा करें।

वासदान– फिर शिष्य गुरु को वंदन कर कहे– **'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं अमुगसुयक्खंधस्स उद्देसानिमित्तं नन्दिकट्ठावणियं वासक्खेवं करेह चेइआइं च वंदावेह'**– तत्पश्चात गुरु पूर्वविधि के अनुसार वास को अभिमन्त्रित कर शिष्य के सिर पर डालें।

देववंदन– फिर पूर्वकथित विधि के अनुसार गुरु-शिष्य वर्धमान स्तुति से चैत्यवंदन करें। इसी क्रम में शान्तिदेवता, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता एवं वैयावृत्यकर देवता की आराधना निमित्त कायोत्सर्ग एवं स्तुति

बोलें। फिर शक्रस्तव, अर्हणादिस्तोत्र, जयवीयराय आदि के पाठ पूर्ववत बोलें। फिर योगवाही मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

कायोत्सर्ग– उसके बाद 'उद्देशक आदि के अध्ययन निमित्त नन्दी करने हेतु मैं कायोत्सर्ग करता हूँ' ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर पुनः प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। नन्दीश्रवण फिर गुरु शिष्य को अपनी बायीं तरफ करके तीन बार नमस्कार मंत्र बोलकर लघुनन्दी पढ़ें।[5]

आचार्य वर्धमानसूरि ने योगनंदी क्रम में यह निर्देश भी दिया है कि योगवाही साधु-साध्वी की प्रथम वाचना के अन्त में उद्देसनन्दी, द्वितीय वाचना के अन्त में समुद्देस नन्दी एवं तृतीय वाचना के अन्त में अनुज्ञानन्दी होती है। अतएव गुरु उद्देस-समुद्देस-अनुज्ञानन्दी के निमित्त तीन बार नन्दीसूत्र सुनाते हैं और क्रमशः तीन बार वासचूर्ण डालते हैं।

आचार दिनकर के मतानुसार उपर्युक्त विधि होने के बाद गुरु गन्ध-अक्षत को अभिमन्त्रित करें। फिर प्रतिमा के चरणों में डालें तथा उपस्थित सकल संघ को दें। तदनन्तर सभीजन योगवाही के सिर पर **'नित्थारपारगो होह'** कहते हुए वासचूर्ण डालें और अक्षत उछालें।

तपागच्छ आदि परम्पराओं में प्रचलित योगनन्दीविधि इस प्रकार है[6]– योगवाही नन्दिरचना अथवा खुले हुए स्थापनाचार्य के चारों ओर एक-एक नमस्कार मन्त्र गिनते हुए और गुरु को नमस्कार करते हुए तीन प्रदक्षिणा दें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर आदेश पूर्वक वसतिशुद्धि करें।[7]

उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह इच्छं** कह मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

फिर योगवाही मुनि एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छकारि भगवन्! तुम्हें अम्हं श्री आवश्यक श्रुतस्कंध** (अथवा जिस सूत्र के योग में प्रवेश कर रहे हों उसका नाम लेते हुए) **उद्देसावणी (अणुजाणावणी) नन्दी करावणी[8] वासनिक्षेप करो?** गुरु– **करेमि** ऐसा कहकर गुरु तीन नमस्कार मन्त्र बोलकर एक बार वास का क्षेपण करें। उस समय **'उद्देश नन्दि पवत्तेह'– 'नित्थारपारगा होह'** बोलें। शिष्य 'तहत्ति' कहें।

फिर शिष्य एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री आवश्यक श्रुतस्कंध उद्देसावणी नंदिकरावणी वासनिक्षेपकरावणी**

देववंदावो!' गुरु– **वंदावेमि** कहें। फिर *ॐ नमः पार्श्वनाथाय.* चैत्यवंदन से लेकर आठ स्तुति, *ओमिति नमो भगवई.* स्तवन और जयवीयराय पर्यन्त देववन्दन करें।

तदनन्तर प्रतिमा हो तो उस पर परदा करवाकर खुल्ले स्थापनाचार्य के सम्मुख दो वांदणा पूर्वक द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

फिर प्रतिमा का परदा दूर करवाकर योगवाही एक खमासमण देकर बोलें– **'इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री आवश्यक श्रुतस्कंध उद्देसावणी, नन्दिकरावणी, वासनिक्षेपकरावणी देववंदावणी नन्दीसूत्र संभलावणी काउस्सग्ग करावो,** गुरु कहें– **'करेह।'** फिर शिष्य 'इच्छं शब्द पूर्वक एक खमासमण देकर कहें– **'श्री आवश्यक श्रुतस्कंधं उद्देसावणी (अणुजाणावणी) नंदीकरावणी नंदीसूत्र संभलावणी करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक **अन्नत्थसूत्र** बोलकर एक लोगस्ससूत्र (सागरवरगंभीरा तक) का कायोत्सर्ग करें, पारकर प्रकट लोगस्स कहें।

यहाँ गुरु भी **'श्री आवश्यक उद्देसावणी नंदिकरावणी वासनिक्षेप करावणी देववंदावणी नंदीसूत्र कढावणी करेमि काउस्सग्गं'** अन्नत्थसूत्र कहकर पूर्ववत एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करें।

फिर योगवाही शिष्य एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छकारि भगवन्! पसाय करी श्री नन्दीसूत्र सम्भलावोजी'–** गुरु– **सांभलो**। फिर गुरु स्वयं एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि भगवन्! नंदीसूत्र कड्ढुं?' इच्छं।** फिर तीन बार क्रमशः नमस्कार मन्त्र एवं बृहतनन्दी पाठ कहें। नन्दीपाठ पूर्ण होने पर एक बार योगवाही के मस्तक पर वासचूर्ण डालें, तब शिष्य **'इच्छामो अणुसट्ठि'** कहें। नन्दी पाठ सुनते समय शिष्य दोनों हाथों को अंजलि मुद्रा में बनाकर कनिष्ठिका अंगुलियों के मध्य मुखवस्त्रिका और अंगुष्ठों के मध्य रजोहरण को धारण कर अर्धावनत मुद्रा में एकाग्रचित्त होकर नंदीसूत्र सुनें।

समीक्षा– खरतरगच्छीय विधिमार्गप्रपा एवं आचार दिनकर की सामाचारी तथा तपागच्छ आदि परम्पराओं में प्रचलित योगनन्दीविधि में परस्पर कुछ समानताएँ एवं कुछ असमानताएँ हैं। जैसे– 1. आचारदिनकर एवं तपागच्छ आदि परम्पराओं का विधिक्रम समान हैं। 2. आचारदिनकर एवं प्रचलित परम्परा में नन्दी विधि के प्रारम्भ में योगवाही शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालने का विधान है, किन्तु विधिमार्गप्रपा में यह उल्लेख नहीं है।

3. विधिमार्गप्रपा एवं तपागच्छ परम्परा में योगनन्दि के समय बृहतनन्दीपाठ सुनाने का उल्लेख है जबकि आचारदिनकर में लघुनन्दीपाठ का सूचन है। 5. विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर आदि में नन्दिविधि समवसरण के समक्ष करने का निर्देश है किन्तु तपागच्छ आदि परम्पराओं में इस विधि को सम्पन्न करने के लिए नन्दिरचना एवं स्थापनाचार्य दोनों का उल्लेख किया गया है।

उद्देश विधि

योगोद्वहन में नन्दी विधि करने के पश्चात उद्देश आदि की विधि की जाती है। इस उद्देश विधि में सात खमासमणपूर्वक जिस आगमसूत्र के अध्ययन हेतु योग कर रहे हैं तद्विषयक निवेदन एवं उसकी गुर्वानुमति प्राप्त की जाती है। विधिमार्गप्रपा के मतानुसार उद्देश विधि निम्न प्रकार है।[9] यहाँ श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा उद्देश विधि कहते हैं–

1. सर्वप्रथम योगवाही मुनि मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन[10] कर द्वादशावर्त्त वंदन पूर्वक कहे– **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं अमुक सुयक्खंधं** (अथवा अमुगं सयं, अमुगं अंगं, अमुगं वग्गं, अमुक सयस्स अमुगं उद्देसं आइल्लं अंतिल्लं वा) **उद्दिसह**'– हे भगवन्! आप हमें इच्छापूर्वक अमुक श्रुतस्कन्ध का निरूपण करिये। गुरु– **'उद्दिसामो'** कहते हैं।

2. तत्पश्चात शिष्य पुनः खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन कर कहें– **'संदिसह किं भणामो?'**– आप बताइए कि मैं क्या पढ़ूँ? गुरु कहें– **'वंदित्ता पवेयह'**– वंदन कर प्रतिपादन करो।

3. योगवाही शिष्य **'इच्छं'** कह खमासमणसूत्र से वंदन कर कहें– **'इच्छाकारेण तुब्भेहिं अम्हं अमुक सुयक्खंधाइ उद्दिट्ठं?'**– हे भगवन्! आपने स्वेच्छा से अमुक श्रुतस्कन्धादि का प्रतिपादन किया है? गुरु कहें– **'उद्दिट्ठं उद्दिट्ठं उद्दिट्ठं खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं तदुभयेणं सम्मं जोगो कायव्वो'**[11]– मैंने अमुक श्रुतस्कन्ध का निरूपण किया है, तुम्हें पूर्वाचार्यों द्वारा प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ से सम्यक प्रकार से योग वहन करना चाहिए।

4. तत्पश्चात शिष्य खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर कहे– **'तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि'**– मैंने आपको प्रवेदित कर दिया है, अब इसे मुझे अन्य साधुओं को बताने की अनुज्ञा दें। गुरु कहें– **'पवेयह'**– अन्य साधुओं को प्रवेदित करने की अनुज्ञा है।

5. उसके बाद योगवाही मुनि **'इच्छं'** शब्द कहकर एक खमासमण पूर्वक एक-एक नमस्कार मन्त्र गिनते हुए समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। प्रदक्षिणा देते समय गुरु से तीन बार वासचूर्ण ग्रहण करें।

6. फिर एक खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर बोलें– **'तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करावेह'**– मैंने अमुक श्रुतस्कन्ध के विषय में आपको बतला दिया है, अन्य साधुओं को बतला दिया है, अब उस श्रुतस्कन्ध का अवधारण करने के लिए कायोत्सर्ग करवाइये। गुरु कहें– **'करावेमो'**।

7. फिर योगवाही शिष्य 'इच्छं' पूर्वक एक खमासमणसूत्र से वंदन कर– **'अमुग सुयक्खंधाइ उद्दिसावणियं करेमि काउस्सग्गं जाव वोसिरामि'** बोलकर सागरवरगंभीरा तक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। तदनन्तर उद्देस-अनुज्ञा नन्दि को स्थिर करने के लिए एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग कर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें।

विशेष– • प्रत्येक अंगसूत्र, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, वर्ग, शतक आदि की उद्देशविधि पूर्ववत ही होती है। इन सभी में उक्त सात थोभवंदन होते हैं।

• उद्देशादि विधि में मुख्य अन्तर यह है कि उद्देशविधि के समय **'सम्मं जोगो कायव्वो'**– सम्यक योग करना चाहिए, समुद्देश विधि के समय **'थिरपरिचियं कायव्वं'**– स्थिर-परिचित करना चाहिए और अनुज्ञाविधि के समय **'सम्मं धारणीयं, चिरं पालणीयं, अन्नेसिं पि पवेयणीयं'**– इस श्रुतस्कन्ध को सम्यक धारण करना चाहिए, चिरकाल तक इसका पालन करना चाहिए और अन्य मुनियों में भी इस श्रुतस्कन्ध या अमुक अध्ययन आदि का प्रवेदन करना चाहिए– ऐसा कहें।[12] यदि साध्वी की अनुज्ञाविधि हो तो **'अन्नेसिं पि पवेयणीयं'** यह वाक्य पद नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि सामान्यतया साध्वी द्वारा वाचना नहीं दी जाती है और यह पद वाचनादान से सम्बन्धित है।

• जिस प्रकार उद्देश विधि में गुरु से निवेदन, गुरु का प्रत्युत्तर, शिष्य का कथन, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ की जाती है उसी तरह की आलापक विधि समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि में भी की जाती है, केवल **'सम्मं जोगो कायव्वो, थिर परिचियं कायव्वं, सम्मं धारणीयं**... ये वाक्य पद अतिरिक्त बोले जाते हैं।

• सामान्यतया अंगूसत्र या श्रुतस्कन्ध आदि की उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि क्रमशः युगपद् होती है, भिन्न-भिन्न काल में नहीं होती है।

• किसी अंगसूत्र की उद्देशादि विधि हो तो **आयारंगं उद्दिसह, आयारंगं समुद्दिसह, आयारंगं अणुजाहण–** ऐसा आलापक कहें। यदि किसी सूत्र के श्रुतस्कन्ध की उद्देशादि विधि हो तो **आवस्सय सुयक्खंधं उद्दिसह, समुद्दिसह, अणुजाणह–** ऐसा आलापक कहें। यदि किसी सूत्र के अध्ययन की उद्देशादि विधि हो तो **आवस्सय सुयक्खंधे पढमं अज्झयणं उद्दिसह, समुद्दिसह, अणुजाणह–** ऐसा आलापक कहें। इसी तरह शतक, वर्ग आदि की उद्देशादि विधि समझनी चाहिए।

शेष विधि

वाचना आदेश– विधिमार्गप्रपा के मतानुसार पूर्वकथित उद्देश विधि होने के पश्चात योगवाही को वाचना का आदेश लेना चाहिए। एक खमासमण पूर्वक वंदन कर **'वायणा संदिसावेमि'–** वाचना श्रवण करने के लिए आप अनुमति दें। पुनः दूसरा खमासमण देकर– **'वायणा पडिग्गहेमि'–** आपकी अनुमतिपूर्वक वाचना ग्रहण करता हूँ– इस प्रकार वाचना लेने की अनुज्ञा प्राप्त करें।[13]

बैठने का आदेश– तत्पश्चात वाचना श्रवण हेतु बैठने का आदेश लेना चाहिए। योगवाही पूर्ववत एक खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर कहें– **'बइसणं संदिसावेमि'–** मैं आसन पर बैठने के लिए अनुमति लेता हूँ। पुनः दूसरा खमासमण देकर कहे– **'बइसणं ठामि'–** आपकी अनुमति पूर्वक आसन पर बैठता हूँ। इस प्रकार बैठने की अनुज्ञा प्राप्त करें।

पूर्वनिर्दिष्ट अनुज्ञा विधि होने के पश्चात योगवाही द्वादशावर्त्तवन्दन पूर्वक प्रवेदन हेतु पवेयणा विधि करें।

प्रत्याख्यान ग्रहण– आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार योग प्रवेश के प्रथम दिन असमर्थ योगवाही को आयंबिल और समर्थ योगवाही को उपवास का प्रत्याख्यान करना चाहिए तथा दूसरे दिन पारणा में नीवि का प्रत्याख्यान करना चाहिए।[14]

बहुवेलं आदि के आदेश– तदनन्तर योगवाही पूर्ववत दो खमासमण के द्वारा **'बहुवेलं'–** बार-बार की जाने वाली प्रत्येक क्रियाओं का, दो खमासमण

के द्वारा **'सज्झाय'**– स्वाध्याय का और दो खमासमण के द्वारा **'बइसणं'**– बैठने का आदेश लें।

सज्झाय आदेश– पुन: दो बार खमासमणसूत्र द्वारा वंदन करके **'सज्झाउ पाठ विसहं'**– स्वाध्याय का पाठ प्रारम्भ करें? **'सज्झाय पाठवणत्थु काउस्सग्गु करिसहं'**– स्वाध्याय पाठ शुरू करने के लिए कायोत्सर्ग करें? इस प्रकार स्वाध्याय प्रारम्भ करने की अनुमति लें।

समीक्षा– विधिमार्गप्रपा,[15] आचारदिनकर[16] एवं तपागच्छ[17] आदि में यह उद्देशविधि लगभग समान हैं। विशेष इतना है कि आचारदिनकर में सप्त थोभ वंदन करते समय समवसरण की तीन प्रदक्षिणा देने का उल्लेख नहीं है और वायणा, सज्झाय, बइसणं आदि के आदेश लेने का भी निर्देश नहीं है।

विधिमार्गप्रपा में उद्देश आदि के समय सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं का सम्यक उल्लेख किया गया है। इसी के साथ विधिमार्गप्रपा में वर्णित वायणा-बइसणं आदि की आदेश विधि अन्य परम्पराओं में आंशिक रूप से प्रचलित है। यद्यपि इसकी मूल विधि सभी परम्पराओं में समान है।

कालिकसूत्र के समय उद्देशादि की शेष विधि

यदि कालिकसूत्र के योग में प्रवेश कर रहे हों और तत्सम्बन्धी अंगसूत्र, उपांगसूत्र या उनके श्रुतस्कन्ध की उद्देशविधि की जा रही हो तो पूर्वनिर्दिष्ट सप्तखमासमण, वायणा, बइसणं, बहुवेलं, सज्झाय आदि की अनुमति लेने के पश्चात कालमंडल, संघट्टा एवं आउत्तवाणय के आदेश ग्रहण करने चाहिए।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार कालिकसूत्रों से सम्बन्धित उद्देशक की शेष विधि निम्नांकित है–

कालमंडल– योगवाही मुनि खमासमणसूत्र से गुरु को वंदन कर कहें– **'कालमंडला संदिसाविसहं'**– कालमंडल करने के निमित्त आपकी आज्ञा ग्रहण करते हैं। पुन: दूसरा खमासमण देकर कहें– **'कालमंडला करिसहं'**– आपकी अनुमति हो तो कालमंडल करते हैं, ऐसा आदेश लें।

संघट्टा ग्रहण– तदनन्तर योगवाही मुनि तीन खमासमण द्वारा संघट्टा (संस्पर्श) का आदेश लें। पहला खमासमण देकर कहें– **'संघट्टउ संदिसाविसहं'**– संघट्टा ग्रहण करने के निमित्त आपकी आज्ञा स्वीकार करते हैं। दूसरा खमासमण देकर कहें– **संघट्टउ पडिगाहिसहं'**– आपकी अनुमति पूर्वक

संघट्टा ग्रहण करते हैं। तीसरा खमासमण देकर कहें– **'संघट्ट पडिगाहणत्थु काउस्सग्गु करिसहं'**– संघट्टा ग्रहण करने के निमित्त कायोत्सर्ग करते हैं।

आउत्तवाणय ग्रहण– किन्हीं परम्परा में पूर्ववत तीन खमासमण सूत्र द्वारा आउत्तवाणय के आदेश भी लिये जाते हैं जैसे– **आउत्तवाणय संदिसाविसहं, आउत्तवाणय पडिगाहिसहं, आउत्तवाणय पडिगाहणत्थु काउस्सग्गु करिसहं**– ऐसे तीन आदेश लेते हैं।[18]

समीक्षा– विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर एवं तपागच्छ आदि परम्पराओं में कालिकसूत्र की उद्देशविधि के सम्बन्ध में निम्न अन्तर है–

- विधिमार्गप्रपा में कालिकसूत्रों की उद्देश विधि करते वक्त कालमंडल एवं संघट्टा ग्रहण का आदेश लेना अनिवार्य बतलाया है और अन्य मतानुसार आउत्तवाणय के आदेश का भी सूचन किया है किन्तु आचार दिनकर में मात्र संघट्टाग्रहण सम्बन्धी तीन आदेश लेने का निर्देश इस प्रकार है– **'संघट्टा मुहपत्तीपडिलेहेमि'** योगवाही मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्तवंदन करें। फिर **'संघट्टं संदिसावेमि' 'संघट्टस्स संदिसावणियं करेमि काउस्सग्गं– जाव वोसिरामि'** बोलकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में पुनः लोगस्ससूत्र कहें।[19]
- तपागच्छ परम्परा से सम्बन्धित संकलित कृतियों में उद्देश विधि को लेकर सामाचारी भेद है। जैसे– मुनि अजितशेखर विजयजी द्वारा संपादित श्री प्रव्रज्या योगादि विधिसंग्रह में निर्देश है कि समवायांग आदि कालिक सूत्रों के योग में केवल उद्देश विधि करनी हो तो पृथक-पृथक चार खमासमण द्वारा निम्न चार आदेश लें–

1. **कालमांडला संदिसाहुं? 2. कालमांडला पडिलेहशुं? 3. सज्झाय पडिक्कमशुं? 4. पाभाइय काल पडिक्कमशुं?** तत्पश्चात दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करके दो खमासमण द्वारा **'बइसणं'** का आदेश लें।[20]

- आचार्य देवेन्द्रसागरसूरी द्वारा संपादित श्री बृहद्योगविधि में कालिकसूत्रों की उद्देशविधि के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि कालिक सूत्रों के योग हों तो योगवाही **1. कालमांडला संदिसावउं? 2. कालमांडला पडिलेहशुं? 3. सज्झाय पडिक्कमशुं?**– ये तीन खमासमण अधिक दें। यदि केवल समुद्देश विधि हो तो द्वादशावर्त्त वंदन करके 'बइसणं' का आदेश लें। इस

तरह एक ही परम्परा के भिन्न-भिन्न समुदायों में ऐसे कई अन्तर हैं।

• इन संकलित कृतियों में उद्देशविधि के अन्त में एक खमासमण पूर्वक 'अविधि आशातना मिच्छामि दुक्कडं' देने का और इसके पश्चात पवेयणा की क्रिया करने का भी सूचन है।[21]

उद्देश नन्दी एवं अनुज्ञा नन्दी के अतिरिक्त अन्य दिनों में करने योग्य उद्देशादि विधि

पूर्वाचार्य उपदिष्ट सामाचारी के अनुसार अंगसूत्रों एवं उनके श्रुतस्कन्ध के उद्देश और अनुज्ञा दिनों में नन्दी विधि होती है। उन दिनों पूर्वकथित विधि के अनुसार उद्देशादि की विधि करनी चाहिए, शेष दिनों में उद्देश आदि की विधि इस प्रकार करें-

उद्देश विधि

सर्वप्रथम कालग्रहण करें, प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन करें, वसति संशोधन करें, काल प्रवेदन करें, स्वाध्याय की प्रस्थापना करें। उसके बाद गुरु के समीप आकर सात खमासमण पूर्वक उद्देशविधि करें।

सर्वप्रथम एक खमासमण देकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। फिर खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! वसति पवेउं?** गुरु-**पवेह,** इच्छं.। खमा. **भगवन् सुद्धावसही,** गुरु-**तहत्ति**।

1. शिष्य- **खमा. इच्छा. संदि. भग. मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु-**पडिलेहेह इच्छं।** योगवाही मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर अवग्रह से बाहर निकलकर कहें- **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं श्री ... सुयक्खंधस्स अज्झयणे** (वर्ग आदि हो तो उसका नाम लें) **उद्दिसह।** गुरु-**उद्दिस्सामि।**

2. शिष्य खमा.- **सदिसह किं भणामि?** गुरु-**वंदित्ता पवेयह, इच्छं**।

3. शिष्य- खमा. **इच्छा. भग. तुम्हे अम्हं श्री....उद्दिट्ठं?**

गुरु- **उद्दिट्ठं 3. खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभयेणं सम्मं जोगो कायव्वो,** शिष्य- **इच्छामो अणुसट्ठिं।**

4. शिष्य-खमा. **तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि।** गुरु-**पवेयह।** शिष्य- **इच्छं।**

5. शिष्य- खमा. तीन नमस्कार मन्त्र गिनें।

6. शिष्य- खमा. **तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करावेह।** गुरु- **करावेमो।**

7. शिष्य- खमा. **इच्छकारी भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री... उद्देशावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक लोगस्स (सागरवरगंभीरा तक) का कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्स कहें। तत्पश्चात समुद्देशविधि के सात खमासमण दें।

समुद्देश विधि

1. शिष्य- खमा. **इच्छकारेण तुब्भे अम्हं श्री..... समुद्दिसह,** गुरु- **समुद्दिसामि।** शिष्य- **इच्छं।**
2. शिष्य- खमा. **संदिसह किं भणामि?** गुरु- **वंदित्ता पवेयह।** शिष्य- **इच्छं।**
3. शिष्य-खमा. **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं श्री..... समुद्दिट्ठं?** गुरु- **समुद्दिट्ठं-3 खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभयेणं थिरपरिचियं कायव्वं।** शिष्य- **इच्छामो अणुसट्ठिं।**
4. शिष्य- खमा. **तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि।** गुरु- **पवेयह।** शिष्य- **इच्छं।**
5. शिष्य-खमा. खड़े-खड़े तीन नमस्कार मन्त्र गिनें।
6. शिष्य- खमा. **तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करावेह।** गुरु- **करावेमो।** शिष्य- **इच्छं।**
7. शिष्य- खमा. **श्री..... समुद्दिसावणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थसूत्र**, एक लोगस्स (सागरवरगंभीरा तक) कायोत्सर्ग, पूर्णकर प्रकट लोगस्स कहें।

1. प्रचलित परम्परानुसार शिष्य- **इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए।** गुरु- **तिविहेणं।** शिष्य- **मत्थएण वंदामि।** शिष्य- **इच्छा. संदि. भगवन्! वायणा संदिसाहुं?** गुरु- **संदिसावेह।** शिष्य- **इच्छं।**
2. शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! वायणा लेशुं?** गुरु- **जाव श्री लेहेह।** शिष्य- **इच्छं।**
3. यदि कालिक सूत्र के योग चल रहे हों तो निम्न तीन खमासमण दें। शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! कालमांडला संदिसाहुं?** गुरु- **संदिसावेह।** शिष्य- **इच्छं।**

4. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! कालमांडला पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** शिष्य– **इच्छं।**

5. शिष्य– **खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय पडिक्कमिउं?** गुरु– **पडिक्कमेह।** शिष्य– **इच्छं।**

6. शिष्य– आधा खमासमण देकर कहे– **इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए,** गुरु– **तिविहेण,** शिष्य– **मत्थएण वंदामि। इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं संदिसाहुं?** गुरु– **संदिसावेह।** शिष्य– **इच्छं।**

7. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं ठाउं?** गुरु– **ठावेह।** शिष्य– **इच्छं।** उसके बाद दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करके अवग्रह से बाहर निकले।

अनुज्ञाविधि

1. शिष्य– खमा. **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं श्री..... अणुजाणह।** गुरु– **अणुजाणामि।** शिष्य– **इच्छं।**

2. शिष्य– खमा. **संदिसह किं भणामि?** गुरु– **वंदित्ता पवेयह।** शिष्य– **इच्छं।**

3. शिष्य– खमा. **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं श्री.... अणुन्नायं?** गुरु– **अणुन्नायं-3 खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभयेणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं अन्नेसिंपि पवेयणीयं गुरुगुणेहिं वुड्ढाहि, नित्थारपारगा होह।** शिष्य– **इच्छामो अणुसट्ठिं।**

4. शिष्य– खमा. **तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि।** गुरु– **पवेयह।** शिष्य–**इच्छं।**

5. शिष्य– खमा. खड़े हुए तीन नमस्कार मन्त्र गिने।

6. शिष्य– खमा. **तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करावेह।** गुरु– **करावेमो।** शिष्य – **इच्छं।**

7. शिष्य– खमा. **श्री....अणुजाणावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ सूत्र** पूर्वक एक लोगस्ससूत्र (सागरवरगंभीरा तक) का कायोत्सर्ग, पूर्णकर प्रकट लोगस्स कहें।

कालिकसूत्र सम्बन्धी योग चल रहे हों तो कालमंडल आदि के चार आदेश अधिक लें। फिर 'बइसणं का आदेश लें।

1. शिष्य– खमा. **इच्छा.संदि. भगवन्! कालमांडला संदिसाहुं?** गुरु– **संदिसावेह।** शिष्य– **इच्छं।**

2. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! कालमांडला पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** शिष्य– **इच्छं।**

3. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय पडिक्कमिसहं?** गुरु– **पडिक्कमेह।** शिष्य–**इच्छं।**

4. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! पाभाईयकाल** (जो काल हो उसका नाम लेते हुए) **पडिक्कमिसहं?** गुरु– **पडिक्कमेह।** शिष्य– **इच्छं।**

शिष्य– द्वादशावर्त्तवन्दन करके अवग्रह से बाहर हो जायें।

5. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं संदिसाहुं?** गुरु– **संदिसावेह।** शिष्य– **इच्छं।**

6. शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं ठाउं?** गुरु– **ठावेह।** शिष्य– **इच्छं।**

7. शिष्य– खमा. अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें।

यदि दूसरे कालग्रहण की क्रिया करनी हो तो एक खमासमण देकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर उक्त विधि पूर्वक उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। उसके पश्चात प्रवेदन, संघट्टा, आउत्तवाणय सम्बन्धी क्रिया करें। फिर सज्झाय और उपयोगविधि करें।[22]

कालिकसूत्र योग में समुद्देश विधि

कालिकसूत्रों के योग में जिस दिन कालिकसूत्र की समुद्देश विधि सम्पन्न करनी हो, उस दिन निम्न विधि करें–

सर्वप्रथम कालग्रहण लें, फिर प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन करें, फिर वसति संशोधन करें, काल प्रवेदन करें, स्वाध्याय प्रस्थापना करें, उसके पश्चात गुरु के समक्ष आकर समुद्देश क्रिया करें।

1. तदनन्तर शिष्य एक खमासमणसूत्र से वन्दन कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। शिष्य–खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! वसित पवेउं?** गुरु– **पवेयह।** शिष्य– **इच्छं।** पुनः खमा. **भगवन् सुद्धावसही?** गुरु– **तहत्ति।** शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** शिष्य– **इच्छं**, मुखवस्त्रिका

का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर अवग्रह से बाहर हो जायें। फिर अर्धावनत मुद्रा में स्थित होकर- **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं श्री....समुद्दिसह।** गुरु- **समुद्दिसामि।** शिष्य- **इच्छं।**

2. शिष्य- खमा. **संदिसह किं भणामि?** गुरु- **वंदित्ता पवेयह।** शिष्य- **इच्छं।**

3. शिष्य- खमा. **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं श्री ..... समुद्दिट्ठं?** गुरु- **समुद्दिट्ठं (3) खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं थिरपरिचियं कायव्वं।** शिष्य- **इच्छामो अणुसट्ठिं।**

4. शिष्य- खमा. **तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि।** गुरु- **पवेयह।** शिष्य- **इच्छं।**

5. शिष्य- खमा. फिर खड़े हुए तीन नमस्कार मन्त्र गिनें।

6. शिष्य- खमा. **तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करावेह।** गुरु- **करावेमो।** शिष्य- **इच्छं।**

7. शिष्य- खमा. **श्री....समुद्दिसावणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थसूत्र**, एक लोगस्स का (सागरवरगंभीरा तक) कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट लोगस्स कहें।

1. शिष्य- आधा खमासमण देकर कहें- **इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए,** गुरु- **तिविहेण,** शिष्य- **मत्थएण वंदामि।** शिष्य- **इच्छा. संदि. भगवन्! वायणा संदिसाहुं?** गुरु- **संदिसावेह।** शिष्य- **इच्छं।**

2. शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! वायणा पडिग्गहूं?** गुरु- **पडिग्गहेह।** शिष्य- **इच्छं।**

3. शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! कालमंडला संदिसाहुं?** गुरु- **संदिसावेह।** शिष्य- **इच्छं।**

4. शिष्य- **खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! कालमंडला पडिलेहुं?** गुरु- **पडिलेहेह।** शिष्य- **इच्छं।**

5. शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय पडिक्कमिसहं?** गुरु- **पडिक्कमेह।** शिष्य- **इच्छं।**

6. शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! पाभाईयकाल पडिक्कमिसहं?** गुरु- **पडिक्कमेह।** शिष्य- **इच्छं।**

फिर द्वादशावर्त्त वन्दन पूर्वक अवग्रह से बाहर निकलकर बोलें- **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं संदिसाहुं?** गुरु- **संदिसावेह।** शिष्य- **इच्छं।**

7. शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं ठाउं?** गुरु- **ठाएह।** शिष्य- **इच्छं।**

एक खमासमण देकर अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कड़ दें। फिर प्रवेदन, सज्झाय एवं उपयोग विधि करें।[23]

कालिकसूत्र योग में सन्ध्याकालीन विधि

जिस समय कालिकसूत्र के योग चल रहे हों, उन दिनों प्रतिदिन सन्ध्याकाल में निम्न विधि करनी चाहिए। सर्वप्रथम वसति शोधन करें। फिर स्थापनाचार्य को खुला करके उसके सम्मुख ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। **वसति शुद्धि**- शिष्य-खमासमण देकर कहे- **इच्छा. संदि. भगवन्! वसति पवेउं?** गुरु- **पवेयह।** शिष्य- **इच्छं।** शिष्य- खमासमण देकर कहे- **भगवन्! सुद्धा वसहि,** गुरु- **तहत्ति।**

प्रत्याख्यान- शिष्य- खमासमण देकर बोलें- **इच्छा. संदि. भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु- **पडिलेहेह।** शिष्य - **इच्छं** शब्द पूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें।[24] फिर खड़े होकर कहें- **इच्छकारि भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाण करावोजी।** गुरु-पाणहार आदि के प्रत्याख्यान करवाएं। उसके बाद पुनः द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर खमासमण देकर कहें- **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं संदिसाहुं?** गुरु- **संदिसावेह।** शिष्य- **इच्छं।** पुनः शिष्य- खमासमण देकर कहें-**इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं ठाउं?** गुरु-**ठाएह।** शिष्य- **इच्छं।** फिर एक खमासमण देकर अविधि आशातना के लिए मिच्छामि दुक्कडं दें।

संघट्टा वर्जन- शिष्य- खमासमण देकर कहें- **इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टा मेलावणियं मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु- **पडिलेहेह।** शिष्य- **इच्छं।** इस समय किसी वस्तु का स्पर्श न करते हुए फिर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर शिष्य-खमासमण देकर कहें- **इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टो मेलुं?** गुरु- **मेलो।** शिष्य- **इच्छं।** फिर शिष्य- खमा. देकर कहें-**इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टा मेलावणियं काउस्सग्गं करुं?** गुरु- **करेह।** शिष्य- **इच्छं।** इतना कह **संघट्टा मेलावणियं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक अन्नत्थसूत्र** बोलकर एक नमस्कार

मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर एक खमासमणसूत्र से वन्दन कर किसी तरह की अविधि या आशातना हुई हो तो उसका मिथ्या दुष्कृत दें।

यदि प्रात:काल आउत्तवाणय ग्रहण किया हो तो निम्न विधि करें-

शिष्य- खमासमण देकर कहें- **इच्छा. संदि. भगवन्! आउत्तवाणय मेलावणियं मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु- **पडिलेहेह।** शिष्य- **इच्छं** कहकर किसी वस्तु का स्पर्श नहीं करते हुए मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर शिष्य- खमासमण देकर कहें- **इच्छा. संदि. भगवन्! आउत्तवाणय मेलूं?** गुरु- **मेलो।** शिष्य- **इच्छं।** फिर शिष्य खमा. देकर कहे- **इच्छा. संदि. भगवन्! आउत्तवाणय मेलावणियं काउस्सग्ग करुं?** गुरु- **करेह।** शिष्य- **इच्छं, आउत्तवाणय मेलावणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ.** एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रगट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर एक खमासमण पूर्वक अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें। तदनन्तर शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! दांडी कालमांडला पडिलेहुं?**[25] गुरु- **पडिलेहेह।** शिष्य- **इच्छं।**

तदनन्तर शिष्य- खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! स्थंडिल पडिलेहुं?** गुरु- **पडिलेहेह।** शिष्य- **इच्छं** कहकर मल-मूत्र विसर्जन करने योग्य चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना करें। फिर योगवाहिनी साध्वी खमासमण देकर कहे- **इच्छा. संदि. भगवन्! दिशी प्रमार्जुं।** गुरु- **पमज्जेह।** पुन: शिष्य- खमासमण देकर कहे- **इच्छा. संदि. भगवन्! स्थंडिल शुद्धि करुं।** गुरु- **करेह।**

कालग्रहण विधि

आवश्यकनिर्युक्ति में काल दो प्रकार का बताया गया है- 1. व्याघातिक और 2. अव्याघातिक।[26]

व्याघात का शाब्दिक अर्थ है- बाधा युक्त काल। अव्याघात का अर्थ है- बाधा रहित काल।

व्याघातकाल- आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) के निर्देशानुसार यह व्याघात मुनियों के वसति स्थान में आने-जाने वालों के कोलाहल आदि कारणों से होता है।[27]

मेरी विचारणा के अनुसार यहाँ व्याघात काल का अर्थ संध्याकालीन समय से है, क्योंकि संध्या के समय अधिक कोलाहल रहता है और गमनागमन की प्रवृत्ति

विशेष रूप से होती है। प्राकृतिक विक्षोभ भी इस समय अधिक होते हैं जैसे– इन्द्रधनुष, विद्युत गर्जन, उल्कापात आदि। शरीरजन्य छींक, खांसी आदि का प्रकोप भी सामान्यतया व्याघात का कारण होता है। सम्भवत: इसी हेतु से कहा गया है कि लोगों के आने जाने से स्वाध्याय में व्याघात होता है। इस वर्णन से यह तथ्य भी उजागर हो जाता है कि जिस काल में स्वाध्याय-वाचना आदि का समय न हो, वही व्याघात काल है। शुभ कार्य के प्रारम्भ में छींक, कोलाहल, रूदन, विद्युत गर्जन आदि अमंगलकारी माने गये हैं वैसे ही आगम पाठ की वाचना ग्रहण करना भी एक शुभ कार्य है। अमंगलकारी स्थितियाँ प्राय: संध्याकाल में होती हैं, अत: व्याघातकाल को सन्ध्याकाल भी कहा जा सकता है।

विधिमार्गप्रपा में प्रादोषिक काल और व्याघातिक काल को समानार्थक बताया है। रात्रि का प्रथम प्रहर या सूर्यास्त के समय से लेकर एक प्रहर तक का रात्रिकाल प्रादोषिक नाम से कहा जाता है। जिस समय प्रादोषिक काल का प्रारम्भ होता है वह सन्ध्याकाल का उत्तरभाग या मध्यभाग हो सकता है। विधिमार्गप्रपा में यह भी उल्लिखित है कि प्रादोषिक काल में छींक, कलह आदि अनेक तरह के व्याघात होते हैं, इसलिए प्रादोषिक काल उपाश्रय में ग्रहण किया जाता है।[28] इस चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याघातिक काल का सम्बन्ध सन्ध्याकाल से है और इसे प्रादोषिक काल भी कहते हैं।

धर्मकथा आदि से व्याघात होने का अर्थ है– किसी गृहस्थ के लिए उस समय उपदेश, धर्मबोध आदि की प्रवृत्ति करने पर प्रतिक्रमणा आदि क्रियाओं में विलम्ब होने के रूप में व्याघात होता है।

व्याघात का पहला कारण स्वाध्याय हानि है और दूसरा मुनि वसति से सम्बन्धित है। अत: व्याघात काल उपाश्रय में ही ग्रहण किया जाता है।

अव्याघात काल– विधिमार्गप्रपा के मतानुसार अव्याघातिक काल मुनि वसति के मध्य में अथवा बाह्यभाग में ग्रहण किया जाता है। यदि यह काल वसति के मध्य भाग में ग्रहण किया जाए तो नियम से शोधक को, जो अनधिकृत लोगों के प्रवेश एवं कोलाहल को रोक सके नियुक्त करना चाहिए। यदि वसति के बाह्य भाग में ग्रहण किया जाए तो शोधक को नियुक्त करना आवश्यक नहीं है। उस समय स्थिति का आकलन कर शोधक को नियुक्त किया जा भी सकता है और नहीं भी।

यहाँ शोधक का अर्थ– दण्डधर है। दण्ड धारण करने वाला मुनि दांडीधर कहलाता है। स्वाध्यायप्रस्थापना, कालग्रहण, कालमंडल, कालप्रतिलेखना आदि क्रियाविधियों में कालग्राही एवं दण्डधर मुनि की मुख्य भूमिका होती है। क्योंकि जहाँ कालग्राही स्वाध्याय के समय का निर्धारण करता है, वहीं दण्डधर उनका सहयोगी बनकर व्याघात के कारणों का निरसन करता है। कालग्राही मुनि कालग्रहण सम्बन्धी क्रियाएँ जैसे– दिशावलोकन, कालशुद्धि प्रवेदन, कालशुद्धि पृच्छा आदि को सम्पन्न करता है। दांडीधर– कालग्रहण के अतिरिक्त अन्य क्रियानुष्ठानों को भी पूर्ण करता है जैसे– दंडीधर की स्थापना करना, दंडीधर सुरक्षित रखना, कालग्राही के निर्देशों का पालन करना, स्वाध्याय में व्याघात उत्पन्न करने वाले कारणों का निरसन करना आदि।

इस तरह व्याघातकाल उपाश्रय के भीतर ग्रहण किया जाता है और अव्याघात काल उपाश्रय के मध्य भाग अथवा बाह्य भाग में लिया जाता है। कालशुद्धि की अपेक्षा शोधक की नियुक्ति वैकल्पिक है तथा व्याघात काल के समय शोधक की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है।

व्याघातिक काल ग्रहण करते समय शोधक के अनिवार्य के न होने का यह कारण माना गया है कि वह उपाश्रय के अन्तरंग भाग में लिया जाता है जहाँ छींक, कलह आदि के व्याघात न सुनाई दें और न दिखाई। यदि शोधक को स्थापित कर भी दिया जाए तो कालशुद्धि की दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि आभ्यन्तर भाग में सजगता रखने पर भी कुछ सुनाई या दिखाई नहीं दे सकता है। यदि उसे मध्य या बाह्य भाग में स्थित किया जाए तो व्याघात की बहुलता के कारण वह काल कभी भी शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकेगा, अत: शोधक की उपस्थिति का निर्देश नहीं किया है।

उपाश्रय के मध्यभाग में शोधक की नियुक्ति इसलिए अनिवार्य मानी गई है कि अव्याघात काल के उपरान्त भी कभी कोई छींक-कलह आदि सुनाई पड़ जाए तो शोधक द्वारा कालहत एवं काल शुद्धि का परिज्ञान किया जा सकता है तथा बाह्य शुभाशुभ स्थिति से परिचित होने के लिए एक सजग, कुशल मुनि की आवश्यकता भी अपरिहार्य है।

उपाश्रय के बाह्य भाग में शोधक की नियुक्ति का वैकल्पिक नियम शारीरिक एवं प्राकृतिक शुभाशुभ स्थिति पर आधारित है। मुख्यत: शोधक का कार्य चारों दिशाओं को शुद्ध रूप से ग्रहण करना है।

काल के प्रकार

जैन व्याख्याकारों ने काल के चार प्रकार बतलाए हैं– 1. प्रादोषिक 2. अर्द्धरात्रिक 3. वैरात्रिक और 4. प्राभातिक।[29]

प्रादोषिक– सूर्यास्त से लेकर रात्रि के प्रथम प्रहर का समय। इसे व्याघातिक काल भी कहते हैं।

अर्द्धरात्रिक– अर्द्धरात्रि का समय।

वैरात्रिक– रात्रि के तृतीय प्रहर का समय।

प्राभातिक– प्रात:काल का समय।

कौनसा काल किस समय ग्रहण करें?

विधिमार्गप्रपा के अनुसार प्रादोषिक काल सन्ध्याकाल के समय ग्रहण किया जाता है। उस समय छींक, कोलाहल आदि अनेक व्याघात होने से इसे मुनियों के स्थान में ग्रहण करते हैं।

अर्द्धरात्रिक काल अर्द्धरात्रि के पश्चात ग्रहण किया जाता है। वैरात्रिक और प्राभातिक काल रात्रि के चतुर्थ प्रहर में ग्रहण किए जाते हैं।[30]

यहाँ कालग्रहण का तात्पर्य दिन और रात्रि के शास्त्रनियुक्त चार प्रहर में वाचना-पृच्छनादि रूप स्वाध्याय करने के लिए चार काल (समय) को शुद्ध रूप से ग्रहण करना है, क्योंकि काल आदि के उपचार से विद्या सिद्ध होती है।

कौनसा काल किन दिशाओं में ग्रहण करें?

आगमिक व्याख्याओं के अभिमतानुसार प्रादोषिक और अर्द्धरात्रिक कालग्रहण उत्तरदिशा की ओर मुख करके लिया जाना चाहिए। वैरात्रिक कालग्रहण वैकल्पिक है। यह काल पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके ग्रहण करना चाहिए। प्राभातिक कालग्रहण पूर्वाभिमुख स्थित होकर लिया जाना चाहिए।[31]

किस काल को कितनी बार ग्रहण करें?

कौनसा काल कितनी बार ग्रहण किया जा सकता है? इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो विधिमार्गप्रपा के मतानुसार प्रादोषिक काल दिन में एक बार ही ग्रहण किया जाता है। यदि एक बार में शुद्ध रूप से ग्रहण न किया जाए तो वह काल नष्ट हो जाता है अर्थात फिर उस काल में आगम का नया पाठ ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

अर्द्धरात्रिक काल एक बार में शुद्ध रूप से ग्रहण न हो तो दो-तीन बार ग्रहण किया जा सकता है। इसके उपरान्त भी शुद्ध रूप से ग्रहण न हो तो वह दूषित हो जाता है। वैरात्रिक काल चार–पाँच बार ग्रहण किया जा सकता है तथा प्राभातिक काल नौ बार तक ग्रहण किया जा सकता है।[32]

आचार्य जिनप्रभसूरि ने प्राभातिक काल नौ बार ग्रहण करने के पीछे यह हेतु दिया है कि इस काल के अशुद्ध होने पर योगवाही मुनि द्वारा इससे पूर्व की रात्रि में जितने काल ग्रहण किए गए हैं वे सभी नष्ट हो जाते हैं यानी गणना में नहीं रहते तथा जितने काल नष्ट हो जाते हैं योगोद्वहन में उतने दिन गिर जाते हैं। सामान्यतया भगवतीसूत्र को छोड़कर शेष सूत्रों के योग में जितने दिन लगते हैं, उतने ही कालग्रहण होते हैं। योग दिनों में प्रतिदिन दो-तीन या चार कालग्रहण लेकर निर्धारित संख्या को निश्चित दिनों से पहले भी पूर्ण भी कर सकते हैं किन्तु दिन की गणना क्रमशः ही होगी।

कालचतुष्क सम्बन्धी स्वाध्याय नियम

विशिष्ट पद्धति पूर्वक आगम शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए चार काल ग्रहण किए जाते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि अर्द्धरात्रि की विकाल वेला में कौनसा स्वाध्याय किया जा सकता है? जैनाचार्यों ने इसका समाधान देते हुए कहा है कि प्रादोषिक काल में सभी साधु प्रथम पौरुषी (लगभग रात्रि के 9 बजे) तक स्वाध्याय करते हैं। रात्रि के द्वितीय प्रहर में सामान्य अध्येता साधु सो जाते हैं, किन्तु वृषभ (ज्येष्ठ) साधु जागते हैं। वे उस समय प्रज्ञापना आदि सूत्र का परावर्तन करते हैं। रात्रि के तीसरे प्रहर में गुरु भी प्रज्ञापना आदि का पुनरावर्तन करते हैं। चतुर्थ पौरुषी में सभी जागृत होकर कालिक श्रुत का परावर्तन करते हैं और गुरु सो जाते हैं।[33]

प्रादोषिक आदि चारों कालों में उक्त रीति से स्वाध्याय का क्रम चलता रहता है। प्रथम और अन्तिम काल स्वाध्याय के रूप में प्रतिस्थापित होने से इस समय सभी साधुजन स्वाध्याय करते हैं, शेष दूसरा और तीसरा काल भयावह और असामान्य होने से गुरु एवं ज्येष्ठ साधु ही स्वाध्याय करते हैं, सभी नहीं।

कालग्रहण के अपवाद

जैन व्याख्याकारों ने कालग्रहण के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा है– मुनियों को उत्कृष्ट से चारों काल ग्रहण करने चाहिए तथा जघन्य

से तीन काल ग्रहण करने चाहिए। अपवादत: दो काल या एक काल भी ग्रहण कर सकते हैं। यहाँ काल से तात्पर्य रात्रिक स्वाध्याय काल से है।

प्रादोषिक, अर्द्धरात्रिक, वैरात्रिक एवं प्राभातिक– ऐसे चार काल होते हैं। इनमें प्रत्येक काल एक प्रहर अर्थात लगभग तीन घण्टे का होता है। सामान्यत: तीन कालों का शुद्ध ग्रहण इस प्रकार संभव है– प्रादोषिक काल को ग्रहण कर सूत्रों का अध्ययन किया। उसके बाद अर्द्धरात्रिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण कर स्वाध्याय किया। फिर वैरात्रिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं हुआ तो स्वाध्याय नहीं करें। उसके बाद प्राभातिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण हुआ हो तो स्वाध्याय करें। इस प्रकार वैरात्रिक को छोड़कर शेष तीन काल शुद्ध रूप से ग्रहण किए जाते हैं अथवा प्रथम प्रादोषिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण हुआ हो और द्वितीय अर्द्धरात्रिक काल अशुद्ध हो गया हो तथा शेष वैरात्रिक एवं प्राभातिक शुद्ध रूप से ग्राह्य बने हों, तो इस तरह भी तीन काल ग्रहण होते हैं। अपवादत: दो काल और एक काल इस प्रकार युक्त है– प्रादोषिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण हुआ हो तो उसमें स्वाध्याय किया, फिर अर्द्धरात्रिक काल भी शुद्ध रूप से ग्रहण हुआ हो तो उसमें स्वाध्याय करें। तदनन्तर वैरात्रिक और प्राभातिक शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं हुए हों तो उस स्थिति में दो काल ही शुद्ध होते हैं।

कालग्रहण के निम्न विकल्प भी हैं और उनमें किसी भी भाग में प्राभातिक कालग्रहण हो तो वह शुद्ध होना जरूरी है जैसे–

चार में–	प्राभातिक	+	प्रादोषिक	+ वैरात्रिक	+ अर्धरात्रिक
तीन में–	प्राभातिक	+	प्रादोषिक	+ वैरात्रिक	
	प्राभातिक	+	प्रादोषिक	+ अर्धरात्रिक	
	प्राभातिक	+	अर्धरात्रिक	+ वैरात्रिक	
दो में–	प्राभातिक	+	प्रादोषिक		
	प्राभातिक	+	अर्धरात्रिक		
	प्राभातिक	+	वैरात्रिक		
एक में–	प्राभातिक।				

इससे स्पष्ट है कि प्राभातिक काल सभी में जरूरी है। सामाचारी नियम के अनुसार प्रभातिक काल शुद्ध रूप से ग्रहण किया जाए तो ही बाकी के तीनों, दोनों, एक भी शुद्ध गिने जाएंगे। प्राभातिक अशुद्ध हो तो बाकी के तीनों, दोनों, एक भी अशुद्ध गिने जाएंगे।

प्राभातिक शुद्ध आया हो और बाकी के भी शुद्ध आए हों तो शुद्ध गिने जाएंगे। यदि प्राभातिक शुद्ध आए पर बाकी के अशुद्ध आए तो केवल प्राभातिक ही शुद्धि गिना जाएगा, बाकी के अशुद्ध ही गिने जाएंगे। इस तरह कालग्रहण के आपवादिक नियम मननीय हैं।[34]

कालग्रहण सम्बन्धी सूचनाएँ

- अंगबाह्य कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों के योगोद्वहन (अध्ययन काल) में कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापना, संघट्टा, आउत्तवाणय आदि क्रियाएँ अनिवार्य रूप से होती हैं।
- कालिक ग्रन्थों के उद्देशक आदि के अध्ययन में कालग्रहण से लेकर श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक आदि की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि अंगप्रविष्ट शास्त्रों के समान होती है। कालिक सूत्रों के योगवहन काल में प्रवर्त्तमान सूत्रों के नाम पूर्वक मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन, द्वादशावर्त्तवंदन, खमासमण एवं कायोत्सर्ग करने चाहिए।
- उत्कालिक आगमसूत्रों के योगवहन में पूर्वविधि के अनुसार ही उद्देश आदि पाठ पढ़ने चाहिए।
- जो योगवाही संध्याकाल में अथवा अर्द्धरात्रि में कालग्रहण करते हैं उनके लिए संघट्टा विधि और प्रत्याख्यान विधि नहीं होती है।[35]
- विधिमार्गप्रपा के अनुसार अंगसूत्र (आचारांग आदि ग्यारह अंग) एवं श्रुतस्कन्ध के उद्देश और अनुज्ञा में नन्दी होती है।[36]
- अंगसूत्र और श्रुतस्कन्ध के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के दिन आयंबिल करना चाहिए। अन्य छेद आदि एवं प्रकीर्णक आदि सूत्रों के अध्ययन-वर्गादि के उद्देश-समुद्देशादि दिनों में नीवि तप किया जाता है। यह नियम भगवतीसूत्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र और महानिशीथसूत्र– इन तीन सूत्रों को छोड़कर शेष सूत्रों के योगकाल में जानना चाहिए।
- कतिपय आचार्यों एवं सामाचारियों के अनुसार एक नीवि, एक आयंबिल फिर एक नीवि, एक आयंबिल– इस क्रमपूर्वक तप करते हैं। आचार्य वर्धमानसूरि ने योग तप का यही क्रम दिखलाया है।
- आचार दिनकर के अनुसार योगवहन काल में क्रमशः छह महीने तक प्रतिदिन कालग्रहण लिये जाते हैं। इसके पश्चात अन्य सूत्रों के योग में कालग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती है।[37]

• आषाढ़ पूर्णिमा के समय से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक गणियोग (भगवतीसूत्र) को छोड़कर शेष सभी योग पूर्ण हो जाने चाहिए, क्योंकि चातुर्मास काल के अतिरिक्त शेष आठ मास में मेघ, विद्युत आदि की संभावना होने से कालग्रहण में विघ्न होते हैं यानी विद्युत गर्जना आदि से कालग्रहण दूषित हो जाता है।

• भगवती सूत्र के योग इस प्रकार के समय का ध्यान रखते हुए प्रारम्भ करना चाहिए कि वह आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा के मध्य पूर्ण हो जाए। इसमें भी चैत्र शुक्ला पंचमी से लेकर वैशाख कृष्णा प्रतिपदा तक और चातुर्मासकाल में आसोज शुक्ला पंचमी से लेकर कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा तक बारह दिन किसी भी आगम सूत्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन दिनों सभी जगह कुल देवताओं की पूजा के लिए प्राणियों का वध होने से महान अस्वाध्यायकाल रहता है।

• सामान्यतया श्रावण, भाद्रपद एवं अर्द्धआश्विन (श्राद्धपक्ष की अमावस्या) तक अध्ययन सम्बन्धी सभी कालग्रहण पूर्ण कर लेना चाहिए। उसके पश्चात आश्विन शुक्ला पक्ष को छोड़कर आवश्यक हो तो पुन: कार्तिक मास में कालग्रहण लेना चाहिए।

• व्याघातिक (संध्याकाल), अर्द्धरात्रिक (अर्द्धरात्रि) और वैरात्रिक (अर्द्धरात्रि के बाद)– ये तीनों काल प्राभातिक कालग्रहण के अनुसार ही लिए जाते हैं। विशेषत: जिस काल का ग्रहण किया जा रहा हो, उसका नाम उच्चारित करें। दूसरा प्रभातिक कालग्रहण प्रात:काल में वसति प्रवेदन के पश्चात प्रवेदित किया जाता है, जबकि शेष तीनों कालग्रहण तत्सम्बन्धी क्रिया करने के पश्चात प्रवेदित किये जाते हैं।

• रात्रि के प्रथम प्रहर को व्याघातिक काल, रात्रि के द्वितीय प्रहर को अर्द्धरात्रिक काल और रात्रि के तृतीय प्रहर को वैरात्रिक और रात्रि के चतुर्थ प्रहर को प्राभातिक काल कहते हैं। ये चारों काल अपने-अपने समय ग्रहण किए जाते हैं। प्राभातिकाल का ग्रहण रात्रि की दो घड़ी शेष रहने पर करते हैं। इस प्रकार चारों कालग्रहण रात्रि में ही लिये जाते हैं।

• आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार व्याघातिक एवं अर्द्धरात्रिक कालग्रहण के समय स्थापनाचार्य दक्षिण दिशा में, वैरात्रिक कालग्रहण के समय पश्चिम या दक्षिण दिशा में एवं प्राभातिक कालग्रहण के समय पश्चिम दिशा में रखें।

• प्रभातकाल में बिल्ली के रास्ता काटने, छींक के आने आदि से कालवध की विशेष सम्भावना रहती है। अत: व्याघात होने पर उसे नौ बार तक ग्रहण करने का विधान है।[38]

• प्राभातिक काल का प्रतिक्रमण अपराह्न में वस्त्रादि की प्रतिलेखना, स्वाध्याय की प्रस्थापना, दो बार कालमंडल आदि की प्रतिलेखना, द्वादशावर्त्त पूर्वक दिवसचरिम प्रत्याख्यान और स्वाध्याय में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करने के पश्चात करें।

यदि आकाश मेघ आदि से आच्छन्न हो और वर्षावास के सिवाय शेष आठ महीनों में विद्युत गर्जन आदि का भय हो तो उद्देशादि की क्रिया करने के बाद स्वाध्याय प्रस्थापना, कालमंडल क्रिया एवं स्वाध्याय का प्रतिक्रमण करके दिन के पौन प्रहर के मध्य ही इस काल को पूर्ण कर लेते हैं।

• प्रादोषिक, वैरात्रिक एवं अर्द्धरात्रिक ये तीनों काल नियमत: उद्देश आदि की क्रिया करने के बाद ही विसर्जित कर दिए जाते हैं।

• प्राभातिक प्रतिक्रमण का आशय यह है कि जब तक प्राभातिक काल सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण नहीं किया जाए तब तक उस अवधि के मध्य विद्युत गर्जना आदि हो जाए तो काल का नाश हो जाता है। अत: द्रव्यादि की शुद्धता को ध्यान में रखते हुए शुद्ध काल में प्राभातिक काल का प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए। इस काल ग्रहण का समय शेष कालों की अपेक्षा अधिक है।

काल नाश के कारण

पूर्वाचार्यों के मतानुसार काल भंग होने पर स्वाध्याय में अवरोध उत्पन्न होता है तथा अध्ययन हेतु ग्रहण किए गए शुद्ध काल सर्वत: नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में नया कालग्रहण लेकर स्वाध्याय प्रस्थापना करते हैं। व्यवहारभाष्य में कालनाश के निम्न कारण बतलाये गये हैं–[39]

• कालग्राही अथवा दंडधर के द्वारा चारों कालों को ग्रहण करते समय ईर्यापथ प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ विस्मृत हो जायें, स्खलना हो जायें, सूत्रोच्चारण करते हुए अक्षर छूट जायें तो काल नष्ट हो जाता है।

• कालग्रहण करते समय इन्द्रियजन्य प्रवृत्ति अनियन्त्रित हों, दिशाएँ विपरीत हों, तारे गिर रहे हों, अकालिक वर्षा हो रही हो, तो कालवध होता है।

• योगवाही के द्वारा द्वादशावर्त्त वंदन करते हुए यदि आवर्त्त आदि

विपरीत क्रम से हो जायें अथवा गुरु को व्युत्क्रम से वंदन किया जाये तो कालनाश होता है।

• यदि कालग्रहण से सम्बन्धित आवश्यक क्रिया करते हुए स्खलना हो जाये, कालमंडल से बाहर आते हुए छींक आ जाये या दीपक के प्रकाश का स्पर्श हो जाये तो काल का व्याघात होता है।

• यदि दिशावलोकन करते हुए कालप्रेक्षक मुनि के द्वारा कपिहसित (बन्दर के हँसने की आवाज) या गर्जना सुन ली जाए अथवा विद्युत, उल्का या कनक गिरते हुए देख लिया जाए तो कालवध होता है।

• काल ग्रहण करते हुए दंडधर के ऊपर पानी की बूँदें गिर जाए, कोई छींक दें, भाव अन्य रूप परिणत हो जाए, विभीषिका को देखकर भयभीत हो जाए, रोमांचित हो जाए, इन स्थितियों में काल शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं होता है। दिशाओं का अवलोकन करते हुए चित्त भ्रमित हो जाये अथवा शंकास्पद स्थिति पैदा हो जाये कि काल शुद्ध है या अशुद्ध? तो काल का उपघात होता है।

• दिशावलोकन करते हुए मन अन्यत्र संक्रान्त हो जाये, इन्द्रिय विषय उच्छृंखल हो जाये तथा असजगता पैदा हो जाये तो काल नाश होता है।

• यदि उत्तरदिशा का निरीक्षण किये बिना शेष दिशाओं को पहले ग्रहण कर लें तो काल नष्ट हो जाता है। जघन्यत: तीन ताराओं के न दिखने पर भी कालग्रहण कर लें तो काल नष्ट होता है।

• यदि निश्चित नक्षत्र या वर्षावास के अतिरिक्त वर्षा गिर रही हो, अथवा उल्कापात, रजपात, उदकनिपात आदि हो रहा हो, तो इन स्थितियों में कालशुद्ध नहीं होता है।

• कालमंडल भूमि में प्रवेश करते समय 'निसीहि निसीहि निसीहि नमो खमासमणाणं' न बोलने पर, किसी तरह की स्खलना हो जाने पर, कालमंडलभूमि का प्रमार्जन न करने पर अथवा मार्जार आदि के द्वारा मार्ग को काट देने पर भी कालवध होता है।

विशेष– कालवध, कालघात, कालउपघात, कालहत, कालनाश, कालभंग आदि समानार्थक शब्द हैं। यहाँ कालनाश के जो कारण बताए गए हैं वे चारों काल से सम्बन्धित हैं। चारों काल ग्रहण करते हुए उपर्युक्त कारणों में से किसी तरह का कारण उपस्थित हो जाये तो वह काल नष्ट हो जाता है।

कालनाश से तात्पर्य यह है कि उस काल में नया पाठ अधिगृहीत नहीं किया जा सकता है। पुन: दूसरा कालग्रहण करके स्वाध्याय विधि कर सकते हैं।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार कालग्रहण सम्बन्धी क्रिया हेतु गमन करते हुए, काल सम्बन्धी कायोत्सर्ग करते हुए, कृतिकर्म करने के पश्चात अथवा संदिसावण और प्रवेदन सम्बन्धी आदेश लेते हुए छींक आ जाये तब भी कालनाश होता है।[40]

जीतव्यवहार के अनुसार कालनाश के निम्न कारण भी माने गये हैं– 1. पाटली स्थापित करते हुए 2. खमासमण देते हुए 3. 'प्रतिग्रहण करूँ' ऐसा आदेश लेते हुए, 4. आवश्यक क्रियाओं की अनुमति लेते हुए 5. काल ग्रहण करते हुए 6. काल प्रवेदन करते हुए 7. दांडी लेते हुए 8. दांडी रखते हुए 9. काल मंडल की प्रतिलेखना करते हुए 10. गृहीतकाल की स्थापना करते हुए 11. कायोत्सर्ग करते हुए 12. कायोत्सर्ग पूर्ण करते हुए 13. दशवैकालिक सूत्र की 17 गाथा बोलते हुए 14. काल का प्रतिक्रमण करते हुए 15. काल मंडल में आते-जाते हुए 16. कालमंडल करते हुए– इन स्थानों पर छींक हो जाये या रूदन स्वर सुनाई पड़ जाये तो कालग्रहण नष्ट हो जाता है। यदि चार कायोत्सर्ग के समय रूदित स्वर सुनाई दे जाये तो उतने समय रुक जाना चाहिए। यदि उस समय तक आधे अक्षर का उच्चारण भी नहीं हुआ हो तो काल भंग नहीं होता है तथा रूदित स्वर सुनना बंध हो जाये, उसके पश्चात ही अग्रिम विधि करनी चाहिए।

कालग्राही से किसी व्यक्ति या वस्तु का स्पर्श हो जाए, पाटली से कोई वस्तु छू जाये, हाथ से दांडी गिर जाए, कालग्राही–दंडधर में से किसी एक का रजोहरण और मुखवस्त्रिका गिर जाए, सूत्रपाठ न्यूनाधिक बोला जाए तो इन स्थितियों में भी काल ग्रहण का नाश होता है।[41]

प्राभातिक काल नाश के कारण

गीतार्थ परम्परा के अनुसार प्राभातिक कालग्रहण अधिकतम नौ बार लिया जा सकता है। यदि नौंवी बार भी यह काल शुद्ध रूप से ग्रहण न हो, तो उसे दसवीं बार ग्रहण नहीं किया जा सकता है। विधिमार्गप्रपा में प्राभातिक कालनाश के निम्न कारण निरूपित हैं–

1. प्राभातिक काल को विधिपूर्वक ग्रहण करते समय 'संदिसावण' का

आदेश लेने से पूर्व ही छींक आ जाए, कलह हो जाये या अन्य किसी प्रकार का दोष लग जाए तो काल का नाश होता है। तब पुनः से कालग्रहण की क्रिया करनी चाहिए।

2. 'संदिसावण' का आदेश लेने के बाद, कालमंडल में गमन करते समय अथवा कालमंडल की प्रतिलेखना करने से पूर्व किसी प्रकार का दोष लगता है तो काल नाश होता है। तब कालग्राही को प्रारम्भ से ही कालग्रहण की विधि करनी चाहिए।
3. कालमंडल की प्रतिलेखना एवं कालग्रहण निमित्त कायोत्सर्ग करने के पश्चात कालमंडल से बाहर आते हुए अथवा प्रवेदन करते हुए किसी प्रकार का दोष लगता है तो कालनाश होता है। तब कालग्राही को कालमंडल की सभी क्रियाएँ पुनः करनी चाहिए।
4. एक काल मंडल में अधिकतम तीन बार प्राभातिक काल ग्रहण किया जा सकता है। यदि चौथी या इससे अधिक बार कालग्रहण करना हो तो दूसरे कालमंडल में जाकर यह काल ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार तीनों काल मंडलों में तीन-तीन बार ऐसे कुल नौ बार प्राभातिक काल ग्रहण किया जा सकता है। तदुपरान्त काल के शुद्ध न होने पर दसवीं या ग्यारहवीं बार इसे ग्रहण नहीं कर सकते हैं फिर वह काल निश्चित रूप से नष्ट हो जाता है। अपवादतः एक कालमंडल में भी नौ बार काल ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु इससे अधिक कालग्रहण करना किसी दृष्टि से उचित नहीं है।[42]

कहने का आशय यह है कि उक्त स्थितियों में प्राभातिक काल का नाश होने पर उसे पुनः पुनः नौ बार तक लिया जा सकता है तथा उत्सर्गतः एक कालमंडल में तीन बार कालग्रहण विधि की जा सकती है। अपवादतः एक काल मंडल में नौ बार भी प्राभातिक कालग्रहण लिया जा सकता है, इससे अधिक नहीं।

काल मंडल नाश के कारण

जीतव्यवहार में कालमंडल दूषित होने के निम्न कारण बताए गए हैं– 1. पाटली की स्थापना करते हुए 2. खमासमण देते हुए 3. दंडीधर ग्रहण करते हुए 4. दंडीधर की प्रतिलेखना करते हुए 5. दंडीधर को पार्श्व में रखते हुए

6. दंडीधर को अपने स्थान पर रखते हुए 7. दंडीधर की स्थापना करते हुए 8.काल सम्बन्धी प्रतिक्रमण करते हुए 9. रजोहरण या मुखवस्त्रिका अविधिपूर्वक ग्रहण की जाए 10 अशुद्ध उच्चारण किया जाए 11. पाटली खण्डित हो जाए तो कालमंडल दूषित हो जाता है। ऐसी स्थिति में दुबारा कालमंडल विधि करनी चाहिए।

यहाँ पाटली खण्डित होने का अर्थ है– डंडी की पाटली के ऊपर स्थापना करते समय किसी तरह की भूल हो जाना। ऐसी स्थिति में बारह नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर फिर से डंडी की स्थापना करें और स्वाध्यायकाल का प्रतिक्रमण करें।[43]

कालग्राही एवं दांडीधर की विधि

कालग्रहण करते समय कालग्राही और दांडीधर– इन दो मुनियों की विशेष भूमिका होती हैं। नियमत: ये दोनों मुनि ही कालग्रहण की सम्पूर्ण विधि सम्पन्न करते हैं। यहाँ प्राभातिक कालग्रहण की अपेक्षा काल विधि प्रस्तुत करेंगे। विधिमार्गप्रपा के अनुसार प्राभातिक कालग्रहण करते समय कालग्राही एवं दांडीधर निम्न विधि करते हैं–

कालग्राही एवं दंडधर– सर्वप्रथम प्राभातिक काल ग्रहण करने के लिए कालग्राही पश्चिम दिशा की ओर स्थापनाचार्य को स्थापित करें और दंडीधर को स्थापनाचार्य के समीप में रखें। • उसके बाद स्वयं के बायीं तरफ में स्थित दंडीधर के साथ कालमंडल (सीमा क्षेत्र) में खड़े होकर एक नमस्कार मन्त्र बोलें। • तत्पश्चात कालग्राही एवं दंडीधर दोनों 'आवस्सही' शब्द बोलते हुए कालमंडल से बाहर निकलें और **'असज्ज-असज्ज-असज्ज, निसीहि-निसीहि-निसीहि नमो खमासमणाणं–** अर्थात किसी के प्रति आसक्त न होते हुए और समस्त पापकारी प्रवृत्तियों का निषेध करके क्षमाश्रमणों को नमस्कार करता हूँ। इतना बोलकर स्थापनाचार्य मंडल (जहाँ स्थापनाचार्य रखे हुए हैं) में प्रवेश करें। • वहाँ स्थापनाचार्य के सम्मुख एक खमासमण देकर बोलें– **इच्छाकारेण संदिसह पाभाइउ कालु पडियरहं., इच्छं मत्थएण वंदामि** (हे भगवन्! आप स्वेच्छा से प्राभातिक काल ग्रहण करने की आज्ञा दीजिए) इतना कहकर **'आवस्सही'** शब्द पूर्वक स्थापनाचार्य मंडल से बाहर निकलकर **'असज्ज 3 निसीहि 3 नमो खमासमणाणं'** बोलते हुए कालमंडल के समीप खड़े हो जायें।

दंडीधर– तदनन्तर दंडीधर कालमंडल के अन्त में खड़े होकर दिशाओं का अवलोकन करें। • फिर **'आवस्सही'** शब्द कहते हुए कालमंडल से बाहर आयें और **'असज्ज 3 निसीहि 3 नमो खमासमणाणं'** बोलते हुए स्थापनाचार्य मंडल में आकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। गमनागमन की आलोचना करते हुए एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रगट रूप से नमस्कार मन्त्र बोलें। • उसके बाद मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर स्थापनाचार्य को द्वादशावर्त्त वन्दन करें। • फिर दंडधर एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छाकारेण पाभाइयकालवेला वट्टइ, साहुणो उवउत्ता होह'–** हे भगवन्! प्राभातिक काल का समय प्रवर्त्तमान है, योगवाही साधुजन अप्रमत्त हो जाएं, ऐसी अनुमति दें। • इसके बाद स्थापनाचार्य के समीप रखे गए दंड को ग्रहण करें और **'आवस्सही'** शब्द कहते हुए स्थापनाचार्य मंडल से बाहर निकलें और पूर्ववत **'असज्जन-3 निसीहि-3 नमो खमासमणाणं'** बोलते हुए कालमंडल में प्रवेश कर कालग्राही के समीप आकर पश्चिम दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो जायें।

कालग्राही– उसके पश्चात कालग्राही **'आवस्सही'** शब्द पूर्वक कालमंडल से बाहर निकलें और **'असज्ज-3 निसीहि-3 नमो खमासमणाणं'** बोलते हुए स्थापनाचार्य मंडल में जाकर गमनागमन क्रिया के दोषों की आलोचना के लिए ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। • फिर कालग्राही मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें। • फिर एक खमासमण देकर कहें– **पाभाइउ कालु संदिसावहं–** प्राभातिक काल ग्रहण करने निमित्त आपकी आज्ञा स्वीकार करते हैं। पुन: एक खमासमण देकर कहें– **पाभाइउ कालु लेहं–** आपकी आज्ञापूर्वक प्राभातिक-काल ग्रहण करते हैं। • उसके पश्चात जितना शुद्ध हो उतना मौनपूर्वक **'आवस्सही'** शब्द कहते हुए स्थापनाचार्य मंडल से बाहर निकलें और **'असज्ज-3 निसीहि-3 नमो खमासमणाणं'** बोलते हुए कालमंडल में प्रवेश करें।

कालग्राही एवं दंडधर– कालग्राही के कालमंडल में आ जाने पर दंडधर हाथ में रहे दंड को कालग्राही के सम्मुख स्थापित करें। उसके पश्चात कालग्राही उस दंड के समक्ष सीधे खड़े होकर गमनागमन क्रिया के दोषों की आलोचना निमित्त ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें, एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें, फिर

पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र बोलें। • तदनन्तर संडाशक (कटिभाग से नीचे के 17 स्थानों) की प्रमार्जना कर उकडु आसन में बैठ जायें। फिर अस्खलित विधिपूर्वक तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें और रजोहरण द्वारा तीन बार कालमंडल की प्रतिलेखना करें।

यहाँ कालमंडल की प्रतिलेखना करते समय हाथ परावर्त्तन आदि की विधि गुरुमुख से सीखनी चाहिए, इन विधियों को लिखकर पूर्ण नहीं किया जा सकता है। • तत्पश्चात कालग्राही नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर दंडी को दंडधर के हाथ में समर्पित करें।

कालग्राही– फिर दोनों हाथों से कालमण्डल को स्पर्श करते हुए एवं उन्हें पैरों से संयोजित कर **'निसीहि नमो खमासमणाणं'** इतना बोलते हुए कालमंडल में प्रवेश करें। फिर कालमंडल की परिष्कृत भूमि पर चोलपट्ट का प्रतिलेखन करें। फिर सीधे खड़े होकर कहें– **'उवउत्ता होह'–** सभी योगवाही अप्रमत्त हों। • फिर दंडधर द्वारा गृहीत दंड के सम्मुख खड़े होकर **'पाभाइयकाल लियावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक **अन्नत्थ सूत्र'** बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें, कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र बोलें। • उसके बाद रजोहरण सहित दोनों भुजाओं को धीरे से आकुञ्चित (संयोजित) कर एवं मुखवस्त्रिका को मुख के आगे लगाकर दोनों हाथों को जोड़े हुए चतुर्विंशतिस्तव बोलें। फिर कालग्राही पूर्व दिशा की ओर मुख करके स्वाध्याय के रूप में दशवैकालिकसूत्र का द्रुमपुष्पिका नामक प्रथम अध्ययन की पाँच गाथाएँ, श्रामण्यपूर्विका नामक द्वितीय अध्ययन की ग्यारह गाथाएँ और क्षुल्लकाचार नामक तृतीय अध्ययन की एक गाथा कुल 17 गाथाओं का मन-वचन-काया की एकाग्रता पूर्वक स्मरण करें। यहाँ इतना विशेष है कि अध्ययन का समाप्ति सूचक आलापक 'त्तिबेमि' शब्द का उच्चारण न करें, क्योंकि परम्परागत सामाचारी के अनुसार इस शब्द का उच्चारण करने पर कालग्रहण नष्ट हो जाता है।

• तदनन्तर अनुक्रमशः दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशा की ओर मुख करके भी पूर्ववत एक-एक नमस्कार मंत्र का कायोत्सर्ग करें। लोगस्ससूत्र के पाठ पूर्वक दशवैकालिकसूत्र की 17-17 गाथाओं का चिन्तन करें। कालग्राही प्रत्येक दिशा में मुख करके जहाँ-जहाँ खड़ा होता हो दण्डधर के द्वारा पहले से ही उस जगह का प्रतिलेखन कर लिया जाए।

• इसके बाद पुनः पूर्व दिशा में मुख करके एवं संकुचित भुजाओं को फैलाकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र बोलें। • फिर **'मत्थएण वंदामि'** कहते हुए मस्तक झुकाकर **'आवस्सही असज्ज 3, निसीहि 3 नमो खमासमणाणं** का उच्चारण करते हुए स्थापनाचार्य मंडल में प्रवेश करें। वहाँ स्थापनाचार्य के समक्ष एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें, एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें, कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। • फिर कालग्राही एक खमासमण देकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें। पुनः एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छाकारेण संदिसह पाभाइउ काल पवेयहं इच्छकारि तपसियहु पाभाइउ कालु सूझइ–** हे भगवन्! आप स्वेच्छा से प्राभातिक काल सम्बन्धी प्रवेदन की आज्ञा दीजिए। आपकी इच्छापूर्वक सभी योगवाहियों के लिए प्राभातिक काल शुद्ध रूप से प्रवृत्त रहा है? तब सभी योगवाही कहें– **'सूझति'** हाँ शुद्ध है।

आचारदिनकर के मतानुसार यहाँ तक सम्पूर्ण क्रिया मौन पूर्वक होती है, इसके बाद ही दूसरों से बोला जाता है।

• तत्पश्चात कालग्राही एवं दंडधर दोनों ही स्थापनाचार्य के आगे घुटने के बल बैठकर दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन (5 गाथा) का स्वाध्याय करें। फिर कालग्राही द्वादशावर्त्तवन्दन करके कहें– **'इच्छकारि तपसियहु दिट्ठं सुयं?'–** आपकी अनुमति से पूछता हूँ कि तपस्वी योगवाही मुनियों द्वारा काल शुद्धि के सम्बन्ध में क्या कुछ देखा या सुना गया है? तब सभी योगवाही बोलें- **'न किंचि'–** इस सम्बन्ध में हम योगवाहियों द्वारा कुछ भी देखा या सुना नहीं गया है। यह प्राभातिक कालग्रहण की विधि है।[44]

तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में (कालग्राही एवं दांडीधर की अपेक्षा) प्राभातिक कालग्रहण की विधि इस प्रकार की जाती है–

नोतरा विधि के अनुसार कालग्राही मुनि ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। उसके बाद वसति शोधन से लेकर दांडीधर के द्वारा पाटली स्थापना करके 'सुद्धा वसही' कहा जाए वहाँ तक सम्पूर्ण विधि करें। फिर कालग्राही 'तहत्ति' कहें।

उसके बाद **दांडीधर–** नीचे बैठकर, दाएँ हाथ को सीधा रखकर एवं परमेष्ठी मंत्र का स्मरण कर दण्डी का उत्थापन करें, हाथ एवं दंडीधर का प्रमार्जन करें, अंगूठा और अंगुली के बीच में दंडी को स्थिर कर खड़ा रहें। फिर

खमा. **इच्छा. संदि. पाभाईकाल** (जो काल हो उसका नाम लेते हुए) **थापुं?**

कालग्राही– थापो

दांडीधर– इच्छं शब्द कहकर एक नमस्कार मन्त्र के स्मरण पूर्वक पाटली और एक नमस्कार मन्त्र के स्मरणपूर्वक हाथ में रही दंडीधर की स्थापना करके खड़ा हो जाए। उस समय ऊर्ध्वस्थित कालग्राही भी एक परमेष्ठीमन्त्र का स्मरण कर पाटली और दंडीधर की स्थापना करें। फिर कालग्राही और दांडीधर दोनों एक खमासमण दें।

कालग्राही– इच्छा. संदिसह, पाभाईकाल पडिअरुं? इच्छं कहकर कालग्राही एवं दांडीधर दोनों साथ-साथ **'मत्थएण वंदामि आवस्सई इच्छं' 'असज्ज 3 निसीहि'** ऐसा तीन बार बोलते हुए एवं भूमि की प्रमार्जना करते हुए पूर्व दिशा (कालमंडल) की ओर जाएं।[45] **'नमो खमासमणाणं'** कहकर कालग्राही पश्चिम दिशा सन्मुख खड़ा हो जाएं।

दांडीधर– 'मत्थएण वंदामि आवस्सई इच्छं' कहकर पश्चिम दिशा[46] की ओर भूमि का प्रमार्जन करते हुए तथा **'असज्ज 3 निसीहि'** शब्द को तीन बार कहते हुए पाटली के समीप आकर **'नमो खमासमणाणं'** कहें। खमा. **'इच्छा. संदि. पाभाईकाल वारवट्टे'** कहें। उस समय कालग्राही एवं सभी योगवाही **'वारवट्टे'** बोलें। फिर दांडीधर 'इच्छं– **मत्थएणं वंदामि आवस्सई इच्छं'** कहकर भूमि का प्रमार्जन करते हुए तथा **'असज्ज 3 निसीहि'** शब्द को तीन बार बोलते हुए कालग्राही के सम्मुख जायें। वहाँ **नमो खमासमणाणं** कह खड़े रहें।

कालग्राही– 'मत्थएण वंदामि आवस्सइ इच्छं' कहकर भूमि का प्रमार्जन करते हुए **'असज्ज 3 निसीहि'** वाक्य को तीन बार बोलते हुए पाटली के समीप जाएं और **'नमो खमासमणाणं'** कहें। फिर खमासमण, ईर्यापथ प्रतिक्रमण, एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग, पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र कहें।

फिर खमासमण, मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन, द्वादशावर्त्तवन्दन करें।[47] उसके बाद खमासमण, **इच्छा. संदि. भगवन्! पाभाईय काल संदिसाहुं? इच्छं।** पुनः खमा., **इच्छा. संदि. पाभाईय काल लेउं (जाव सुद्ध), इच्छं।**

फिर **मत्थएण वंदामि आवस्सइ इच्छं** कह भूमि का प्रमार्जन करते हुए **'असज्ज 3 निसीहि'** कहते हुए दांडीधर के सम्मुख आएं। वहाँ **'नमो**

खमासमणाणं' कहें। ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर पूर्व निर्दिष्ट विधि से कुल नौ बार कालमंडल करें।

दांडीधर– खड़ा होकर कहें **इच्छाकारि साहवो उवउत्ता होह, पाभाइयकाल वारवट्टे।** उस समय सभी कालग्राही **वारवट्टे** कहें। फिर दांडीधर, कालग्राही के सम्मुख दंडीधर को स्थिर करके रखें।

कालग्राही– 'पाभाइयकाल लियावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ सूत्र' पूर्वक एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। लोगस्ससूत्र बोलें। फिर पूर्ववत चारों दिशाओं में 17-17 गाथाओं का चिंतन करें। उस समय दांडीधर मुनि कालग्राही के साथ अन्य दिशा सन्मुख होकर खड़ा रहे। कायोत्सर्ग के समय कालग्राही की भुजाओं और सत्तरह गाथाएँ बोलते समय पैरों का प्रमार्जन करें।

कालग्राही चारों दिशाओं की क्रिया करके, पूर्व दिशा में खड़े होकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर कालग्राही और दांडीधर दोनों ही **'मत्थएण वंदामि आवस्सइ इच्छं'** कहकर भूमि का प्रमार्जन करते हुए **'असज्ज-3 निसीहि'** शब्द को तीन बार बोलते हुए पाटली के समीप जाएँ। वहाँ **'नमो खमासमणाणं'** कहें।

दांडीधर– खड़ा रहे।

कालग्राही– खमासमण पूर्वक ईर्यापथ प्रतिक्रमण, मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन एवं द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर **इच्छा. संदि. पाभाइय काल पवेउं? जाव सुद्धं इच्छं।** फिर खमा. **'इच्छकारि साहवो पाभाइय काल सुज्झे?'** दांडीधर एवं सभी योगवाही **'सुज्झे'** कहें।

कालग्राही– 'भगवन्! मु पाभाइयकालसुद्ध' कहे। फिर दोनों मुनि खमासमण दें।

कालग्राही– 'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करूँ? इच्छं' एक नवकार मन्त्र पूर्वक 'धम्मो मंगल' की पाँच गाथाएँ बोलें।

दांडीधर– खमा. **इच्छकारी साहवो दिट्ठं सुयं किंचि?** कालग्राही एवं सभी योगवाही **'न किंचि'** कहें।

दांडीधर– दंडीधर की प्रमार्जना कर उसे पाटली के ऊपर रखें। फिर दोनों मुनि एक खमासमण देकर 'मिच्छामि दुक्कडं' कहें। फिर एक नवकार गिनकर पाटली का उत्थापन करें।

समीक्षा– कालिक सूत्रों के योग कालग्रहण पूर्वक सम्पन्न किए जाते हैं। यहाँ कालग्रहण से तात्पर्य द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की शुद्धिपूर्वक आगम पाठों का पहली बार अध्ययन (स्वाध्याय) करना है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो सर्वप्रथम इस विधि का उल्लेख व्यवहारभाष्य में मिलता है। यहाँ इसका मौलिक एवं संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है।[48] इसके पश्चात यह विधि विक्रम की 12वीं-13वीं शती के प्रसिद्ध ग्रन्थ तिलकाचार्य सामाचारी।[49] प्राचीनसामाचारी,[50] सुबोधासामाचारी[51] में पढ़ने को मिलती है। इन रचनाओं में पूर्वकालीन ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए गुरु परम्परागत सामाचारी के अनुसार इस क्रियानुष्ठान का स्वरूप बतलाया गया है। इसके अनन्तर विधिमार्गप्रपा[52] आचारदिनकर आदि में कालग्रहण विधि अधिक विस्तार के साथ कही गई है।[53] वर्तमान परम्परा में कई दृष्टियों से इन दोनों ग्रन्थों का सर्वाधिक महत्त्व है। अत: यहाँ पर इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार कालग्रहण आदि की विधियाँ कही गई हैं। विक्रम की 16वीं शती के बाद इससे सम्बन्धित कोई प्रामाणिक ग्रन्थ देखने में नही आया है। केवल समुदाय या परम्परा विशेष की अपेक्षा संकलित-संपादित कृतियाँ उपलब्ध होती हैं।

यदि कालग्रहण विधि को लेकर तुलनात्मक शोध किया जाए तो निम्न विशेषताएँ उजागर होती हैं–

1. विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में कुछ आलापक पाठों को छोड़कर शेष सम्पूर्ण विधि में समानता है।
2. तपागच्छ आदि परवर्ती परम्पराओं में इस विधि का स्वरूप विधिप्रपादि से कुछ भिन्न है। संभवत: उक्त परम्परा के आचार्यों ने तिलकाचार्य सामाचारी और सुबोधासामाचारी के आधार पर इस विधि का अपनी परम्परा में प्रवर्तन किया है।
3. तपागच्छ आदि परम्पराओं में इस विधि को खुले स्थापनाचार्य के समक्ष करने का विधान है जबकि खरतरगच्छ परम्परा के ग्रन्थों में इस तरह का कोई निर्देश नहीं है केवल स्थापनाचार्य के समक्ष क्रियाविधि करने का उल्लेख है।[54] यद्यपि सभी परम्पराओं में कालग्रहण विधि स्थापनाचार्य के समक्ष ही होती है।
4. कालग्रहण के दरम्यान कालमंडल प्रेक्षा से सम्बन्धित एक विशिष्ट प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। विधिमार्गप्रपा में इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि

इसे गुरुमुख से सीखनी चाहिए। तिलकाचार्य सामाचारी, आचार दिनकर एवं तपागच्छ आदि परम्परा के ग्रन्थों में यह विधि अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार उल्लिखित है। प्रस्तुत अध्याय में आचारदिनकर (खरतर परम्परा) एवं तपागच्छ परम्परा के अनुसार कालप्रेक्षाविधि वर्णित की गई है।

5. उपर्युक्त ग्रन्थों में कुछ आलापक पाठों में भी साम्य-वैषम्य है जैसे कि सुबोधासमामाचारी[55] एवं प्राचीनसामाचारी[56] में यह पाठ है– **असज्ज-3 निसीहि-3 नमो खमासमणाणं।** विधिमार्गप्रपा[57] एवं आचारदिनकर[58] में उक्त पाठ सामान्य अन्तर के साथ इस प्रकार है– **असज्ज-3 निसीहि-3 नमो खमासमणाणं।** तिलकाचार्यसमाचारी[59] एवं प्रचलित तपागच्छ आदि परम्पराओं में यह पाठ मिलता है– **असज्ज-3 निसीहि-3 नमो खमासमणाणं।** इस तरह किंचिद् मतभेद है।
6. नियमत: कालग्रहण सम्बन्धी अनुष्ठान कालमंडल और स्थापनाचार्य मंडल– इन दो स्थानों पर निष्पन्न होता है। विधिमार्गप्रपा आदि मूलग्रन्थों में इन शब्दों का उल्लेख है किन्तु तपागच्छ आदि की संकलित कृतियों में इन शब्दों का अभाव है। उनमें पाटली, दिशा आदि का निर्देश है। शेष विधि लगभग समान है।[60]

कालमंडल प्रतिलेखन विधि

आचारदिनकर में हाथ परावर्त्तनपूर्वक कालमंडल प्रतिलेखन की विधि इस प्रकार निर्दिष्ट है–

कालग्राही कालमण्डल में आकर दण्ड के आगे ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। • तत्पश्चात रजोहरण की दसिओं का प्रतिलेखन करके बैठ जाएँ। फिर रजोहरण का तीन बार प्रतिलेखन करें। • उसके बाद गुरु परम्परागत शुद्ध विधि से रजोहरण के द्वारा तीन बार काल पाटली का प्रतिलेखन करें। • फिर कालमण्डल में दाएँ पैर के ऊपर रजोहरण को स्थापित करके मुखवस्त्रिका से शरीर के ऊपर भाग की प्रतिलेखना करें। • फिर बाएँ हाथ से कालमण्डल का स्पर्श करके दाएँ हाथ में गृहीत रजोहरण से दोनों पैरों का परिमार्जन करें। दाहिनी जंघा के मूल में मुखवस्त्रिका को सुरक्षित रखकर और बाएँ हाथ में रजोहरण लेकर बैठ जाएँ। • फिर रजोहरण की दसीओं से दाहिने हाथ के ऊपरी और मध्य भाग को स्पर्शित करें। • फिर कालमण्डल में उपस्थित होकर संपुट के

आकार में दोनों हाथों के अंगूठों के द्वारा क्रमशः नासिका का, दाएँ कान का और बाएँ कान का तीन बार संस्पर्श करें। • फिर दोनों हाथों को ऊपर नीचे करते हुए एक के बाद एक ऐसे तीन बार आवर्त्त के द्वारा भूमि का स्पर्श करें। • फिर दाएँ हाथ में गृहीत रजोहरण से कालमण्डल में स्थित बाएँ हाथ की अंगुली और अंगूठे के बीच में तीन बार प्रमार्जन करें। • फिर बाएँ घुटने से कालमण्डल का स्पर्श करें, फिर दण्डधर कालदण्डी का प्रतिलेखन करके उसे कमर में रखें। इस प्रकार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना के पूर्व तीन बार कालमण्डल की प्रतिलेखना करके और एक नमस्कार मंत्र बोलकर डंडी दण्डधर के हाथ में दी जाए।[61]

तपागच्छ आदि प्रचलित परम्पराओं में कालमंडल प्रतिलेखन की विधि निम्न प्रकार है–

• कालग्राही कालमण्डल में प्रवेश कर दण्ड के समक्ष ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। फिर कालग्राही और दंडधर संडाशक स्थानों की प्रमार्जना कर उकडु आसन में बैठ जाएं। • फिर कालग्राही दाएँ पाँव के ऊपर रजोहरण रखें और अनुमति लिए बिना (44 बोल पूर्वक) मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। • फिर मुखवस्त्रिका से बायें हाथ की तीन बार प्रतिलेखना करें एवं भूमि का प्रमार्जन कर बायां हाथ प्रमार्जित भूमि क्षेत्र में रखें और अंगूठा ऊँचा रखें। • उसके बाद मुखवस्त्रिका से तीन बार दायीं तरफ का कटिभाग प्रतिलेखित कर वहाँ मुखवस्त्रिका को स्थिर करें। • तदनन्तर दाएँ हाथ में रजोहरण लेकर बाएँ पाँव की (छह बोलपूर्वक) प्रतिलेखना करें। • फिर रजोहरण से बाएँ हाथ के आस-पास प्रदक्षिणावर्त्तपूर्वक तीन बार प्रमार्जन करें, फिर दायीं साथल को तीन बार प्रमार्जित कर उस पर रजोहरण रखें।

• तत्पश्चात रजोहरण की दसिओं के ऊपर दाएँ हाथ की हथेली को तीन बार घर्षण सहित उलट-पुलट करें। फिर दोनों हाथों का संपुट कर, अंगुष्ठों को संयोजित कर एवं मस्तक नीचे झुकाकर उससे नासिका, दाएं कान और बाएं कानों का तीन बार स्पर्श करवायें। फिर दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर तीन बार उलट-पुलट करते हुए धीरे से घिसें। पुनः पूर्ववत अंगुष्ठ से नासिका और दोनों कानों का तीन बार स्पर्श करें तथा दोनों हाथों को तीन बार भूमि पर उलट-पुलट (सीधा-उल्टा) करते हुए घिसें– यह प्रक्रिया कुल तीन बार करें।

• तदनन्तर दायाँ हाथ ऊपर करें, बायाँ हाथ भूमि पर पूर्ववत स्थिर करें।

दाएँ हाथ में रजोहरण लेकर बायाँ घुटना प्रतिलेखित करें। फिर प्रमार्जित भूमि पर घुटना टिकाएँ। फिर रजोहरण से बाएँ हाथ की प्रतिलेखना करें। फिर स्वयं के रजोहरण की दसिओं द्वारा बाएँ हाथ से दण्डी लेकर उसकी 10 बोल से प्रतिलेखना करें। उसके बाद रजोहरण से बायीं तरफ का कटिभाग प्रमार्जित कर वहाँ दण्डी को स्थिर करें। • फिर रजोहरण से दायीं तरफ का कटिभाग, साथल और मुखवस्त्रिका का तीन बार प्रतिलेखन करें। फिर दायीं साथल के ऊपर रजोहरण रखकर एवं बाएँ हाथ में मुखवस्त्रिका लेकर उसका 44 बोलपूर्वक प्रतिलेखन करें। फिर मुखवस्त्रिका से तीन बार बाएं हाथ का प्रतिलेखन करें। फिर भूमि का प्रमार्जन कर बायाँ हाथ भूमि पर स्थापित करें और बायाँ घुटना भूमि पर से उठाये।

• तत्पश्चात मुखवस्त्रिका से दायीं तरफ का कटिभाग तीन बार प्रतिलेखित कर वहाँ मुखवस्त्रिका को संरक्षित करें। दाएँ हाथ में रजोहरण लेकर दोनों पाँवों के पीछे का भूमिस्थान प्रमार्जित कर वहाँ खड़ा हो जाए। फिर दोनों पैरों का छह बोल पूर्वक प्रतिलेखन करें। फिर बाएँ हाथ के आस-पास तीन बार प्रमार्जना करें। फिर दायीं साथल को तीन बार प्रतिलेखित कर उस पर रजोहरण रखें। फिर दाएँ हाथ को रजोहरण की दसिओं पर तीन बार घर्षण सहित सीधा-उल्टा करें, फिर दोनों हाथों का संपुट बनाकर पूर्ववत दूसरी बार तीन कालमांडला करें।

• तदनन्तर दाएँ हाथ से रजोहरण द्वारा घुटनों का प्रतिलेखन कर उन्हें प्रमार्जित भूमि पर टिकाएँ। फिर बाएँ हाथ की तीन बार प्रतिलेखना कर बायीं ओर का कटिभाग और डंडी का तीन बार प्रतिलेखन कर बाएँ हाथ से डंडी निकालें। उसकी 10 बोल से प्रतिलेखना कर बायीं तरफ स्थिर कर दें। उसके पश्चात रजोहरण से बायां हाथ, दायीं तरफ का कटिभाग और मुखवस्त्रिका का तीन बार प्रतिलेखन करें। रजोहरण दायीं साथल के ऊपर रखें। बाएँ हाथ में मुखवस्त्रिका लेकर 44 बोलपूर्वक उसकी प्रतिलेखना करें। फिर मुखवस्त्रिका से तीन बार बाएँ हाथ का प्रतिलेखन करें। फिर भूमि प्रमार्जना करें, बायाँ हाथ भूमि पर स्थापित करें और बाएँ घुटने को भूमि से ऊपर उठाएँ। इसके बाद मुखवस्त्रिका से दायीं तरफ के कटिभाग का तीन बार प्रतिलेखन कर मुखवस्त्रिका को स्थिर करें। फिर दाएँ हाथ में रजोहरण लेकर पैरों के पीछे भाग

की भूमि का प्रमार्जन कर, दोनों पाँव उस भूमि पर स्थित कर शेष छह बोलपूर्वक दोनों पैरों की प्रमार्जना करें, बाएँ हाथ के आस-पास तीन बार प्रतिलेखना करें, दायीं साथल को तीन बार प्रमार्जित कर वहाँ रजोहरण रखें। तत्पश्चात रजोहरण की दसीओं पर दायें हाथ को तीन बार घर्षण सहित सीधा-उल्टा करें। फिर दोनों हाथों का संपुट बनाकर पूर्ववत तीसरी बार तीन कालमांडला करें।

• तदनन्तर दाएँ हाथ में रजोहरण लेकर बाएँ घुटने का प्रमार्जन करें। फिर भूमि प्रमार्जित कर घुटने को स्थिर करें। फिर बाएँ हाथ की तीन बार प्रतिलेखना कर रजोहरण से दंडीधर सहित बायीं तरफ का कटिभाग और मुखवस्त्रिका सहित दायीं तरफ का कटिभाग तीन बार प्रतिलेखित करें। उसके पश्चात दंडीधर और मुखवस्त्रिका को दोनों हाथों से एक साथ निकालें। फिर रजोहरण से 10 बोलपूर्वक दंडीधर की प्रतिलेखना करें तथा दांडीधर के बाएं हाथ को प्रमार्जित कर दण्डी उसके हाथ में अर्पित करें। फिर एक नमस्कार मंत्र का स्मरण कर दंडीधर की स्थापना करें। फिर पैरों के पृष्ठ भाग की भूमि का प्रमार्जन कर वहाँ खड़ा हो जाए। तदनन्तर 1. रजोहरण की दसीया 2. रजोहरण बांधने का दोरा 3. मुखवस्त्रिका का पल्ला 4. चोलपट्ट का पल्ला और 5. कंदोरा– इन पाँच वस्तुओं को सम्मिलित कर दाएँ हाथ को दाएँ पाँव के मध्य लेकर **'निसीहि नमो खमासमणाणं'** कहते हुए खड़ा हो जाए। दांडीधर भी कालग्राही के साथ ही खड़ा हो जाए।[62]

समीक्षा– यदि तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो दिगम्बर ग्रन्थों में भी कालग्रहण की अवधारणा स्पष्टत: परिलक्षित होती है। मूलाचार में कहा गया है कि प्रादोषिक, वैरात्रिक एवं गौसर्गिक (दिवस का पूर्वाह्न काल और अपराह्न काल) तथा रात्रि का पूर्वकाल और अपरकाल इन चारों कालों में निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए। मूलाचार टीका के अनुसार रात्रि का पूर्वभाग प्रादोषिक, रात्रि का पश्चिम भाग वैरात्रिक एवं गायों के निकलने का समय गौसर्गिक कहलाता है। मूलाचार (270 की टीका) में प्रदोष के समय दो कालग्रहण करने का निर्देश है और उक्त चारों कालों में स्वाध्याय करने का भी उल्लेख है।[63]

इस वर्णन का भावार्थ यह है कि चौबीस मिनट की एक घड़ी होती है और दो घड़ी में अड़तालीस मिनट होते हैं। सूर्योदय के अड़तालीस मिनट बाद से

लेकर मध्याह्न काल के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वाह्न स्वाध्याय का काल है। इसे 'गोसर्गिक काल कहा गया है। मध्याह्न के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट पहले तक अपराह्न स्वाध्याय का काल है। इसे 'प्रादोषिक' काल कहा गया है।

सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वरात्रि के स्वाध्याय का काल है। इसे भी 'प्रादोषिक' काल कहा गया है। अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्योदय से अड़तालीस मिनट पहले तक अपररात्रि के स्वाध्याय का काल है। इसे 'वैरात्रिक कहा गया है। इस प्रकार चारों संधिकालों में छयानवें मिनट (लगभग डेढ़ घण्टा) तक का काल अस्वाध्याय रूप माना गया है। शेष काल स्वाध्याय हेतु उपयुक्त है।

वसति शुद्धि एवं स्वाध्याय काल प्रवेदन की विधि

प्राभातिक आदि चारों कालों में से किसी भी काल को ग्रहण कर लेने के पश्चात कालप्रवेदन विधि की जाती है। इस विधि के द्वारा गुरु भगवन्त को यह अनुज्ञापित किया जाता है कि स्वाध्याय हेतु वसति और काल दोनों शुद्ध हैं। स्वाध्याय-शुद्ध वसति और शुद्ध काल में करना चाहिए। वसति एवं काल की शुद्धि पूर्वक किया गया स्वाध्याय फलदायी होता है। इसीलिए कालग्रहण द्वारा वसति एवं काल की शुद्धि का अवलोकन एवं गुरु के समक्ष उसका निवेदन करने के पश्चात ही स्वाध्याय प्रस्थापना करते हैं। काल प्रवेदन करते समय दिशा का कोई नियम नहीं है। किसी भी दिशा की ओर मुख करके काल प्रवेदन कर सकते हैं।

खरतरगच्छ विधिमार्गप्रपा के अनुसार वसति एवं काल प्रवेदन की विधि निम्न है–

वसति प्रवेदन– सर्वप्रथम कालग्राही शुद्ध रूप से प्राभातिक कालग्रहण करें। • फिर सभी योगवाही प्रतिक्रमण करें, प्रतिलेखना करें, वसति का प्रमार्जन करें। • फिर वसति के चारों ओर सौ-सौ कदम तक की भूमि का शोधन करें। वसति शोधन के समय अस्थि-चर्मादि अशुद्ध वस्तुएँ दिख जाएं तो उन्हें अन्य स्थान में परिष्ठापित कर उस सीमा क्षेत्र को निर्दोष एवं शुद्ध बनाएँ। • फिर सभी योगवाही वाचनाचार्य के समक्ष उपस्थित होकर वसति शोधन करते समय लगे हुए दोषों के निवारणार्थ ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। उसके बाद मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। • फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छकारि तपसियहु वसति**

सूझइ?– भगवन् आपकी इच्छा से योगवाही तपस्वी मुनियों के लिए क्या वसति शुद्ध है? तब वसति शोधन करने वाला मुनि बोलें– **'सुज्झइ'**– वसति शुद्ध है। फिर सभी योगवाही 'वसति शुद्ध है' इसका प्रवेदन करें। इसी तरह कालग्राही काल शुद्धि का प्रवेदन करें।

कालप्रवेदन– सभी योगवाही एक खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन करके कहें– **इच्छकारि तपसियहु कालो सूझइ?**– हे भगवन्! आपकी अनुमति से मैं पूछता हूँ कि योगवाही मुनियों के लिए क्या स्वाध्याय काल शुद्ध है? तब दंडीधर बोले– **सूझइ** – योगवाही मुनियों के लिए अब स्वाध्याय काल शुद्ध है।[64]

• आचारदिनकर के मतानुसार कालग्रहण की क्रिया निष्पन्न हो जाने पर कालग्राही प्रतिक्रमण करें। • फिर प्रतिलेखना का समय होने पर अंग प्रतिलेखना एवं उपधि प्रतिलेखना करें। • फिर उपाश्रय की चारों दिशाओं में सौ-सौ कदम तक की भूमि का प्रमार्जन करें। उस भूमि क्षेत्र में अस्थि, चर्म आदि हों तो शुद्धि करवाएं। • फिर कालग्राही वसति में आकर गमनागमन में लगे दोषों से निवृत्त होने के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।

• फिर खमासमणसूत्र से वन्दन करके कहें– **'भगवन् वसहिं पवेएमि'**– हे भगवन्! मैं वसति का प्रवेदन करूं? फिर खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करके कहें– **'वसही सुज्झई'** – हे भगवन्! वसति निर्दोष (शुद्ध) है। फिर खमासमण देकर कहे– **'भगवन्! पाभाइअ कालं पवेएमि'**– हे भगवन्! मैं प्रभातकाल का प्रवेदन करूँ? पुन: वंदन करके कहें। **'भगवन् पाभाइयकालो सुज्झइ'**– हे भगवन्! स्वाध्याय हेतु प्रभातकाल निर्दोष है। फिर गुरु, योगवाही और अन्य मुनिगण स्वाध्यायार्थ स्थापनाचार्य के सम्मुख जाएं। यह कालग्रहण करने वाले मुनि का नित्यकर्म बतलाया गया है।[65]

तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में वसतिकाल प्रवेदन की विधि इस प्रकार है–[66]

वसति प्रवेदन– काल प्रवेदन[67] करने वाला मुनि या योगवाही कालिक अनुष्ठान कराने वाले आचार्य या पदस्थ मुनि के आगे स्थापनाचार्य को खुला रखें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! वसहि पवेउं?** इच्छं। पुन: खमासमण देकर कहें– **भगवन्! सुद्धावसही।** गुरु– **तहत्ति।**

पाटली स्थापन– फिर नीचे बैठकर पाटली, मुखवस्त्रिका (25 बोल), दो डंडी (10 बोल) एवं तगडी (4 बोल पूर्वक) की प्रतिलेखना करें। फिर पाटली के ऊपर मुखवस्त्रिका रखें, मुखवस्त्रिका के ऊपर दंडियों को पृथक-पृथक रखें। फिर एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करके बैठे हुए और एक नमस्कार मन्त्र द्वारा खड़े हुए पाटली की स्थापना करें। फिर काल प्रवेदक मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. वसहि पवेउं?** गुरु– **पवेयह,** इच्छं। पुन: खमासमण देकर कहे– **सुद्धावसहि।** गुरु– **तहत्ति।**

उसके पश्चात 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए' बोलते हुए नीचे बैठकर एवं आगे की दंडीधर की सावधानीपूर्वक प्रमार्जना कर अंगुली एवं अंगूठे से उठाये और मन में 'मत्थएण वंदामि' कहकर 10 बोल से दंडीधर की प्रतिलेखना करें। फिर **काल थापुं?** इस तरह का मानसिक संकल्प करते हुए स्वयं की बायीं ओर पाटली के समीपवर्ती भूमि पर उसे स्थापित करें। फिर बैठे हुए एक परमेष्ठी मन्त्र द्वारा पाटली और एक परमेष्ठी मन्त्र द्वारा नीचे की दंडीधर तथा खड़े हुए एक परमेष्ठी मन्त्र का स्मरण कर पाटली एवं दंडीधर दोनों की युगपद स्थापना करें।

काल प्रवेदन– तदनन्तर योगवाही मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. पाभाइय काल पवेउं?** गुरु– **पवेयह, इच्छं।** पुन: एक खमासमण देकर कहें– **इच्छकारी साहवो पाभाइकाल सुज्झे?** गुरु एवं सभी योगवाही कहे– **सुज्झे।** फिर प्रवेदन करने वाला मुनि कहें– **भगवन्! मु पभाइकाल सुद्ध कहे।** उसके बाद व्याघातिक, अर्द्धरात्रिक और वैरात्रिक काल ग्रहण किये हों तो उस क्रम से कालप्रवेदन करें। फिर एक खमासमण देकर अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें। फिर दाहिने हाथ को स्वयं की ओर रखते हुए एक नमस्कार मन्त्र गिनकर पाटली का उत्थापन करें।

समीक्षा– वसति शुद्धि एवं काल शुद्धि का गुरु के समक्ष निवेदन करना वसति-काल प्रवेदन कहलाता है। यदि इस विधि के विकास क्रम पर विचार किया जाए तो इसका प्रारम्भिक स्वरूप व्यवहारभाष्य में मिलता है।[68] इसमें गुरु के समक्ष शुद्धकाल का निवेदन करें, इतना मात्र ही सूचन है। इसके अनन्तर तिलकाचार्यसामाचारी[69], सुबोधासामाचारी,[70] प्राचीनसामाचारी,[71]

विधिमार्गप्रपा,[72] आचारदिनकर[73] आदि में यह विधि परिलक्षित होती है। यद्यपि इनमें यह विधि सामान्य मतभेद के साथ पाई जाती है। विक्रम की 17वीं शती के बाद एतद् विषयक कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। निर्दिष्ट ग्रन्थों में भी विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ रहे हैं। तदर्थ इन्हीं कृतियों के अनुसार यह विधि प्रतिपादित की गई है। तपागच्छ आदि की वर्तमान परम्परा में प्रचलित विधि भी दिग्दर्शित की गई है।

यदि उक्त ग्रन्थों एवं परम्पराओं की दृष्टि से इस विधि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होता है कि

1. व्यवहारभाष्य में इसका संकेत मात्र है जबकि परवर्ती ग्रन्थों में परम्परागत सामाचारी के अनुसार इसका सम्यक स्वरूप प्रतिपादित है तथा तपागच्छादि की परम्परा में यह विधि अपेक्षाकृत विस्तृत रूप से प्रवर्तित है।
2. विधिमार्गप्रपादि ग्रन्थों में कालप्रवेदन के समय पाटली स्थापन का उल्लेख नहीं है किन्तु तपागच्छ आदि से सम्बन्धित कृतियों में पाटली स्थापन का निर्देश है।[74] उनमें यह अनुष्ठान किस ग्रन्थ के आधार पर स्वीकृत किया गया है? हमें प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है।
3. विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में आलापक पाठों को लेकर भी मतभेद हैं जैसे– तिलकाचार्य सामाचारी में **'इच्छकारइं तपसिहु वसति सुज्झइ'** ऐसा पाठ है। विधिमार्गप्रपानुसार **'इच्छकारि तपसियहु वसति सूझइ'** पाठ मिलता है। सुबोधासामाचारी एवं आचारदिनकर में इस पाठ का उल्लेख नहीं है। आचारदिनकर में उक्त पाठ के स्थान पर **'भगवन् वसहिं पवेएमि', 'वसही सुज्झइ'**– आलापक कहे गये हैं। तपागच्छ आदि परम्पराओं में **इच्छा. संदि. भगवन्! वसति पवेउं?, भगवन्! सुद्धावसहि–** ये आलापक बोले जाते हैं। इस प्रकार पाठ सम्बन्धी कुछ मतभेद हैं, किन्तु इनमें आशय भेद नहीं है।
4. विधिमार्गप्रपा आदि में वसति एवं काल प्रवेदन करने एवं करवाने वाले अधिकृत मुनियों के विषय में भी मतैक्य नहीं है। सुगम बोध हेतु तालिका दृष्टव्य है–

ग्रन्थ	वसतिप्रवेदक	वसतिप्रत्युत्तर	कालप्रवेदक	कालप्रत्युत्तर
तिलकाचार्य सामाचारी	दांडीधर	गुरु	कालग्राही	गुरु
सुबोधासामाचारी	कालग्राही एवं योगवाही	वसतिशोधक मुनि	योगवाही	कालग्राही
विधिमार्गप्रपा	कालग्राही एवं योगवाही	वसतिशोधक मुनि	योगवाही	कालग्राही
आचारदिनकर	कालग्राही	×	कालग्राही	×

5. इस अनुष्ठान में खमासमण एवं आलापक पाठ पूर्वक वसति शुद्धि का प्रवेदन करते हैं फिर पूर्ववत कालशुद्धि का प्रवेदन करते हैं। यह विधि प्रक्रिया सभी ग्रन्थों में समान हैं केवल आलापकपाठ, अधिकारी आदि को लेकर ही क्वचित मतभेद हैं।

प्रवेदन (पवेयणा) विधि

पवेयण (प्रवेदन) प्राकृत शब्द है। इसे रूढ़ि से पवेयणा कहते हैं। पवेयणा का शाब्दिक अर्थ है प्र-प्रकर्ष रूप से, वेदन-निवेदन करना, कहना, बतलाना। प्राकृत शब्द महार्णव में पवेयणा के निम्न अर्थ किये गये हैं– प्ररूपण करना, प्रतिपादन करना, ज्ञात कराना, निर्णय बताना, सूचित करना आदि।[75]

यहाँ प्रवेदन (पवेयणा) से तात्पर्य– करने योग्य क्रियाओं का गुरु के समक्ष प्रतिपादन करना है। वस्तुत: इस क्रिया के माध्यम से अतीत, वर्तमान और अनागत त्रैकालिक अनुष्ठानों का निवेदन किया जाता है जैसे– कालग्रहण, कालमंडल आदि क्रियाएँ पवेयणा के पूर्व सम्पन्न कर ली जाती है। स्वाध्याय प्रतिक्रमण, प्रभातकालीन प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान उसी समय करने योग्य होते हैं तथा पात्र आदि का ग्रहण, सजग रहना आदि विधियाँ भक्त-पान से सम्बन्धित होने के कारण भिक्षाचर्या के समय की जाती है। योगवाहियों के द्वारा आचार्य के समक्ष बार-बार उपस्थित होकर आवश्यक क्रियाओं की अनुमति प्राप्त करना असम्भव है। इस उद्देश्य से भी पवेयणा विधि की जाती है, ताकि परिमित काल सम्बन्धी अत्यावश्यक अनुष्ठानों का एक साथ निवेदन किया जा सके। इससे निश्चित होता है कि योगकालिक क्रियाएँ करने से पूर्व या पश्चात, उस सम्बन्ध में गुरु को बतलाना और अनुमति प्राप्त करना परमावश्यक है।

यह उल्लेखनीय है कि योगवहन के सभी दिनों में पवेयणा विधि होती है तथा यह नन्दी और आगमसूत्रों के उद्देशक आदि की क्रिया पूर्ण होने के तुरन्त बाद की जाती है।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार उद्देशक के अनन्तर दो खमासमण पूर्वक वंदन करके वाचना ग्रहण करने की और दो खमासमण पूर्वक वंदन करके बैठने की अनुमति लेनी चाहिए तथा अनुज्ञा के अनन्तर पवेयणा विधि करनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि अंग-श्रुतस्कन्ध-अध्ययन-वर्ग-शतक आदि के उद्देशकों की अनुज्ञा प्राप्त होने के पश्चात ही उसका प्रवेदन किया जाता है।

नियम से पवेयणा की क्रिया कालग्राही, कृतयोगी या प्रज्ञावान योगवाही मुनि द्वारा की जानी चाहिए, शेष योगवाही सुनते हैं। किन्तु विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में इसके विषय में स्पष्ट निर्देश नहीं है।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार पवेयणा विधि इस प्रकार है [76]– सर्वप्रथम वसति का संशोधन करें। उत्तम स्थान पर स्थापनाचार्य को स्थापित करें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

योगवाही– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! वसहि पवेउं?** गुरु–**पवेयह,** इच्छं। खमा. **भगवन्! सुद्धा वसहि।** गुरु– **तहत्ति।**

योगवाही– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह,** इच्छं। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

योगवाही– खड़े हुए **इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा पवेउं?** गुरु– **पवेयह** इच्छं।

योगवाही– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बहुवेलं संदिसावेमि। इच्छं,** खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बहुवेलं करेमि** का आदेश लें।

योगवाही– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं संदिसावेमि। इच्छं,** खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं करेमि** का आदेश लें।

योगवाही– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं संदिसावेमि, इच्छं।** खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! बइसणं ठामि** का आदेश लें।

स्वाध्याय ग्रहण

योगवाही– खमा.– **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाउ पाठविसहं–** हे भगवन्! आपकी अनुमति से स्वाध्याय का पाठ प्रारम्भ करते हैं।

खमा.– **इच्छा. संदि. भगवन्। सज्झायपाठवणत्थु काउस्सग्गु करिसहं–** हे भगवन्! आपकी अनुमतिपूर्वक स्वाध्याय पाठ का प्रारम्भ करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं।

कालमंडल ग्रहण

योगवाही– खमा.– **इच्छा. संदि. भगवन्! कालमांडला संदिसाविसहं** हे भगवन्! आपकी अनुमति पूर्वक कालमंडल करने की आज्ञा लेते हैं।

खमा.– **इच्छा. संदि. भगवन्! कालमंडलाकरिसहं–** आपकी इच्छापूर्वक कालमांडला करते हैं।

संघट्टा ग्रहण

फिर पूर्ववत तीन खमासमण देकर संघट्टा सम्बन्धी तीन आदेश लें–

संघट्टउ संदिसाविसहं– संघट्टा ग्रहण करने के लिए अनुमति लेते हैं।

संघट्टउ पडिगाहिसहं– आपकी अनुमतिपूर्वक संघट्टा ग्रहण करते हैं।

संघट्टपडिगाहणत्थु काउस्सग्गु करिसहं– संघट्टा ग्रहण करने हेतु कायोत्सर्ग करते हैं।

आउत्तवाणय ग्रहण

तदनन्तर कुछ परम्पराओं में पूर्ववत तीन खमासमण देकर आउत्तवाणय के तीन आदेश लेते हैं–

आउत्तवाणय संदिसाविसहं– सजग रहने के लिए आज्ञा लेते हैं।

आउत्तवाणय पडिगाहिसहं– आपकी आज्ञापूर्वक आउत्तवाणय ग्रहण करते हैं।

आउत्तवाणय पडिगाहणत्थु काउस्सग्गु करिसहं– आउत्तवाणय निमित्त कायोत्सर्ग करते हैं।

स्वाध्याय प्रतिक्रमण

तत्पश्चात उद्देश आदि रूप स्वाध्याय करते समय लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए पूर्ववत दो खमासमण देकर स्वाध्याय का प्रतिक्रमण करें–

सज्झाउ पडिक्कमिसहं– स्वाध्याय में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करते हैं।

सज्झाय पडिक्कमणत्थु काउस्सग्गु करिसहं– स्वाध्याय का प्रतिक्रमण करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं।

कालग्रहण प्रतिक्रमण

तत्पश्चात कालग्रहण लेते समय लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए पूर्ववत दो खमासमण देकर काल का प्रतिक्रमण करें–

पाभाइकालु पडिक्कमिसहं– प्राभातिक काल का प्रतिक्रमण करते हैं अथवा जिस काल का प्रतिक्रमण करना हो उसका नाम उच्चारित करें।

पाभाइयकाल पडिक्कमणत्थु काउस्सग्गु करिसहं– प्राभातिक काल का प्रतिक्रमण करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। उसके पश्चात गुरु को द्वादशावर्त्तवन्दन करके तप का प्रत्याख्यान करें। गुरु योगवाहियों के तप की सुखपृच्छा करें।

संघट्टा ग्रहण

तदनन्तर भिक्षाचर्या के निमित्त प्रवेदन काल के अनन्तर ही संघट्टा ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त करें। सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर पूर्ववत तीन खमासमण देकर संघट्टा ग्रहण के तीन आदेश लें–

संघट्टउ संदिसावउं– संघट्टा ग्रहण करने के लिए आपकी अनुमति लेता हूँ।

संघट्टउ पडिगाहउं– आपकी अनुमति पूर्वक संघट्टा ग्रहण करता हूँ।

संघट्टा पडिगाहणत्थु काउस्सग्गु करउं– संघट्टा ग्रहण करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ– **संघट्टापडिगाहणत्थं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक अन्नत्थसूत्र** बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें, कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर अविधि या आशातना हुई हो तो उसका मिथ्यादुष्कृत दें।

आउत्तवाणय ग्रहण

तदनन्तर आउत्तवाणय ग्रहण करना हो तो पूर्ववत मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें और तीन खमासमण देकर तीन आदेश लें–

आउत्तवाणय संदिसावउं– आउत्तवाणय ग्रहण करने के लिए आपकी अनुज्ञा लेता हूँ।

आउत्तवाणय पडिगाहउं– आपकी अनुज्ञा पूर्वक आउत्तवाणय ग्रहण करता हूँ।

आउत्तवाणय पडिगाहणत्थु काउस्सग्गु करउं– आउत्तवाणय ग्रहण

करने निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ। पुनः एक खमासमण देकर कहें- **'त्रांबा त्रउआ, सीसा, कांसा, सोना, चाँदी, अस्थि, चर्म, रूधिर, नख, दंत, बाल, विष्टा, लादि इच्चाइ ओहडावणियं करेमि काउस्सग्गं'** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर किसी तरह की अविधि या आशातना हुई हो, तो उसका मिथ्यादुष्कृत दें।

तपागच्छ परम्परा में प्रचलित पवेयणाविधि इस प्रकार है[77]- पूर्ववत वसति शोधन, ईर्यापथ प्रतिक्रमण, वसति प्रवेदन, मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन और पवेयणा का आदेश लें। फिर खमा. **इच्छकारी भगवन्! तुम्हे अम्हं...श्रुतस्कंधे... अध्ययने...** (उद्देसावणी समुद्देसावणी अणुजाणावणी- जो क्रियाएँ कर ली गई हों उन सभी का नामोच्चारण करते हुए) **वायणा संदिसावणी, वायणा लेवरावणी, कालमांडला संदिसावणी,कालमांडला पडिलेहावणी, सज्झाय पडिक्कमणावणी,पाभाइयकाल पडिक्कमणावणी, संघट्टो (आउत्तवाणय) लेवावणी, जोगदिन पईसरावणी पाली तप (पारणुं) करशुं।** गुरु- **करजो।** फिर गुरु मुख से प्रत्याख्यान ग्रहण करें। दो खमासमण द्वारा बैठने का आदेश लें। तदनन्तर पूर्ववत संघट्टा और आउत्तवाणय ग्रहण करें।

समीक्षा- प्रवेदन, योगवाहियों का दैनिक कर्म है तथा योगचर्या का अभिन्न अंग है। यदि इस अनुष्ठान के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अनुसंधान किया जाय तो विक्रम की दूसरी शती से 16वीं शती पर्यन्त के वैधानिक ग्रन्थों में इसका स्वरूप स्पष्टतः देखने को मिलता है। यद्यपि इस विषय में आचार्यों में मतभेद हैं। यही कारण है कि विधिमार्गप्रपादि ग्रन्थों में यह विधि सामान्य अन्तर के साथ प्राप्त होती है। इनमें मुख्य अन्तर आलापक पाठों की संख्या एवं उनके क्रम को लेकर है। तपागच्छ आदि परम्पराओं में **'तुम्हे अम्हं-सुअक्खंधे...** से लेकर **पाली पारणुं करशुं'** पर्यन्त का पाठांश तिलकाचार्य सामाचारी एवं आचार दिनकर का अनुसरण करते हुए जिनसामाचारी के आधार पर दिया गया है तथा **'पाडीवारणउं करिसउं'** के स्थान पर **'पालीपारणुं करशुं'** पद उद्धृत किया गया है। देश-कालगत परिवर्तनों में भाषा स्वरूप भी बदलता है। तिलकाचार्य एवं सुबोधासामाचारी में उल्लेखित **'पाउंछणं'** शब्द पादप्रोंछन का वाच्यार्थ होने पर भी विक्रम की 14वीं शती तक आते-आते यह बैठने के अर्थ में रूढ़ हो गया, अतएव इस शती से 'पाउंछणं' के स्थान पर 'बइसणं' या

'काष्ठासन' शब्द का उल्लेख मिलता है। यद्यपि संघट्टा, आउत्तवाणय, वायणा, पवेयणा आदि आलापक पाठों को लेकर उपर्युक्त ग्रन्थों एवं तपागच्छ आदि परम्पराओं में पूर्ण मतैक्य है।

यदि पवेयणा की उपादेयता पर विचार करें तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसकी अनुपालना करने से जिनाज्ञा का पालन, गुरु का बहुमान एवं अप्रमत्तदशा का जागरण होता है तथा प्रतिपृच्छा पूर्वक सम्पादित अनुष्ठानों के माध्यम से आराधना विधियुक्त बनती है।

नोंतरा (कालमंडल प्रतिलेखन) विधि

नोंतरा, यह मरु गुर्जर मिश्रित शब्द है। इसका सामान्य अर्थ होता है– आमन्त्रण देना। यहाँ नोंतरा से तात्पर्य पूर्व निर्धारित निर्दोष भूमि को विशिष्ट विधि-प्रक्रिया के द्वारा सभी योगवाहियों के लिए कालग्रहण के योग्य बनाना है। सामान्यतया काल ग्रहण शब्द में 'आमन्त्रण' का भाव निहित है, क्योंकि कालग्रहण के माध्यम से सभी योगवाही मुनियों को आगम पठनार्थ आज्ञा दी जाती है, उन्हें शास्त्राभ्यास के लिए मंडली में आमन्त्रित किया जाता है। कालग्रहण विधि एक निश्चित भू-भाग में सम्पन्न होती है, उसे ही काल मंडल कहते हैं। इस प्रकार निर्धारित स्थान विशेष को उत्तम प्रक्रिया के द्वारा कालग्रहण योग्य बनाना नोंतरा कहलाता है।

किसी अपेक्षा से नोंतरा को कालग्रहण की साहचर्य विधि कह सकते हैं क्योंकि कालग्रहण से पूर्व नोंतरा विधि अनिवार्य रूप से सम्पन्न की जाती है। इस तरह जितने कालग्रहण लिये जाते हैं उतनी ही संख्या में नोंतरा विधि की जाती है।

यह ध्यातव्य है कि नोंतरा, कालग्रहण, कालप्रवेदन, कालग्राही, दांडीधर आदि विधि-अनुष्ठान कालिकसूत्रों के योगवहन में किये जाते हैं। उत्कालिक आदि एवं प्रकीर्णक आदि सूत्रों के योगोद्वाहन में कालग्रहण सम्बन्धी विधि-विधान नहीं होते हैं।

नोंतरा के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि योग में प्रवेश करने के पूर्व दिन की सन्ध्या को चौविहार आदि का प्रत्याख्यान करके नोंतरा विधि करें। उसके पश्चात कालग्राही और दांडीधर मुनि स्थंडिल प्रतिलेखना (मांडला) करें। सामान्य योगवाही साधु नोंतरा विधि के पूर्व भी स्थंडिल प्रतिलेखना कर सकते

हैं। कुछ परम्पराओं में नोंतरा देने के बाद ही सभी साधुजन स्थंडिल मांडला करते हैं। यदि नोंतरा निष्फल जाता है तो सामान्यत: दूसरी बार नहीं दिया जाता। केवल आचार्य आदि पदस्थापना जैसे विशिष्ट अवसरों पर यह विधि पुन: की जा सकती है। जो कालग्रहण जिस दिशा की ओर मुख करके लिया जाता है तत्सम्बन्धी नोंतरा विधि भी उसी दिशा की ओर मुख करके की जाती है। जैसे प्राभातिक एवं वैरात्रिक कालग्रहण पश्चिम दिशा की ओर मुख करके और व्याघातिक एवं अर्द्धरात्रिक कालग्रहण दक्षिण दिशा की ओर मुख करके लिए जाते हैं। इस नियम के अनुसार प्राभातिक और वैरात्रिक कालसम्बन्धी नोंतरा पश्चिम दिशा में तथा व्याघातिक और अर्द्धरात्रिक काल सम्बन्धी नोंतरा दक्षिण दिशा में दिये जाते हैं।

यदि तीन या चार बार नोंतरा विधि करनी हो, तब पहले व्याघातिक और अर्धरात्रिक नोंतरा विधि दक्षिण दिशा की तरफ करें। उसके बाद वैरात्रिक और प्राभातिक नोंतरा पश्चिम दिशा की तरफ करें।

प्रवेश के पहले दिन एक कालग्रहण लिया जाता है तथा अंगसूत्र या श्रुतस्कन्ध के समुद्देश और अनुज्ञा दिन में प्राभातिक कालग्रहण ही लिया जाता है। इस नियम से इन दिनों में एक बार ही नोंतरा विधि होती है।

प्रथम व्याघातिक और अर्द्धरात्रिक काल सम्बन्धी नोंतरा विधि में जिस कालग्राही के द्वारा प्रत्याख्यान एवं स्थंडिल प्रतिलेखन के आदेश लिए गए हों और वही कालग्राही दांडीधर भी हो तो वैरात्रिक और प्राभातिक सम्बन्धी नोंतरा विधि में पुन: से प्रत्याख्यान एवं स्थंडिल प्रतिलेखना के आदेश लेने की आवश्यकता नहीं है। यदि कालग्राही और दांडीधर पृथक-पृथक हों तो दोनों नोंतरा विधि में उक्त आदेश दोनों बार लेने चाहिए।

मांडला– दक्षिण, उत्तर, पश्चिम और पूर्व इस क्रम से प्रत्येक दिशा में सात-सात कुल 4×7=28 मंडल किए जाते हैं। एक कालग्रहण में एक बार, दूसरे कालग्रहण में दो बार मांडला किए जाते हैं, किन्तु एक के बाद कुछ समय का अन्तराल रखकर, दूसरी बार के मांडले करने चाहिए। आचार्य रामचन्द्रसूरि आदि कुछ समुदायों में चारों दिशाओं में 17-17 गाथाएँ बोली जाती हैं तथा एक कालग्रहण में 27 मंडल एक ही दिशा में होते हैं। नोंतरा विधि की क्रिया कालग्राही और दांडीधर मुनि ही करते हैं। सामान्य योगवाही मुनि इस क्रिया के अधिकारी नहीं माने गये हैं।

जीतव्यवहार की मान्यतानुसार नोंतरा विधि निम्न है–

सर्वप्रथम पश्चिम दिशा की तरफ स्थापनाचार्य खुला रखें। फिर वसति के चारों ओर सौ हाथ पर्यन्त भूमिशोधन करें। कालग्राही ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। फिर दंडासन की 10 बोल से प्रतिलेखना कर भूमि प्रमार्जना करें और काजा लें।

दांडीधर– स्थापनाचार्य के समक्ष पाटली के ऊपर मुखवस्त्रिका और उसके ऊपर दो दंडी की स्थापना करें। दांडीधर कालग्राही की बायीं ओर खड़ा रहे।

कालग्राही– स्थापित पाटली के निकट से काजा लेते हुए कालमंडल भूमि में पाटली के सन्मुख खड़ा रहे। फिर **'नासिका चिंतवणी सावधान, उपयोग राखो'** इस पद को उच्च स्वर से बोलते हुए और पुनः प्रमार्जना करते हुए स्थापनाचार्य के सम्मुख आकर दंडासन को रख दें।

दांडीधर– उस समय दांडीधर रजोहरण द्वारा भूमि की प्रमार्जना करें। फिर नीचे बैठकर पाटली आदि उपकरणों को अलग-अलग रखें। फिर कालग्राही और दांडीधर एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। प्रतिक्रमण के सूत्रपाठ दांडीधर बोले।

दांडीधर– एक खमासमण देकर कहे– **इच्छा. संदि. भगवन्! वसहि पवेउं?** कालग्राही– **पवेयह।** दांडीधर **'इच्छं'** कहे। पुनः एक खमासमण देकर बोलें– **भगवन्! सुद्धा वसहि।** कालग्राही **तहत्ति** कहें। फिर कालग्राही और दांडीधर दोनों एक खमासमण देकर बोलें– **इच्छा. संदि. भगवन् पच्चक्खाण कर्युं छे जी।**

फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! स्थंडिल पडिलेहशुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** दांडीधर **'इच्छं'** कहें। तत्पश्चात नीचे बैठकर पाटली की 25 बोलपूर्वक प्रतिलेखना करें। फिर मुखवस्त्रिका की 25 बोलपूर्वक प्रतिलेखना कर उसे पाटली के ऊपर रखें। दोनों दंडियों की 10-10 बोलपूर्वक प्रतिलेखना कर मुखवस्त्रिका के ऊपर पृथक-पृथक रखें। तगडी (ठेसी) की चार बोलपूर्वक प्रतिलेखना कर उसे मुखवस्त्रिका पर रखें। तदनन्तर दांडीधर दायें हाथ में रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका और बांये हाथ में दंडी सहित पाटली को लेकर खड़ा हो जाए।

कालग्राही– उसके बाद कालग्राही 10 बोल द्वारा दंडासन की प्रतिलेखना कर पाटली स्थान की प्रमार्जना करें। दांडीधर वहाँ खड़ा रहे। फिर कालग्राही

कालमंडल करें। प्रत्येक कालग्रहण के 49-49 मांडला करें। यदि एक कालग्रहण हो तो 49, दो कालग्रहण लेने हों तो 98 मांडला करें। फिर पुनः पाटली रखने योग्य भूमि का प्रमार्जन करें। फिर दंडासन रखते समय दांडीधर कहे– **'दिशावलोक होय छे?'**। कालग्राही दंडासन नीचे रखते हुए कहे– **'होय छे'**।

दांडीधर– रजोहरण द्वारा उस भूमि को प्रमार्जित कर पाटली को स्थित करें। मुखवस्त्रिका से बायां हाथ और तगड़ी दोनों की तीन बार युगपद प्रतिलेखना कर तगड़ी को पाटली के ऊपर रखें। पाटली हिलती हो तो उस स्थान को प्रमार्जित कर तगड़ी रखें। फिर दांडीधर बैठे हुए एवं खड़े हुए एक-एक नमस्कार मन्त्र पूर्वक और कालग्राही खड़े हुए एक नमस्कार मन्त्र के स्मरण पूर्वक पाटली की स्थापना करें।

दांडीधर– फिर दांडीधर एक खमासमण देकर कहे– **इच्छा. संदि. वसहि पवेउं?** कालग्राही– **पवेयह।** दांडीधर– **'इच्छं'** कहकर खमासमण देकर बोले– **सुद्धावसहि।** कालग्राही **तहत्ति** कहे। फिर कालग्राही और दांडीधर दोनों एक खमासमण देकर अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें। फिर दायें हाथ को अपने सन्मुख करके एक नमस्कार मन्त्र के स्मरण पूर्वक पाटली का उत्थापन करें।

समीक्षा– यह विधि वर्तमान की संकलित कृतियों में उपलब्ध है। इस विषयक कुछ अंश विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर आदि में भी मौजूद हैं। यद्यपि वर्तमान परम्परा में जो स्वरूप प्राप्त है वह परवर्ती ग्रन्थों में ही दिखायी देता है। इस विधि के अन्तर्गत पाटली, तगडी, दंडी आदि शब्दों का प्रयोग संभवतः विक्रम की 18वीं-19वीं शती से अस्तित्व में आये हैं। विक्रम की 15वीं शती तक के ग्रन्थों में इन शब्दों का व्यवहार नहीं देखा जाता है। कुछ आचार्यों के मत से यह अध्यात्म तन्त्र की क्रिया है।

वस्तुतः यह विधि तपागच्छ परम्परा में सर्वाधिक रूप से प्रचलित है तथा सामुदायिक समाचारियों में भेद होने के कारण उनमें इस विधि को लेकर सामान्य अन्तर भी रहे हुए हैं।[78]

कालमंडल (पाटली) विधि

जिस स्थान विशेष या भू-क्षेत्र पर स्थित होकर कालग्रहण किया जाता है उसे कालमंडल कहते हैं। काल अर्थात समय विशेष का ज्ञान, मंडल अर्थात

गोलाकार या परिधियुक्त निर्धारित स्थान। जहाँ से शुद्ध-अशुद्ध काल का सम्यक ज्ञान किया जा सके, वह स्थान कालमंडल कहलाता है। कालग्रहण, क्रिया विशेष का सूचक है और कालमंडल-स्थान विशेष का वाचक है। यह विधि कालग्राही एवं दंडधर के द्वारा जैन मुनियों के उपाश्रय या उसके समीपवर्ती सुयोग्य वातावरण में सम्पन्न की जाती है। इसमें मुख्य रूप से पाटली स्थापन और तीन बार कालमंडल क्रिया करते हैं। जीत परम्परा के अनुसार कालमंडल की निम्न विधि कही गई है [79]–

पाटली स्थापन– सर्वप्रथम स्थापनाचार्य को खुला रखें। उसके आगे पाटली, मुखवस्त्रिका, दो दंडी और तगडी– इन वस्तुओं को अलग-अलग रखें। फिर मुखवस्त्रिका को पाटली के ऊपर रखें, दोनों दंडियों को बायीं और दायीं तरफ रखें तथा तगडी को पाटली स्थिर करने हेतु उपयोग में लें। फिर कालग्राही एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर रजोहरण से बायीं हथेली प्रमार्जित कर उस हाथ में पाटली लें और 25 बोल से उसकी प्रतिलेखना कर उसे भूमि पर रखें। फिर 25 बोल से मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर उसे पाटली पर रखें। फिर बायीं तरफ की दंडी की 10 बोल से प्रतिलेखना कर उसे मुखवस्त्रिका के ऊपर आड़ी रखें। फिर दायीं तरफ की दंडी उठाकर 10 बोल से प्रतिलेखना करें और उसे मुखवस्त्रिका पर उस तरह आडी रखें कि वह पहली दंडीधर को स्पर्श न कर सके।

फिर एक नमस्कार मन्त्र के स्मरण पूर्वक बैठे हुए और एक नमस्कार मन्त्र द्वारा खड़े होकर पाटली की स्थापना करें। यह पाटलीस्थापन की विधि है।

कालमंडल प्रतिक्रमण– तदनन्तर कालमंडल करते समय लगे हुए दोषों की आलोचना करने के लिए एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. कालमांडला पडिक्कमुं? इच्छं।** पुनः एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. कालमांडला पडिक्कमावणि काउस्सग्ग करूं? इच्छं।** फिर **कालमांडला पडिक्कमावणि करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठीमंत्र बोलें।

सज्झाय प्रतिक्रमण– तत्पश्चात स्वाध्याय करते समय लगे दोषों की आलोचना करने के लिए एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. सज्झाय**

पडिक्कमुं? इच्छं। पुनः खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. सज्झाय पडिक्कमावणि काउस्सग्ग करूं? इच्छं।** फिर **सज्झाय पडिक्कमावणि करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र बोलें।

प्रथम पाटली हो तो एक खमासमण पूर्वक वंदन कर अविधि आशातना का मिथ्यादुष्कृत दें और एक नमस्कार गिनकर पाटली का उत्थापन करें। यदि दूसरी पाटली हो तो काल प्रतिक्रमण सम्बन्धी निम्न क्रिया भी करें–

एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. पाभाइकाल** (जिस काल की पाटली हो उसका नाम लेते हुए) **पडिक्कमुं? इच्छं।** पुनः एक खमासमण सूत्र से वन्दन कर कहें– **इच्छा. संदि. पभाइकाल पडिक्कमावणि काउस्सग्ग करूं? इच्छं।** फिर **पभाइकाल पडिक्कमावणि करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। किसी तरह की अविधि या आशातना हुई हो, तो उसका मिथ्यादुष्कृत दें। तत्पश्चात एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर पाटली का उत्थापन करें।

समीक्षा– कालमंडल या पाटली एक गूढार्थ एवं रहस्यात्मक प्रक्रिया है। कुछ आचार्यों ने इसे तान्त्रिक क्रिया के रूप में स्वीकार किया है। उनका यह मानना है कि इसका मर्म अतिप्राचीन काल से अज्ञात है। निःसन्देह इस अनुष्ठान के माध्यम से सम्पन्न की जाने वाली क्रियाएँ जैसे– पाटली का स्थापन करना, उस पर दो दंडियाँ रखना, दंडी को कटि भाग पर खौंसना, नाक एवं दोनों कानों का अंगूठों से स्पर्श करवाना, रजोहरण की दसियों द्वारा दंडी ग्रहण करना, हाथ आदि का बार-बार प्रमार्जन करना आदि क्रियाएँ समझने योग्य हैं।

यदि प्रस्तुत विषय में प्राक ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो इतना अवश्य ज्ञात होता है कि विक्रम की दूसरी शती से 16वीं शती पर्यन्त उपलब्ध साहित्य में इस विषयक स्पष्ट उल्लेख हैं। मध्यकालीन (विक्रम की 12वीं से 16वीं शती पर्यन्त) साहित्य में कालमंडल विधि का भी उल्लेख है। जैसे कि व्यवहारभाष्य (5वीं से 7वीं शती) में 'कालभूमि' शब्द का निर्देश है।[80] तिलकाचार्यसामाचारी (12वीं शती) में 'कालमंडल प्रतिलेखना' नाम की स्वतन्त्र

विधि दी गई है।[81] विधिमार्गप्रपा (14वीं शती) में इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह विधि गुरुमुख से सीखनी चाहिए, इसे लिखकर पूर्ण नहीं किया जा सकता है।[82] आचारदिनकर (15वीं शती) में यह विधि कालग्रहण विधि के अन्तर्गत कही गयी है।[83]

श्वेताम्बर परम्परावर्ती तपागच्छ आदि सम्प्रदायों में इसे योगोद्वहन की आवश्यक विधि के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उक्त ग्रन्थों में यह विधि गुरु आम्नाय के अनुसार कही गई है। इस विधि के प्रारम्भ में 'पाटलीस्थापन' शब्द का उल्लेख परवर्ती परम्परा के आधार पर किया गया है, क्योंकि विक्रम की 16वीं शती तक के ग्रन्थों में लगभग इस तरह का सूचन नहीं है केवल परवर्ती कृतियों में यह स्वरूप प्राप्त होता है। यद्यपि विधिमार्गप्रपा आदि में 'दंडीधर' शब्द का उल्लेख है किन्तु पाटली, तगडी जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं है।

डॉ. सागरमल जैन के मन्तव्यानुसार स्वाध्याय योग्य काल का सम्यक निर्णय करने के उद्देश्य से पाटली और दंडीधर का प्रयोग पूर्वकाल से प्रचलित रहा है और आज भी कई जगह इन सामग्रियों के आधार पर सही काल का ज्ञान किया जाता है। तीसरा पक्ष यह ध्यातव्य है कि कालमंडल विधि का एक सुव्यवस्थित एवं प्रचलित स्वरूप विक्रम की 19वीं-20वीं शती की संकलित रचनाओं में ही उपलब्ध होता है। उसे जीतव्यवहार के रूप में मान्य करते हुए वही विधि यहाँ वर्णित की गई है तथा तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में भी कालमंडल की यही विधि प्रवर्तित है।

संघट्टा–आउत्तवाणय ग्रहण विधि

सामान्यतया कालिकसूत्रों के योगकाल में संघट्टा एवं आउत्तवाणय विधि की जाती है। निश्चित समय के लिए पात्र, झोली, डंडा, कंबली, आसन आदि ग्रहण करना और उस अवधि में गृहीत पात्र आदि को शरीर से संस्पर्शित कर रखना संघट्टा ग्रहण कहलाता है तथा संघट्टाग्रहण काल में रुधिर, नख, अस्थि, लोह आदि धातुओं का स्पर्श न करना आउत्तवाणय कहलाता है। कुछ परम्पराओं में केवल संघट्टा ग्रहण करते हैं और कुछ परम्पराओं में संघट्टा एवं आउत्तवाणय दोनों ग्रहण करते हैं।

जीतव्यवहार के अनुसार संघट्टा एवं आउत्तवाणय की ग्रहण विधि इस प्रकार है[84]–

सर्वप्रथम सूर्योदय से छह घड़ी (लगभग ढाई घंटा) का काल पूर्ण होने पर उग्घाड़ा पौरुषी के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर पात्र आदि प्रतिलेखन करने योग्य भूमि विशेष को दंडासन द्वारा निर्दोष (स्वच्छ) करें। फिर उस स्थान पर एक तार युक्त ऊनी कंबल खण्ड बिछायें। फिर महानिशीथसूत्र के योगकृत मुनि द्वारा प्रतिलेखित स्थापनाचार्य को खुला कर स्थापित करें। फिर उसके समक्ष पात्र झोली आदि को कंबल खण्ड पर रखकर सभी पात्रोपकरणों की 25-25 बोलपूर्वक प्रतिलेखना करें।

यदि चातुर्मास काल हो अथवा न भी हो तो प्रत्याख्यान पूर्ण करते समय दशवैकालिक सूत्र की 17 गाथा का स्वाध्याय कर लिया जाए उसके पश्चात एक तार वाला आसन बिछायें। फिर संघट्टा[85] में लेने योग्य वस्तुएँ जैसे– पात्र, झोली, तिरपणी, आसन आदि एक-दूसरे से स्पर्श न हो, इस तरह ऊनी खण्ड पर पृथक-पृथक रखें। दंड को बायीं तरफ स्थिर करें। उसके बाद ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर संघट्टाग्राही मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! भातपाणी[86] संघट्टे आउत्तवाणये वस्त्र, कंबली, झोली, पात्र, तिरपणी** आदि (जिन वस्तुओं को ग्रहण करना हो उन सभी के नाम लेते हुए) **निमित्त मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं,** कहकर यथाजातमुद्रा में बैठकर 50 बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को दायें पाँव पर अथवा शरीर से स्पर्शित करते हुए रखें।

तदनन्तर संघट्टा योग्य प्रत्येक उपकरण की 25-25 बोल द्वारा तीन-तीन बार प्रतिलेखना करें। ऐसे प्रत्येक की 25 × 3 = 75 बोल पूर्वक प्रतिलेखना करें, किन्तु ऊनी गुच्छा, डोरा एवं दंडी की 10-10 बोल द्वारा तीन बार कुल 30-30 बोल पूर्वक प्रतिलेखना करें। प्रतिलेखना करने के पश्चात इन वस्तुओं को शरीर या रजोहरण से स्पर्शित करते हुए रखें। यदि शरीर स्पर्श से दूर हो जाय तो पुन: से संघट्टा विधि करनी पड़ती है। इसी क्रम में तिरपणी में डोरी डालें और झोली की एक तरफ गाँठ लगाकर उसमें ढक्कन या पात्र रखकर दूसरी तरफ गाँठ लगायें। यह क्रिया करते हुए झोली आदि शरीर से संलग्न रहे। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। उसके बाद डंडे की 10 × 3 = 30 बोल पूर्वक प्रतिलेखना कर खड़े हो जायें। फिर डंडे को बायें पाँव के अंगुष्ठ पर बायें हाथ के अंगूठे का सहारा देकर स्थिर करें। यहाँ डंडे को इस तरह स्थिर करें कि उससे चोलपट्ट आदि किसी वस्तु का स्पर्श न हो। उसके पश्चात दाहिने हाथ में

मुखवस्त्रिका धारणकर एवं उसे डंडे के सम्मुख कर एक नमस्कार मन्त्र गिनें और दंड की स्थापना करें। फिर संघट्टग्राही मुनि खड़े-खड़े ही निम्न विधि करें–

एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. संघट्टो संदिसाहुं? इच्छं।** पुनः एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. संघट्टो लेउं? इच्छं।** फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. संघट्टो लेवावणियं काउस्सग्गं करूं? इच्छं।** फिर **संघट्टो लेवावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। उसे पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर एक खमासमण देकर अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें। दाहिने हाथ को स्वयं की ओर करके एक नमस्कार मन्त्र बोलें और डंडे का उत्थापन करें।

यदि आउत्तवाणय ग्रहण करना हो तो 'अविधि आशातना' किये बिना योगवाही मुनि एक खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर कहें– **इच्छा. संदि. आउत्तवाणय संदिसाहुं? इच्छं।** फिर एक खमासमण द्वारा कहें– **इच्छा. संदि. आउत्तवाणय लेऊं? इच्छं।** फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. आउत्तवाणय लेवावणियं काउस्सग्ग करूं? इच्छं। आउत्तवाणय लेवावणियं करेमि काउस्सग्गं.,** पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। उसे पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। अविधि आशातना का मिच्छामि दुक्कडं दें। डंडे का उत्थापन करें।

संघट्ट ग्रहण की विशेष विधि

कालिक सूत्रों के योग में चर एवं स्थिर दो तरह के संघट्टा ग्रहण किए जाते हैं। आचार्य वर्धमानसूरि ने चरसंघट्टा की विधि इस प्रकार प्रतिपादित की है[87]–

चरसंघट्टा– कालिक योगवाही साधु व्यायाम हेतु एवं भिक्षा हेतु दूसरे कृतयोगी मुनि को साथ लेकर जाएं, अकृत योगी के साथ कहीं भी न जाएं। वह मार्ग में चलते हुए गाय आदि का स्पर्श न करें। पंचेन्द्रिय जीवों एवं दो मुनियों के बीच में से निकलते समय उनका संस्पर्श न करें। इसी प्रकार लता, वृक्ष आदि जीवनिकाय का स्पर्श भी न करें।

योगवाही साधु वसति में से संघट्टा लेकर निकलें। भिक्षाचर्या हेतु गमन करने से पूर्व ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। उसके बाद योगवाही मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टं संदिसावेमि?–** हे

भगवन्! आपकी इच्छापूर्वक संघट्टग्रहण की आज्ञा लेता हूँ। फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टं करेमि–** हे भगवन्! आपकी इच्छापूवक संघट्टा ग्रहण करता हूँ। फिर **संघट्टसंदिसावणत्थं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक** अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मंत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मंत्र बोलें। भिक्षाचर्या से लौटकर पुनः ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टं पडिक्कमामि–** हे भगवन्! आपकी इच्छापूर्वक संघट्ट में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। फिर एक खमासमण पूर्वक **संघट्टस्स पडिक्कमणत्थं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर प्रकट में नमस्कार मंत्र बोलें।

स्थिर संघट्टा– आचारदिनकर के मतानुसार हाथ, पाँव, रजोहरण, पात्र, डोरी, झोली आदि का स्थिर संघट्टा ग्रहण किया जाता है। इनकी विधियाँ निम्न हैं–[87]

सर्वप्रथम संघट्टाग्राही मुनि ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर पात्र, झोली, डोरी आदि को अपने निकट रखकर स्वयं काष्ठासन या पादप्रोंछन पर दोनों घुटनों को खड़ा करते हुए बैठें। फिर सबसे पहले हाथ का संघट्टा ग्रहण करें। मुखवस्त्रिका सहित रजोहरण की दस्सियों को अग्रभाग में स्थित करें और रजोहरण की दण्डी को गोद में दायीं तरफ स्थापित करें तथा दाएँ हाथ से उसका स्पर्श करें।

हाथ संघट्टा– हाथ संघट्टा की विधि यह है– रजोहरण की दस्सियों के ऊपर दोनों हाथों को संयुक्त कर एवं अधोमुख करके स्थापित करें। फिर हाथों की हथेलियों को आकाश की ओर फैलायें। इस तरह की प्रक्रिया तीन बार करें।

पांव संघट्टा– दोनों पैरों के तलियों को समान रूप से मिलाकर उनकी रजोहरण से तीन बार प्रमार्जना करें। फिर पाँवों को अलग-अलग कर दें। उसके बाद पुनः पाँवों के तलि भाग को मिलायें– इस तरह तीन बार करें। कुल तीन बार में नौ बार प्रमार्जना करें।

पैरों का संघट्टा लेने के पश्चात दोनों हाथों को दोनों घुटनों के बीच में रखें। दोनों हाथों को घुटनों के बाहर रखने पर संघट्टा चला जाता है। दोनों हाथ घुटनों से बाहर होने पर गृहीत वस्तु का संघट्टा होते हुए भी संघट्टा नहीं रहता है। इसी तरह दोनों पैरों को नीचे की तरफ फैलाने से और उन्हें पुनः नीचे की तरफ लेने

पर गृहीत वस्तु संघट्टित (संस्पर्शित) होने पर भी संघट्टित नहीं कहलाती है यानी पैरों को फैलाने से संघट्टा चला जाता है। यदि पैरों का संघट्टा नहीं लिया हो तो असंघट्टित दोनों पैरों को भीतर की तरफ करके पात्रादि का संघट्टा लेने पर भी गृहीत पात्रादि संघट्टित नहीं कहलाते हैं। अत: हाथ और पैरों का संघट्टा लेते समय पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। संघट्टा कृतयोगी मुनि द्वारा ही लिया जाना चाहिए, अकृतयोगी द्वारा लिया गया संघट्टा नहीं माना जाता है। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, बृहत्कल्प, व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध- इन सूत्रों का योग किया हुआ मुनि कृतयोगी कहलाता है। इससे न्यून सूत्रों का योगवाही मुनि अकृतयोगी कहलाता है। इस प्रकार उपयोग पूर्वक हाथ एवं पैरों का संघट्टा ग्रहण करने के पश्चात रजोहरण का संघट्टा ग्रहण करें।

रजोहरण संघट्टा- रजोहरण संघट्टा की विधि निम्न है- दाएँ हाथ में रजोहरण की दण्डी को पकड़कर बाएँ हाथ से उसके दस्सियों से युक्त भाग को पकड़ें। फिर दाएँ हाथ की अंगुलियाँ और अंगुष्ठ को घुमाएं- यह प्रक्रिया तीन बार करें। पुन: दाएँ हाथ से रजोहरण को पकड़ें और बायें हाथ में चुल्लू भर पानी लेकर रजोहरण की दस्सियों के अग्रभाग को तीन बार प्रक्षालित करें। फिर बायें हाथ की हथेली को फैलाकर उसकी रजोहरण से तीन बार प्रमार्जना करें- यह प्रमार्जन क्रिया तीन-तीन बार कुल $3 \times 3 = 9$ बार करें।

झोली संघट्टा- रजोहरण के पश्चात झोली का संघट्टा लें। यह विधि इस प्रकार है- झोली के चारों किनारों को मिलाकर दोनों हाथों के मध्य भाग में रखें, फिर तीन बार दक्षिणावर्त्त घुमाते हुए रजोहरण के ऊपर रखें, फिर तीन बार वामावर्त्त घुमाते हुए रजोहरण के ऊपर रखें- यह प्रक्रिया तीन बार करें। उसके बाद दो-दो किनारे मिलाकर झोली में दो गाँठ लगाएँ और बायें हाथ पर डालें।

पात्र संघट्टा- सामान्यतया लकड़ी के पात्र, नारियल के पात्र, तुम्बी के पात्र, मिट्टी के पात्र, कटह (घड़े के ऊर्ध्वभाग को तोड़कर बनाया गया) पात्र एवं ढक्कन की प्रतिलेखना विधि पंचवस्तुक, यतिदिनचर्या आदि ग्रन्थों से जाननी चाहिए। पात्र आदि संघट्टा की विधि यह है- संघट्टित झोली के अन्दर जितने पात्र रखे जाते हैं वे सभी संघट्टित ही होते हैं। नारियल एवं तुम्बी पात्र का संघट्टा ग्रहण करने पर उन्हें दोनों पैरों के मध्य में रखें।

डोरी संघट्टा- डोरी के गाँठ लगाकर उसे रजोहरण के ऊपर तीन-तीन

बार दोनों हाथों से फिराएं– यह डोरी संघट्टन की विधि है। फिर नारियल एवं तुम्बी के पात्र में डोरी रखें।

संघट्टा सम्बन्धी आवश्यक निर्देश

यहाँ पात्र आदि के संघट्ट-असंघट्ट सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उल्लेखनीय हैं–

• आचार्य वर्धमानसूरि के मतानुसार यदि नारियल एवं तुंबी के पात्र संघट्टित डोरे से संलग्न (स्पर्शित) हो तो हाथ और पैरों से अस्पर्शित होने पर भी उनका संघट्टा नहीं जाता है।

इसी प्रकार संघट्टा पूर्वक ग्रहण किया गया ढक्कन भी शरीर से अस्पर्शित किन्तु नारियल एवं तुम्बी पात्र के ऊपर स्थापित कर दिया जाए तो उसका संघट्टा नहीं जाता है। यदि डोरी हाथ-पैरों से स्पर्शित हो तो उस डोरी से संलग्न पात्र आदि असंघट्टित हो जाते हैं। यदि संघट्टा पूर्वक ग्रहण की गई डोरी शरीर से स्पर्शित हो और उस डोरी से संलग्न पात्रादि हाथ-पैरों से अस्पर्शित हों तो वे संघट्टित ही रहते हैं।

• जो पात्र संघट्टा पूर्वक ग्रहण किए गए हैं और डोरी से गृहीत हैं, वे शरीर को स्पर्शित नहीं कर रहे हों तो उनके ऊपर दूसरा पात्र रख सकते हैं, किन्तु तीसरा पात्र नहीं रखना चाहिए, क्योंकि संघट्ट पात्र के ऊपर तीसरा पात्र रखने पर उसका संघट्टा चला जाता है।

• जिन पात्रों को संघट्टा पूर्वक ग्रहण किया गया है, वे हाथ और पैर से स्पर्शित हों, परन्तु डोरी हाथ या पैर से छूट गई हो तब भी डोरी संघट्ट ही रहती है, उसका संघट्टा जाता नहीं है। काष्ठ पात्र को पकड़ते समय अंगूठा भीतर की तरफ और अंगुलियाँ बाहर की तरफ रहें तो वह काष्ठपात्र संघट्टित ही रहता है किन्तु अन्य तरह से पकड़ने पर उसका संघट्टा चला जाता है।

• अंगुलियाँ भीतर डालते हुए एवं अंगूठे को बाहर करके नारियल एवं तुम्बी के पात्र पकड़ें तो वह संघट्टित ही रहता है, किन्तु अन्य तरह से पकड़ने पर इनका संघट्टा चला जाता है।

• पूर्व निर्दिष्ट विधि के अनुसार झोली के भीतर रखे गए पात्र भी संघट्टित की तरह ही होते हैं। उसमें एक के ऊपर एक ऐसे तीन-चार पात्र रखने पर भी तीसरे-चौथे क्रम पर रखे गए संघट्टित पात्र का संघट्टा बना रहता है। उन संघट्टित

पात्रों में विधिपूर्वक लाया गया आहार आदि संघट्टा लिये हुए कृतयोगी के हाथ में अच्छी तरह प्रदान करें।

• आधे बैठे हुए की मुद्रा में आहारादि देने या लेने पर संघट्टा चला जाता है। निद्रा लेते हुए एवं विकथा करते हुए आहार आदि ग्रहण करने पर संघट्टित पात्र आदि सभी वस्तुएँ असंघट्टित मानी जाती हैं।

• निम्न स्थितियों में भी संघट्टित वस्तुएँ असंघट्टित हो जाती हैं यानी संघट्ट वस्तुओं का संघट्टा चला जाता है।

1. भूमि पर रखी गई वस्तु को ग्रहण करते समय।
2. संघट्टग्राही मुनि के शरीर का रजोहरण या मुखवस्त्रिका से स्पर्श नहीं होते समय।
3. गमन करते हुए या खड़े हुए मुनि द्वारा डंडे को बाएँ हाथ के अंगूठे एवं तर्जनी के बीच रखते समय।
4. गमन करते हुए या खड़े हुए मुनि द्वारा भुजाओं को दाएँ से बाएँ अथवा बाएँ से दाएँ ले जाते समय असंघट्ट होता है।

यह स्थिर संघट्टा की विधि है।

• पात्रादि सम्बन्धी स्थिर संघट्टा ग्रहण करने वाले मुनि यह ध्यान रखें कि नारियल एवं तुंबी के पात्रों के नीचे हाथीदाँत या सींग आदि के स्थापक लगे हुए हों तो उन्हें संघट्टा हेतु ग्रहण न करें।

• टूटे हुए पात्रों को जोड़ने में या तिरपनी को सांधने में लोहा, ताँबा, जस्ता, चाँदी, सोने के तार या कपड़े आदि का उपयोग न करें, क्योंकि कालिक सूत्रों के योग में लोहा आदि से सांधे हुए पात्र उपयोगी नहीं होते हैं।

• कुछ आचार्यों के अभिमत से संघट्टग्राही (कालिक योगवाही) मुनि को तांबा, लोहा, हाथी दाँत, जस्ता आदि के पात्र से भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए, अन्यथा संघट्टा चला जाता है।[88]

• संघट्टा या आउत्तवाणय लेते हुए छींक आ जाये, अक्षर न्यूनाधिक बोला जाये, एक अक्षर दो बार कहा जाये, रजोहरण-मुखवस्त्रिका शरीर से विलग हो जाये, कोई व्यक्ति संघट्टाग्राही से स्पर्शित हो जाये अथवा संघट्टा ग्रहण करते समय स्थापनाचार्य और स्वयं के बीच में से पंचेन्द्रिय जीव आर-पार हो जाये तो संघट्ट सम्बन्धी सभी क्रिया निष्फल हो जाती है, तब दुबारा संघट्ट क्रिया करनी पड़ती है।

• संघट्टाग्रहण करने के बाद एक आचार्य के साथ भिक्षाचर्या करते हुए पंचेन्द्रिय जीव की आड़ (व्यवधान) पड़ जाए तो गृहीत आहार-पानी योगवाही मुनि के लिए अशुद्ध हो जाते हैं, उस स्थिति में दुबारा संघट्टा लेकर आहार लायें तो उसके लिए उपयोगी होता है। जीत आचरणा के अनुसार यदि संघट्टाग्राही मुनि के साथ दो आचार्य अथवा गणि, पंन्यास, उपाध्याय हों तो पंचेन्द्रिय जीव का व्यवधान पड़ने पर भी भक्तपान दूषित नहीं होता है, योगवाही के उपयोग में आ सकता है।

• संघट्टा पूर्वक ग्रहण किए गए पात्र, तिरपणी आदि शरीर से अलग हो जाये, हाथ से छूट जाये, संघट्ट स्थान से बाहर गिर जायें तो उसमें निविष्ट खाद्य सामग्री योगवाही के लिए अनुपयोगी हो जाती है। यदि उसे ग्रहण कर लिया जाए तो दिन गिरता है।

• जिस सूत्रयोग में आउत्तवाणय ग्रहण किया हो, उसके योगकाल में योगवाही को अखंड धान्य, खांखरा, अखंडमेथी,पापड़ या आवाज करने वाली किसी तरह की खाद्य वस्तु का उपभोग नहीं करना चाहिए। कुछ परम्पराओं के अनुसार मंडली सम्बन्धी सात आयंबिल के सिवाय शेष सभी सूत्रों के योगकाल में अखंड धान्य, खाखरा आदि वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए।

• आहार-पानी करने के पश्चात पात्र आदि को यथास्थान रखना हो तो सभी सूत्रों के योगकृत मुनि के समीप आकर निम्न विधि करें–

'इच्छा. संदि. भगवन्! संघट्टे (आउत्तवाणय) **पात्र, तिरपणी, वस्त्र, कंबली, आसन** (जिन उपकरणों का संघट्टा छोड़ना हो, उन सभी के नाम लेते हुए) **आदि रखूं?** 'रखूं' यह शब्द बोलते हुए त्यागने योग्य सभी उपकरणों को एक साथ रख दें। उसके बाद **दाणोदूणी छूटाने भले?–** संघट्ट–कुसंघट्टे मिच्छामि दुक्कडं। महानिशीथ योगवाही से तिविहार के प्रत्याख्यान करें। फिर चैत्यवंदन करें।

समीक्षा– यह विधि आगमयुग से लेकर विक्रम की 17वीं शती पर्यन्त के ग्रन्थों में लगभग स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती है। परवर्ती संकलित कृतियों में इसका स्वरूप अवश्य देखने को मिलता है। सम्भवत: जीतव्यवहार के अनुसार इस विधि का संकलन किया गया है ऐसा ज्ञात होता है। सामान्यतया खरतरगच्छ आदि सर्व परम्पराओं में इस विधि को लेकर मतैक्य है।

स्वाध्याय प्रस्थापना विधि

आगम सूत्रों का प्रारम्भिक अभ्यास एवं उनका अर्थ बोध करने के उद्देश्य से एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा आभ्यन्तर एवं बाह्य वातावरण को तदनुकूल संयोजित करना स्वाध्याय प्रस्थापना कहलाता है। व्यवहार भाष्य के मतानुसार स्वाध्याय प्रस्थापना विधि इस प्रकार है–[89]

सर्वप्रथम कालग्राही, कालग्रहण करके गुरु के समीप पहुँचें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर 'कालशुद्ध है' ऐसा निवेदन करें। उसके बाद स्वाध्याय की प्रस्थापना करें। स्वाध्याय प्रस्थापना करने के पश्चात कालग्राही मुनि वसति के बाहर काल का निरीक्षण करें, इसमें ग्राह्य एवं अग्राह्य काल का ध्यान रखें अर्थात किन्हीं दिशाओं में से विद्युत गर्जना, रोमांचकारी ध्वनियाँ, छींक आदि की आवाज तो नहीं आ रही है? यदि कालग्रहण करते समय भी छींक आदि किसी तरह का व्याघात हो जाये तो स्वाध्याय का नाश हो जाता है यानी आगमसूत्र की वाचना नहीं दी जा सकती है। तदर्थ कालग्राही को पुनः दिशावलोकन करना होता है। उस समय दंडधर मुनि स्वाध्याय प्रस्थापना के लिए वसति में प्रवेश करें एवं स्वाध्याय की प्रस्थापना करें। इस हेतु गुरु को वंदन भी करें।

फिर योगवाही साधुओं से पूछें– भंते! स्वाध्याय में व्यवधान उत्पन्न करने वाले तथ्यों के विषय में किसी ने क्या कुछ देखा या सुना है? तब सभी साधु जिसने व्यवधान कारक तथ्यों के सम्बन्ध में जो सुना या देखा है, वह सब कहें। यदि सभी कहें कि इस सम्बन्ध में कुछ भी न तो सुना है और न देखा है तब काल शुद्ध है, ऐसा समझना चाहिए। उसके पश्चात जिस आगम सूत्र का पाठ ग्रहण करना हो, उस विषयक अध्ययन प्रारम्भ करें।

खरतरगच्छाचार्य जिनप्रभसूरि ने स्वाध्याय प्रस्थापना की निम्न विधि प्रवेदित की है [90]–

वाचनाचार्य और योगवाही शिष्य स्थापनाचार्य के समक्ष उपस्थित होकर स्वाध्याय प्रस्थापना करें।

निवेदन– सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें। फिर वाचनाचार्य एवं योगवाही मुनि दोनों एक खमासमण देकर बोलें– **'इच्छाकारेण संदिसह सज्झाउ संदिसावहं'–** आप अनुमति दीजिये कि हम स्वाध्याय प्रारम्भ करें। पुनः एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छाकारेण संदिसह**

सज्झाउ पाठविसहं' – आप अनुमति दीजिए कि हम अमुक पाठ का स्वाध्याय प्रारम्भ करें।

प्रस्थापन– फिर जितना शुद्ध हो सके उतना मौन पूर्वक (अन्तर मन से) **सज्झाय पट्ठवणत्थं करेमि काउस्सग्गं** कहकर अन्नत्थसूत्र पूर्वक एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर दोनों हाथों का संपुट बनाएं तथा रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को यथायोग्य धारण कर लोगस्ससूत्र का मौनपूर्वक पाठ करें। तदनन्तर दशवैकालिकसूत्र की प्रारम्भिक 17 गाथाओं का उच्चारण करें। फिर दोनों भुजाओं को लम्बा कर एक परमेष्ठी मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। उसे पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। तत्पश्चात वाचनाचार्य और योगवाही द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

प्रवेदन– तदनन्तर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छाकारेण संदिसह सज्झाउ पवेयहं–** आप स्वेच्छा से आज्ञा दीजिए कि हम स्वाध्याय काल की शुद्धि का प्रवेदन करें। पुन: एक खमासमण देकर कहें– **इच्छाकारि तपसियहु सज्झाउ सूझइ?** आप सभी योगवाहियों के लिए यह स्वाध्याय काल शुद्ध है? तब सभी योगवाही बोलें– **सूझइ**-शुद्ध है।

स्वाध्याय प्रारम्भ– फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसावेमि।** पुन: एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करेमि।**

इतना कह दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की पाँच गाथा पढ़ें। उसके पश्चात वाचनाचार्य कंबल के आसन पर और योगवाही शिष्य वर्षाऋतु हो तो काष्ठासन पर तथा ऋतुबद्ध काल हो तो पादपोंछन के आसन पर रजोहरण को स्थापित करें। फिर वाचनाचार्य एक खमासमण देकर कहें– **इच्छाकारि तपसियहु दिट्ठं सुयं–** आप लोगों ने स्वाध्याय में विघ्न कारक कुछ देखा या सुना है? सभी योगवाही बोलें– **न किंचि।** फिर स्वाध्याय प्रारम्भ करें।

तपागच्छ परम्परा में स्वाध्याय प्रस्थापना की निम्न विधि प्रचलित है– सर्व प्रथम वसति के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त भूमि का शोधन करें, फिर वसति के आभ्यन्तर भाग का प्रमार्जन करें, स्थापनाचार्य को खुला रखें, एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

पाटलीस्थापन– तदनन्तर नीचे बैठकर पाटली (25 बोल), मुखवस्त्रिका (25 बोल), दंडी (10 बोल) एवं तगड़ी की (4 बोल पूर्वक) प्रतिलेखना करें।

पूर्ववत पाटली के ऊपर मुखवस्त्रिका एवं एक दंडी रखें। दूसरी दंडी पाटली की बायीं तरफ रखें। फिर बैठे हुए एक नमस्कार मन्त्र से पाटली और एक नमस्कार मन्त्र से बायीं तरफ रखी गई दंडी की स्थापना करें, फिर खड़े होकर एक नमस्कार मन्त्र से पाटली की स्थापना करें।

निवेदन– तत्पश्चात एक खमासमण देकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

फिर खमा. **इच्छा. संदि. सज्झाय संदिसाहुं? इच्छं।**

पुनः खमा. **इच्छा. संदि. सज्झाय पठाउं? इच्छं।**

फिर **सज्झाय पट्ठावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग, लोगस्ससूत्र, दशवैकालिकसूत्र की 17 गाथा, पुनः एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर द्वादशावर्त्तवन्दन तक की विधि पूर्ववत करें। फिर खड़े होकर **इच्छा. संदि. सज्झाय पवेउं? इच्छं,** खमा. **इच्छकारी साहवो सज्झाय सुज्झे?** सभी योगवाही कहें– **सुज्झे।** योगवाही शिष्य– **भगवन्! मु सज्झाय शुद्ध।** खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करूँ? इच्छं।** नीचे बैठकर एक नमस्कार मन्त्र पूर्वक दशवैकालिकसूत्र की पाँच गाथा बोलें। फिर दो खमासमण पूर्वक बैठने का आदेश लें। अविधि एवं आशातना का मिच्छामि दुक्कड़ दें। एक नमस्कार मन्त्र गिनकर पाटली का उत्थापन करें।[91]

समीक्षा– स्वाध्यायप्रस्थापना कालिकसूत्रों के योग का एक आवश्यक अनुष्ठान है। यदि इस अनुष्ठान की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करें तो विक्रम की दूसरी शती से 16वीं शती पर्यन्त के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। व्यवहारभाष्य[92], तिलकाचार्य सामाचारी[93], सुबोधासामाचारी,[94] विधिमार्गप्रपा,[95] आचारदिनकर[96] आदि इस विषय के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। यदि उक्त ग्रन्थों एवं प्रचलित परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन किया जाए तो निम्न तथ्य दृष्टिगत होते हैं–

1. सामान्यतया इस अनुष्ठान को करते समय स्वाध्याय प्रारम्भ करने का निवेदन, अनुज्ञापन, प्रस्थापन, प्रवेदन और स्वाध्याय का प्रारम्भ– इतने चरण सम्पन्न किये जाते हैं। विधिमार्गप्रपा आदि विधि ग्रन्थों में परस्पर आलापक पाठ, वन्दन संख्या आदि को लेकर कुछ मतभेद हैं।

2. विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में इस विधि को स्थापनाचार्य के समक्ष करने का उल्लेख है किन्तु स्थापनाचार्य खुले होने चाहिए, यह सूचन नहीं है जबकि तपागच्छ परम्परा में खुले स्थापनाचार्य रखने का प्रावधान है।
3. तिलकाचार्य सामाचारी,सुबोधा सामाचारी एवं विधिमार्गप्रपा के अनुसार वाचनाचार्य और योगवाही शिष्य द्वारा यह अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है। वहीं व्यवहारभाष्य में कालग्राही मुनि के द्वारा करने का उल्लेख है। आचारदिनकर में इस विषयक स्पष्ट निर्देश नहीं है, किन्तु अनुवादिका साध्वी मोक्षरत्ना जी ने कालग्राही या योगवाही मुनि का उल्लेख किया है। तपागच्छ परम्परा में योग की क्रिया महानिशीथ, नन्दी एवं अनुयोग सूत्रों के जोग किए हुए मुनि भगवन्त ही करवाते हैं। यहाँ वाचनाचार्य पद से इन मुनियों का ग्रहण है। अत: यह जरूरी नहीं है कि क्रियाकारक काल ग्राही मुनि ही हों।
4. विधिमार्गप्रपा एवं सुबोधा सामाचारी के मतानुसार इस अनुष्ठान में दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन किया जाता है तथा तिलकाचार्य सामाचारी, आचार दिनकर एवं तपागच्छ की परम्परानुसार द्वादशावर्त्त वन्दन तीन बार किया जाता है।
5. विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में स्वाध्याय प्रस्थापना के प्रारम्भ में पाटली स्थापन करने का उल्लेख नहीं है जबकि तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में पाटली स्थापन विधि की जाती है।
6. उपर्युक्त ग्रन्थों में कतिपय आलापक पाठों को छोड़कर शेष स्वाध्याय प्रस्थापना विधि समान रूप से उल्लिखित हैं किन्तु आचार दिनकर में निम्न पाठ अतिरिक्त कहा गया है– स्वाध्याय प्रस्थापना की समग्र क्रिया पूर्ण करने के पश्चात कालमण्डल में जाकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, फिर कालग्रहण की भाँति तीन बार कालमंडल की प्रतिलेखना करें, फिर 'मण्डूक प्लुत' न्याय से मेंढक की तरह फुदकते हुए चलकर काल मण्डल में प्रवेश करें।

स्वाध्याय प्रस्थापना प्रतिक्रमण विधि

स्वाध्याय प्रस्थापना एवं गुरु मुख द्वारा स्वाध्याय करते समय लगे हुए दोषों से निवृत्त होना 'स्वाध्याय प्रस्थापना प्रतिक्रमण' कहलाता है। आगम सूत्रों

के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञादि पूर्ण कर लेने के पश्चात यह विधि की जाती है।

विधिमार्गप्रपा आदि के अभिमतानुसार स्वाध्याय प्रतिक्रमण करने के लिए कालग्राही और दंडधर एक खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर कहें– **सज्झाउं पडिक्कमहं–** स्वाध्याय प्रस्थापनादि करते समय लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करते हैं। फिर एक खमासमण देकर कहें– **सज्झाय पडिक्कमणत्थु काउसग्गु करेहं–** स्वाध्याय में लगे दोषों से निवृत्त होने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं, इतना कह अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र बोलें।

इसी तरह प्राभातिक, वैरात्रिक, व्याघातिक एवं अर्द्धरात्रिक के नामोच्चारण पूर्वक काल का प्रतिक्रमण करें।

जैसे कि एक खमासमण देकर कहें–**पाभाइकालं पडिक्कमहं।**

पुनः एक खमासमण देकर कहें– **पाभाइकाल पडिक्कमणत्थु काउस्सग्गु करेहं** पूर्वक, अन्नत्थ सूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में परमेष्ठी मन्त्र बोलें।

स्वाध्याय प्रस्थापना सम्बन्धी नियम

• स्वाध्याय प्रस्थापना की क्रिया कालग्रहण एवं कालप्रवेदन के पश्चात की जाती है। • यह अनुष्ठान विधि वाचनाचार्य और योगवाही मुनियों के द्वारा सम्पन्न होती है। • इस विधि में कालग्राही एवं दांडीधर मुनि की कोई भूमिका नहीं रहती है। • कुछ सामाचारियों के अनुसार स्वाध्याय प्रस्थापना खुले स्थापनाचार्य के समक्ष की जानी चाहिए।

• स्वाध्याय प्रस्थापना करते समय अनुष्ठान करने वाले योगवाही एवं अनुष्ठान करवाने वाले आचार्य दोनों ही एक-एक स्वाध्याय की प्रस्थापना करें। यदि अनुष्ठान कराने वाले आचार्य का स्वाध्याय निष्फल हो जाये और अन्य आचार्य आदि न हों तो योगवाही दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना करें, ऐसी परम्परागत मान्यता है।

• स्वाध्याय प्रस्थापक योगवाही एक से अधिक हों तो पहले एक मुनि पाटली आदि की प्रतिलेखना करें, फिर सभी योगवाही एक साथ पाटली की स्थापना करें।

• स्वाध्याय प्रस्थापन करते समय अनुपयोगवश किसी योगवाही का

स्वाध्याय भंग हो जाये तो वह दूसरी पाटली लेकर फिर से स्वाध्याय प्रस्थापन क्रिया करें।

• प्रभातकाल में वैरात्रिक और प्राभातिक दोनों काल की स्वाध्याय प्रस्थापना करनी हो तो अनुष्ठान कराने वाले आचार्यादि दोनों काल के बीच प्राभातिक काल सम्बन्धी एक ही स्वाध्याय प्रस्थापना करें, यदि व्याघातिक और अर्द्धरात्रिक काल की स्वाध्याय प्रस्थापना करनी हो तो दोनों काल की पृथक-पृथक स्वाध्याय प्रस्थापना करें।

व्यवहारभाष्य के मतानुसार जो मुनि स्वाध्याय प्रस्थापना के समय उपस्थित रहते हैं उनके लिए ही गृहीत काल शुद्ध माना जाता है और जो उपस्थित नहीं होते हैं उनके लिए वह काल शुद्ध नहीं होता है। जिन योगवाहियों का काल शुद्ध रूप से ग्रहण नहीं होता वे उस अशुद्ध काल में नया पाठ या वाचन आदि स्वाध्याय नहीं कर सकते हैं। इसका कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो समुदाय में सम्मिलित नहीं होता, उसे भाग नहीं दिया जाता है। इसी प्रकार स्वाध्याय की प्रस्थापन वेला में जो प्रमादी मुनि सम्मिलित नहीं होते, उन्हें उस कालग्रहण का लाभ नहीं देना चाहिए।

• एक या दो मुनियों को अस्वाध्याय सम्बन्धी शंका हो तो स्वाध्याय किया जा सकता है, किन्तु तीन मुनियों को शंका हो तो स्वाध्याय नहीं किया जाना चाहिए। स्वगण में शंका उत्पन्न होने पर परगण में जाकर नहीं पूछना चाहिए, क्योंकि जहाँ अस्वाध्याय होता है वहीं शंका होती है। स्थान की भिन्नता के कारण परगण में वह न भी हो। इसका भावार्थ यह है कि स्वाध्याय प्रस्थापना के समय दंडधर द्वारा पूछे जाने पर किसी एक-दो मुनि को विद्युत गर्जना, छींक, कलह आदि रूप व्याघात होने की शंका हो तो काल शुद्ध मानकर स्वाध्याय किया जा सकता है,परन्तु तीन आदि साधुओं को उक्त शंका होने पर स्वाध्याय नहीं किया जाता है। मन की शंका के निवारणार्थ समीपवर्ती अन्य गणों में पूछने हेतु भी नहीं जाना चाहिए, क्योंकि अस्वाध्याय का कारण उपस्थित रहने पर ही शंका होती है। अत: उस समय स्वाध्याय का परिहार करना उचित है।[97]

• आचार्य वर्धमानसूरि के निर्देशानुसार कालिक योगवाही को प्रतिदिन प्रभातकाल में कालग्रहण की दो घड़ी और प्रतिलेखना की दो घड़ी छोड़कर दो-दो मुहूर्त्त के दो स्वाध्यायों की प्रस्थापना करनी चाहिए।[98]

• परम्परागत सामाचारी के अनुसार एक कालग्रहण लिया हो तो कालप्रवेदन के तुरन्त बाद एक स्वाध्याय प्रस्थापना करनी चाहिए और दो कालग्रहण लिए हों तो दो स्वाध्याय की प्रस्थापना करनी चाहिए। इसके बाद उस अनुष्ठान सम्बन्धी क्रिया करनी चाहिए।[99]

• अनुष्ठान क्रिया करने से पहले स्वाध्याय प्रस्थापना करनी हो तो स्वाध्याय अनुष्ठान की क्रिया कराने वाले आचार्य आदि को भी स्वाध्याय प्रस्थापना करनी चाहिए।

• अनुष्ठान करते समय एक काल ग्रहण किया हो तो अनुष्ठान के पहले एक स्वाध्याय और अनुष्ठान के पश्चात दो स्वाध्याय की प्रस्थापना करनी चाहिए। तदुपरान्त तीन-तीन बार पाटली स्थापना करनी चाहिए। यदि अनुष्ठान करते समय दो काल ग्रहण किए हों तो अनुष्ठान क्रिया के पहले दो स्वाध्याय और अनुष्ठान क्रिया के बाद एक स्वाध्याय ऐसे तीन स्वाध्यायों की प्रस्थापना करनी चाहिए। इसी तरह तीन बार पाटली स्थापना करनी चाहिए। तत्पश्चात दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना और दो बार पाटली स्थापना करनी चाहिए।

• कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापना और पाटली स्थापना का क्रम इस प्रकार है– रात्रि सम्बन्धी (वैरात्रिक-प्राभातिक) दो कालग्रहण लिए हों तो दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना करें। फिर अनुष्ठान विधि करें। उसके बाद एक स्वाध्याय प्रस्थापना करके तीन बार पाटली स्थापना करें। तीसरी पाटली के समय व्याघातिक काल का आदेश माँगे। तदनन्तर दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना और दो बार पाटली स्थापना करें। दूसरी पाटली के समय अर्द्धरात्रि काल का आदेश मांगे।

प्रभातकाल में दो कालग्रहण लिए हों तो दो बार स्वाध्याय प्रस्थापना करके अनुष्ठान क्रिया करें, फिर एक स्वाध्याय प्रस्थापना कर तीन बार पाटली स्थापना करें। तीसरी पाटली में वैरात्रिक और अन्त की दो पाटली में प्राभातिक काल की अनुमति लें। इस प्रकार एक कालग्रहण में तीन बार स्वाध्याय प्रस्थापना और तीन बार पाटली स्थापना की जाती है। दो कालग्रहण में पाँच बार स्वाध्याय प्रस्थापना और पाँच बार पाटली स्थापना की जाती है। व्याघातिक काल और अर्द्धरात्रिक काल सम्बन्धी क्रिया, स्वाध्याय प्रस्थापना और पाटली क्रिया रात्रि में ही कर ली जाती है। दिन या रात्रि में यदि एक-एक काल का ग्रहण किया हो तो तीन-तीन बार स्वाध्याय प्रस्थापना और पाटली स्थापना की जा सकती है।

• पाटली स्थापना करनी हो तो सभी योगवाहियों के लिए पृथक-पृथक पाटली होना आवश्यक है किन्तु स्वाध्याय प्रस्थापना करते समय सामुदायिक एक पाटली पर्याप्त है अर्थात एक पाटली के समक्ष सभी योगवाही स्वाध्याय प्रस्थापना कर सकते हैं। उस समय एक योगवाही पाटली प्रतिलेखन की क्रिया करें, तत्पश्चात सभी योगवाही एक साथ सभी क्रियाएँ करें। इस क्रिया में एक योगवाही के द्वारा ही सूत्र आदि बोले जाएं और आदेश आदि मांगे जाएं, शेष मात्र सुनें।

• स्वाध्याय प्रस्थापना करते समय या पाठ बोलते हुए अनुपयोग के कारण स्वाध्याय प्रस्थापक का स्वाध्याय भंग हो जाये तो वह दूसरी पाटली की पृथक स्थापना करके स्वाध्याय प्रस्थापना करे, शेष योगवाही पूर्वस्थापित पाटली के समक्ष भी स्वाध्याय प्रस्थापना कर सकते हैं। स्वाध्याय भंग के भय से प्राय: कृतयोगी अन्य मुनियों से ही सूत्र आदि बुलवाते हैं, जिससे योगवाही की विधि निर्विघ्न पूर्ण हो।

स्वाध्याय नाश के कारण

जीतव्यवहार के अनुसार निम्न स्थितियों में स्वाध्याय भंग होता है–

• स्वाध्याय प्रस्थापना करते समय, स्वाध्याय का समापन करते समय, खमासमण देते समय, संदिसावण– स्वाध्याय सम्बन्धी अनुमति लेते समय, प्रवेदन– स्वाध्याय काल शुद्ध है ऐसा निवेदन करते समय, कायोत्सर्ग करते समय, कायोत्सर्ग पूर्ण करते समय यदि किसी को छींक आ जाये या रूदन का स्वर सुनाई दे तो स्वाध्याय का भंग होता है।

• किसी के द्वारा पाटली (स्वाध्यायिक क्रियाओं के समय रखा जाने वाला छोटा पट्टा) का स्पर्श हो जाए, सूत्रोच्चार में स्खलना हो जाए, रजोहरण या मुखवस्त्रिका गिर जाए, रजोहरण को विपरीत रीति से पकड़ लिया जाए, तो स्वाध्याय स्थापना की सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं फिर उस काल में स्वाध्याय नहीं किया जा सकता है।

• स्वाध्याय की प्रस्थापना और पाटली की क्रिया करते समय यदि स्वाध्याय अधिकतम नौ बार खण्डित हो जाये तो गृहीत काल भी नष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि कालग्रहण सम्बन्धी क्रियाएँ अनुपयोग पूर्वक करने पर स्वाध्याय पाठ या तद्विषयक क्रियाएँ निरर्थक हो जाती हैं। प्राभातिक स्वाध्याय की

प्रस्थापना नौ बार तक की जा सकती है उसके पश्चात काल का ही नाश हो जाता है। फिर उस काल में दसवीं बार स्वाध्याय प्रस्थापना करना सम्भव नहीं है। तत्पश्चात दूसरा कालग्रहण लेकर ही स्वाध्याय विधि की जा सकती है।[100]

स्वाध्याय हेतु काल प्रतिलेखना विधि

जैन विचारणा के अनुसार आगम सूत्रों का अध्ययन (स्वाध्याय) निर्दोष एवं प्रशस्त काल में करना चाहिए। जिस प्रकार अस्वाध्याय काल को जानने के लिए काल की प्रेक्षा की जाती है उसी प्रकार स्वाध्याय काल को जानने हेतु भी कालप्रेक्षा अत्यावश्यक है। जैन परम्परा में काल शुद्धि होने पर ही स्वाध्याय का प्रारम्भ किया जा सकता है। व्यवहारभाष्य के अनुसार काल प्रतिलेखना की सामाचारी निम्न प्रकार है–

दिन की चरम पौरुषी का चतुर्भाग शेष रहने पर उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र) सम्बन्धी तीन-तीन भूमियों की प्रतिलेखना करें। यहाँ विशेष परिस्थिति में अथवा असहाय होने पर उपाश्रय के भीतर की तीन भूमियाँ– (निकट, मध्य और दूर) प्रतिलेखित करें तथा समर्थ एवं सामान्य स्थिति होने पर उपाश्रय के बाहर भी तीन-तीन भूमियाँ– (निकट, मध्य और दूर) प्रतिलेखित करें। ये बारह शौच भूमियाँ हैं। इसी तरह असह्य-सह्य की अपेक्षा मूत्र परिष्ठापन सम्बन्धी बारह भूमियाँ भी प्रतिलेखित करें। कुल चौबीस भूमियों की प्रतिलेखना करें। उसके बाद स्वाध्याय करने योग्य निकट, मध्य और दूर ऐसी तीन भूमियों की प्रतिलेखना करें। इसके बाद सूर्यास्त हो जाता है।[101]

यदि सूर्यास्त के समय किसी तरह का व्याघात (व्यवधान या किसी तरह की हलचल आदि) न हों तो प्रतिक्रमण करें। तदनन्तर स्वाध्याय योग्य शुद्ध काल का निरीक्षण–प्रतिलेखन करें।

शुद्ध काल प्रतिलेखना की विधि निम्न है–[102]

• काल दो प्रकार के कहे गये हैं 1. व्याघात काल और 2. निर्व्याघात काल। यहाँ व्याघात से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ अनेक कार्पटिक (भिक्षुगण) रहते हैं। उन लोगों के आने-जाने के घट्टन (हलचल) से व्याघात होता है तथा धर्मकथा स्थान में उचित समय का अतिक्रमण हो जाने से काल सम्बन्धी व्याघात होता है।

काल प्रतिलेखना हेतु दो मुनियों को नियुक्त किया जाता है। यदि व्याघात की स्थिति हो तो काल प्रतिलेखक दो मुनियों के साथ उपाध्याय को भी प्रेषित

किया जाता है। कालप्रेक्षक मुनि उन्हीं के समक्ष सभी कुछ निवेदन करते हैं। यदि व्याघात स्थिति न हो तो कालप्रेक्षक मुनि गुरु से सब कुछ पूछते हैं जैसे- हम स्वाध्याय काल को ग्रहण करेंगे, स्वाध्याय प्रवृत्ति में संलग्न रहेंगे आदि। यह कालप्रेक्षा की पीठिका रूप विधि प्रस्तुत की गई है।

• यदि निर्व्याघात की स्थिति हो, तो सर्वप्रथम गुरु या आचार्य को द्वादशावर्त्त वंदन करें। फिर कालग्रहण की अनुमति लेकर कालभूमि में जाएं। यदि उस भूमि में गाय अथवा सर्प आदि हों तो काल ग्रहण न करें। यदि भूमि उक्त दोषों से रहित हो तो कालग्रहण वेला की प्रतीक्षा करते हुए कालप्रेक्षक बैठ जाएं। दोनों दो-दो दिशाओं का निरीक्षण करते हुए बैठे रहें। कालप्रेक्षक मुनि दिशाओं का निरीक्षण करते समय स्वाध्याय का चिंतन न करें। यदि एकाग्रचित्त से दिशावलोकन करते हुए बन्दर की हँसी के समान व्यन्तरादि की आवाज सुन ली जाए, विद्युत देख लिया जाए, अथवा उल्का को गिरते हुए देख लिया जाए तो कालवध होता है। कालवध होने के पश्चात उस दिन काल ग्रहण नहीं किया जाता है।

• कालग्रहण (कालप्रेक्षा) हेतु इस नियम का ध्यान रखा जाए कि संध्या रहते काल-प्रेक्षा का क्रम प्रारम्भ किया गया हो तथा कालग्रहण और सन्ध्या दोनों एक साथ समाप्त होते हों तो काल वेला की तुलना करें अथवा उत्तर आदि तीनों दिशाओं की संध्या देखें। यदि दक्षिण दिशा की सन्ध्या समाप्त हो गई हो अर्थात दक्षिण दिशा में अंधकार छा गया हो, तो भी उस दिशा को स्वाध्याय हेतु ग्रहण कर सकते हैं।

• तदनन्तर कालवेला का जानकार दंडधारी मुनि अपने स्थान से उठें और उपाश्रय में जाकर निवेदन करें कि अभी स्वाध्याय प्रारम्भ करने में समय शेष है। इसलिए सभी मौन हो जाएं। यहाँ दंडधारी की घोषणा उद्घोषक दृष्टांत के समान जाननी चाहिए। जैसे गंडक उद्घोषणा करता है और यदि बहुत सारे लोग उसकी घोषणा को सुन नहीं पाए तो दंड का भागी गंडक होता है और यदि उस घोषणा को थोड़े लोग नहीं सुन पाएं तो न सुनने वाले दंड के भागी होते हैं। इसी प्रकार कालप्रेक्षक दंडधर मुनि की बात यदि बहुत सारे साधुओं ने नहीं सुनी हो तो दंडधर मुनि दंड का भागी होता है और यदि थोड़े साधुओं ने नहीं सुनी हो तो नहीं सुनने वाले साधु दंड के भागी होते हैं। इसलिए दंडधर सम्यक उच्चारण पूर्वक काल निवेदन करें। तत्पश्चात दंडधर अपने स्थान पर चले जाएं।

• जब दंडधर अपने स्थान पर आ जाएं, तब कालग्राही कालग्रहण के लिए गुरु के साथ स्थापनाचार्य के समीप पहुँचें। अपने स्थान से स्थापनाचार्य के निकट जाते हुए तीन बार **'निसीहि-निसीहि-निसीहि नमो खमासमणाणं'** बोलते हुए नमस्कार करें। फिर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें, नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर स्थापनाचार्य को वंदन करें। तदनन्तर प्रादोषिक काल ग्रहण करने के लिए गुरु से आदेश लें।

प्रादोषिक काल ग्रहण की विधि निम्न है–

जब संध्या कुछ शेष रह जाए तब कालग्राही उत्तराभिमुख होकर बैठें और दंडधर पूर्वाभिमुख होकर बैठें। अपने दंड को थोड़े से अंतराल पर रखें। फिर कालग्राही और दंडधर दोनों ही कालग्रहण के निमित्त आठ श्वासोश्वास परिमाण नमस्कार मन्त्र का चिंतन कर कायोत्सर्ग पूर्ण करें। फिर प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। उसके पश्चात दशवैकालिकसूत्र का प्रथम अध्ययन, द्वितीय अध्ययन और तृतीय अध्ययन की पहली गाथा ऐसी कुल 17 गाथाओं का मन में स्मरण करें। यह विधि एक दिशा की अपेक्षा से जाननी चाहिए। शेष तीनों दिशाओं में भी इसी प्रकार की विधि करें। कालग्रहण लेने के पश्चात दंडधर उसी काल भूमि में बैठ जाएं। कालग्राही विधिपूर्वक मूल वसति में आएं, जहाँ गुरु विराज रहे हों। यहाँ उल्लेखनीय है कि जो विधि वसति से कालभूमि पर जाने की कही गई है वही विधि कालभूमि से वसति में आने के लिए भी की जाती है। इसमें जो भी भिन्नताएँ हैं, उनका उल्लेख कालवध के कारणों के साथ किया जाएगा।

सामान्यतया कालमंडल भूमि से उपाश्रय में आकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर 'काल शुद्ध है' ऐसा गुरु से निवेदन करें। उसके पश्चात सभी एक साथ स्वाध्याय की प्रस्थापना करें।

• यहाँ कालप्रतिलेखना विधि प्रादोषिक काल की अपेक्षा बताई गई है, शेष तीनों कालों सम्बन्धी प्रतिलेखना भी इसी विधिपूर्वक समझनी चाहिए। काल प्रतिलेखना से तात्पर्य चारों दिशाओं का अवलोकन करना है तथा काल ग्रहण से तात्पर्य दिशाओं में किसी तरह का व्याघात न होने पर तात्कालिक स्वाध्याय हेतु उन दिशाओं को ग्रहण करना है।

• जिस दिन बिना किसी व्याघात के शुद्धविधि पूर्वक कालग्रहण ले लिया जाए तो उसके पश्चात स्वाध्याय की प्रस्थापना करके स्वाध्याय प्रारम्भ करते हैं।[103]

पाली पालटवानी (तप क्रम परिवर्तन की) विधि

पाली का शाब्दिक अर्थ है– पंक्ति। योगवहन सम्बन्धी अर्वाचीन कृतियों में इस विषयक तीन शब्द मिलते हैं–

पाली तप करशुं– जिस क्रम पूर्वक तप किया जा रहा हो, उसी क्रम से तप करूँगा, ऐसा आदेश लेना।

पाली पारणुं करशुं– जिस क्रम से आयंबिल आदि तप चल रहा था, अब उसे पूर्ण करता हूँ अर्थात आयंबिल आदि तप का पारणा करता हूँ, अब मुझे विगय सेवन करने की छूट है।

पाली पलटी पारणुं करशुं– एक नीवि के बाद दूसरे दिन भी नीवि करनी हो तो दूसरे दिन 'पाली पलटी पारणुं करशुं' का आदेश मांगकर नीवि कर सकते हैं। ऐसा एक महीने में सामान्यत: एक बार ही हो सकता है। यह आदेश लेने पर दो नीवियाँ एक साथ मिलती हैं। उपवास करने वाले को भी एक पाली एक्स्ट्रा मिलती है अथवा दो दिन नीवि का प्रत्याख्यान होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार योगवहन काल में आयंबिल-नीवि, आयंबिल-नीवि इस क्रम से तप प्रत्याख्यान होता है और कुछ आचार्यों के अभिमत से अंगसूत्र या श्रुतस्कन्ध के उद्देश एवं अनुज्ञा दिन तथा भगवतीसूत्र के कुछ दिन और महानिशीथ आदि सूत्रों को छोड़कर शेष सूत्रों के अध्ययन के दिनों में नीवि तप होता है। इसलिए 'पाली पलटुं' के समय आयंबिल और नीवि तप के प्रत्याख्यान में ही परिवर्तन किया जाता है। इन दिनों उपवास और एकासना तप का प्रत्याख्यान लगभग नहीं होता है। यह योग विधि आयंबिल और नीवि तप के आधार पर वहन होती है।

श्रीरामचन्द्रसूरि समुदायवर्ती पूज्य कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा. एवं उनके शिष्यरत्न पूज्य रत्नयशविजयजी म.सा. से हुई चर्चा के अनुसार योगवाही को पालीपलटुं (क्रम परिवर्तन) की यह विधि विशेष परिस्थिति में प्राप्त होती है, तब वह आयंबिल के दिन नीवि तप कर सकता है और यह तप गिनती में भी आता है।

• परम्परागत मान्यता के अनुसार योग तप का प्रारम्भ करने के न्यूनतम 15 दिनों के बाद 16वें दिन से लेकर 30 दिनों तक किसी भी दिन (बड़ी तिथियाँ छोड़कर) पाली पलटने की विधि की जा सकती है यानी एक साथ दो नीवि का

आदेश ले सकते हैं। उपवासी योगवाही को तो कभी भी (15 दिन के नियम के बिना भी) प्रतिमास 1 दिन पाली पलटकर नीवि करने मिलती है। यद्यपि एक महीने में कितने भी उपवास किए हों लेकिन उपवासी मुनि को पाली पलटना एक बार ही मिलता है।

इस सम्बन्ध में यह नियम भी मान्य है कि पहली बार जब भी 'पाली पलटुं' विधि की जाती है। दुबारा 15 दिनों के बाद ही तप क्रम में परिवर्तन कर सकते हैं, उससे पहले नहीं। इस विषय में यह भी जानने योग्य है कि किसी योगवाही के एक मास की पाली पलटने की बाकी हो तो दूसरे मास में उसे दो पाली पलटने मिलती है लेकिन संलग्न तीन दिन नीवियाँ करने नहीं मिलती है।

तपागच्छ सामाचारी में उपधान तप में भी पालीपलटुं की परम्परा है जैसे– पंचमी को आयंबिल, छठ को नीवि, सप्तमी को आयंबिल आ रहा हो तो अष्टमी को भी आयंबिल करना अनिवार्य है। यदि दो आयंबिल एक साथ आ रहे हों तो भी अष्टमी के दिन आयंबिल ही करना चाहिए, नीवि नहीं।

सम्भवतया शारीरिक असमर्थता और मानसिक दुर्बलता के कारण पाली पलटुं का विधान किया गया है। इससे अशक्त एवं रुग्ण योगवाहियों के चित्त में धैर्य बंधा रहता है तथा लगातार दो दिन नीवि करने से पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक बल भी प्राप्त हो जाता है। जो योगवाही दौर्बल्यता या रुग्णता के कारण तपसाधना को पूर्ण करने में भयभीत हों, वे तपदिन के अनुपात से दिन पूर्णाहुति के कुछ समय पहले भी यथोचित संख्या में आयंबिल पूर्ण कर सकते हैं। इस तरह सिद्ध होता है कि 'पाली पलटुं' योग तप की सहयोगी विधि है।

जीत परम्परा के अनुसार पालीपलटुं विधि निम्न प्रकार है–

जिस दिन पालीपलटुं करना हो उस दिन सर्वप्रथम वसति के चारों ओर सौ-सौ कदम पर्यन्त भूमि की शुद्धि करें। फिर स्थापनाचार्य को खुला करें। फिर स्थापनाचार्य के समक्ष ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर वसति प्रवेदन के दो आदेश लें। फिर योगवाही एक खमासमण पूर्वक वंदन करके कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** शिष्य– **इच्छं.** कह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त करें। फिर खड़े-खड़े ही बोले– **इच्छा. संदि. भगवन्! पवेणुं पवेउं?** फिर एक खमासमण पूर्वक कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! पाली पालटुं?** गुरु– **पालटो।** शिष्य– **इच्छं।**

फिर एक खमासमण देकर कहें- **इच्छा. संदि. भगवन्! पाली पालटी पारणुं करशुं।** गुरु- **करजो।** फिर एक खमासमण पूर्वक वंदन देकर कहें- **इच्छकारी भगवन् तुम्हें अम्हं श्री दशवैकालिक श्रुतस्कंधे** (अथवा जो अध्ययन हो उसका नाम लेते हुए) **जोगदिन पेसरावणी पाली पालटी पारणुं करशुं?** गुरु- **करजो।** शिष्य- **इच्छं** कहे।

शेष विधि पवेयणाविधि के अनुसार करें।

समीक्षा- असह्य रुग्णता अथवा कठिन परिस्थितियों के होने पर पूर्व निर्धारित तपक्रम में एक दिन के लिए परिवर्तन करना 'पाली पालटुं' कहलाता है। यदि इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक या तुलनात्मक परिशोध किया जाए तो यहाँ जिस स्वरूप में 'पालीपालटुं' विधि दर्शायी गयी है वह केवल विक्रम की 19वीं-20वीं शती के संकलित ग्रन्थों में ही उपलब्ध है।[104]

यद्यपि तिलकाचार्य सामाचारी (विक्रम की 12वीं शती) में **'पाडीवारणउं करिसउं'** आलापक का उल्लेख है। इस सामाचारी ग्रन्थ में अन्य मत का सूचन करते हुए यह भी लिखा गया है कि आयम्बिल और नीवि दोनों दिन एक खमासमण पूर्वक यह आदेश लें। इस आलापक पाठ से निश्चित होता है कि परवर्ती आचार्यों ने इसी ग्रन्थ के आधार पर पालीपालटुं विधि का प्रवर्त्तन किया है।

शाब्दिक दृष्टि से पाडी-पाली, वारणउं-पारणुं, करिसउं-करशुं इस तरह पूर्ण रूप से अर्थ घटन हो जाता है। इसमें अन्तर यह है कि **पाडी वारणउं करिसउं-** यह प्राकृत पाठ है और **पाली पालटुं (पारणुं) करशुं-** यह गुजराती पाठ है। इस वर्णन से कहा जा सकता है कि इस विधि के संकेत हमें विक्रम की 12वीं शती में मिल जाते हैं किन्तु इसका विकसित स्वरूप विक्रम की 20वीं शती में उपलब्ध होता है। असमर्थ योगवाहियों की तपसाधना में इसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।[105]

योगनिक्षेप (योग में से बाहर निकलने की) विधि

जिस दिन आचारांग आदि किसी भी सूत्र का योग पूर्ण हो उस दिन विधिपूर्वक उस योग में से बाहर निकलना चाहिए। खरतरगच्छ सामाचारी के अनुसार योगनिक्षेप विधि इस प्रकार है-

योग समापन दिन में प्रात:काल प्रतिक्रमण करें, प्रतिलेखन करें, वसति

शोधन करें। फिर उसी दिन अनुज्ञानंदी की हो तो योगवाही नंदीरचना (समवसरण) की तीन प्रदक्षिणा दें।

निवेदन– फिर वाचनाचार्य गुरु के सन्निकट एक खमासमण देकर कहें– **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं जोगे निक्खिवेह–** हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो तो हमें योग से बाहर करिये। गुरु– **उक्खेवामो** कहें– मैं योग से बाहर करता हूँ।

वासदान– उसके बाद योगवाही मुनि एक खमासमण पूर्वक वन्दन कर कहें– **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं जोग निक्खेवावणियं वासनिक्खेवं करेह–** हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक योग में से बाहर करने के लिए हम पर वासदान करें। गुरु– **करेमि** कहकर योगवाहियों के मस्तक पर वासचूर्ण डालें।

देववंदन– उसके पश्चात योगवाही एक खमासमण सूत्र पूर्वक वंदन कर कहें– **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हंजोगनिक्खेवावमियं देवे वंदावेह–** हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो योग से बाहर करने के निमित्त देववंदन करवाइये। गुरु– **वंदावेमो** कहकर पूर्ववत 18 स्तुतियाँ पूर्वक देववन्दन करवावें।

प्रत्याख्यान– तदनन्तर वाचनाचार्य के निर्देशानुसार योगवाही शिष्य मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर एक खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन कर प्रत्याख्यान करें।

पारणा कायोत्सर्ग– फिर एक खमासमणपूर्वक वंदन कर कहें– **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं विगइ लियावणियं काउस्सग्गं करावेह।** गुरु– **करावेमि** कहकर **जोगनिक्खेवावणियं विगइ लियावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थ सूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करवाएं। फिर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें।[106]

कुछ परम्पराओं के अनुसार योगनिक्षेप विधि निम्नलिखित है। विधिमार्गप्रपा में इस विधि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

सर्वप्रथम योगनिक्षेप करने वाले मुनि द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर एक खमासमण देकर कहें– **इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं जोगे निक्खिवहं।** गुरु– **निक्खेवामो।** फिर एक खमासमण देकर कहें– **जोग निक्खेवाणियं काउस्सग्गं करावेह।** गुरु– **करावेमि।** इतना कहकर **जोगनिक्खेवावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थ सूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करवायें। पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर योगनिक्षेप करने वाले मुनि एक खमासमण देकर कहें– **जोगनिक्खेवावणियं चेइयाइं वंदावेह।** गुरु–

वंदावेमि। फिर एक खमासमण देकर सभी मुनिजन शक्रस्तव बोलें। उसके बाद योग निक्षेप करने वाले मुनि द्वादशावर्त्तवन्दन देकर कहें– **'पवेयणं पवेयहं-पडिपुण्णा विगइ, पारणउं करउं।** गुरु कहें– **करेह।**

तदनन्तर गुरु मुख से विगय ग्रहण का प्रत्याख्यान धारण करें। फिर गुरु को वंदन कर उनके पाँवों की शुश्रुषा करें तथा योगोद्वहन करते हुए अविधि-आशातना हुई हो तो मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक मिच्छामि दुक्कडं दें। योगोद्वहन काल में सहवर्ती ज्येष्ठ साधुओं को भी वन्दन कर उनसे क्षमायाचना करें।[107]

तपागच्छ आदि परम्पराओं में योगनिक्षेप विधि किंचिद अन्तर के साथ इस प्रकार प्रचलित है–

सर्वप्रथम गुरु के समीप आयें, स्थापनाचार्य को खुला करें, फिर चारों दिशाओं में एक-एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए और गुरु को नमस्कार करते हुए स्थापनाचार्य की तीन प्रदक्षिणा दें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। तदनन्तर–

वसतिशुद्धि– शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! वसति पवेउं?** गुरु– **पवेयह।** शिष्य– **इच्छं** कहें।

शिष्य– खमा. **भगवन्! सुद्धा वसहि।** गुरु– **तहत्ति** कहें।

शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं?** गुरु– **पडिलेहेह।** शिष्य– **इच्छं** कह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।

निवेदन– शिष्य– खमा. **इच्छकारी भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री... योगं निक्खेवह।** गुरु– **निक्खेवामि।** शिष्य– **इच्छं।**

वासग्रहण– शिष्य– खमा. **इच्छकारी भगवन् तुम्हे अम्हं श्री योगनिखेवावणी (नंदिकरावणी) वासनिक्षेपं करेह।** गुरु— **करेमि।** शिष्य- **इच्छं।** गुरु तीन नमस्कार मन्त्र गिनकर शिष्य के सिर पर वासदान करें।

चैत्यवंदन– शिष्य– खमा. **इच्छकारी भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री योगनिखेवावणी (नंदिकरावणी) वासनिक्षेपकरावणी देव वंदावेह।** गुरु– **वंदावेमि।** शिष्य– **इच्छं।** फिर गुरु और शिष्य 'ॐ नमः पार्श्वनाथाय' से लेकर 'जयवीयराय सूत्र' तक चैत्यवंदन करें।

कायोत्सर्ग– शिष्य– खमा. **इच्छाकारी भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री योगनिखेवावणी (नंदिकरावणी) वासनिखेवकरावणी देववंदावणी**

काउस्सग्ग करूं? गुरु– **करेह।** शिष्य– **'इच्छं'** कह **योगनिखेवावणी... यावत करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थसूत्र** बोलकर एक लोगस्स (सागरवरगंभीरा तक) का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रगट में लोगस्ससूत्र कहें। उसके बाद शिष्य दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

विगयग्रहण पृच्छा– फिर शिष्य– खमा. **इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणुं पवेउं?** गुरु– **पवेयह।** शिष्य-**इच्छं।** शिष्य– खमा. **इच्छाकारी भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री योग निखेवावणी परिमित विगइ विसर्जावणी पाली पारणुं करशुं?** गुरु– **करजो।** शिष्य– **इच्छं।** शिष्य– खमा. **इच्छा. भगवन् पसाय करी पच्चक्खाण करावेह।** गुरु– शिष्य की इच्छानुसार एकासना– बीयासना आदि का प्रत्याख्यान करवायें। शिष्य– खमा. **इच्छा. भगवन् तुम्हे अम्हं परिमित विगइ विसर्जु?** गुरु– **विसर्जो।** शिष्य– **इच्छं।** शिष्य– खमा. **इच्छा. भगवन् तुम्हें अम्हं परिमित विगइ विसर्जावणी काउस्सग्ग करूं?** गुरु– **करेह।** शिष्य **'इच्छं'** कह **परिमित विगइ विसर्जावणी करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थसूत्र** बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलें। फिर दो खमासमण द्वारा 'बइसणं' का आदेश लें। अविधि-अविनय का मिथ्यादुष्कृत दें।

समीक्षा– प्रस्तुत अध्याय में योगनिक्षेप सम्बन्धी तीन विधियाँ उल्लिखित की गई हैं। प्रथम खरतरगच्छ परम्परानुसार, द्वितीय विक्रम की 14वीं शती में प्रचलित विशिष्ट परम्परानुसार और तृतीय तपागच्छ आदि परम्परानुसार बतलाई गई है। यदि इन परम्पराओं को आधार बनाकर तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो मूलस्वरूप में लगभग समानता परिलक्षित होती है। विशेष अन्तर क्रमविधि को लेकर ही कहा जा सकता है जैसे–

खरतरगच्छ सामाचारी के अनुसार योगनिक्षेपविधि का क्रम यह है– निवेदन, वासदान, देववंदन, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

कुछ परम्पराओं के अनुसार योगनिक्षेप का क्रम निम्न है–

निवेदन, कायोत्सर्ग, चैत्यवंदन और प्रत्याख्यान।

तपागच्छ सामाचारी के अनुसार योगनिक्षेप का क्रम इस प्रकार है– वसतिशुद्धि, निवेदन, वासग्रहण, चैत्यवंदन, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, विगयग्रहण और कायोत्सर्ग।

दूसरा अन्तर आलापक पाठों एवं शब्द विन्यास को लेकर है। खरतर परम्परा के आलापक पाठ प्राकृत भाषाबद्ध हैं जबकि तपागच्छ आम्नाय के पाठ प्राकृत एवं गुजराती मिश्रित हैं।

तीसरा मतभेद मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन एवं वन्दन सम्बन्धी है। खरतर परम्परा में एक बार द्वादशावर्त्तवन्दन करने का निर्देश है जबकि तपागच्छ परम्परा में द्वादशावर्त्तवन्दन का दो बार उल्लेख किया गया है तथा प्रारम्भ में मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन का सूचन है।

चौथा भेद चैत्यवंदन-देववंदन विधि से सम्बन्धित है। खरतरगच्छ आम्नाय में 18 स्तुतियों पूर्वक देववंदन का विधान है। कुछ परम्पराओं में शक्रस्तव मात्र करने की आचरणा है तथा तपागच्छ सामाचारी में निर्धारित चैत्यवंदन के साथ जयवीयराय तक सूत्रपाठ बोलने की परम्परा है।[108]

स्वाध्याय प्रतिष्ठापन-निष्ठापन विधि

दिगम्बर मतानुसार किसी भी सूत्रागम का प्रारम्भ एवं समापन करना हो, तो उसकी निम्न विधि है–

स्वाध्याय के प्रारम्भ एवं समापन में मुख्य रूप से कृतिकर्म किया जाता है। अत: जिन अक्षर समूहों से या जिन परिणामों से अथवा जिन क्रियाओं से आठ प्रकार के कर्मों का छेदन हो, वह कृतिकर्म है अथवा अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनचैत्य, जिनप्रतिमा, धर्मशास्त्र आदि (नव देवता) की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म कहलाता है। दिगम्बर आम्नाय में मुनियों की दैनन्दिन क्रियाएँ जैसे भिक्षाग्रहण, निषद्यासन, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एवं भक्तिपाठ आदि कृतिकर्म द्वारा सम्पन्न की जाती है। कृतिकर्म में दो बार अवनति (भूमिस्पर्शयुक्त नमस्कार), बारह आवर्त्त, चार शिरोनति पूर्वक सामायिकस्तव, कायोत्सर्ग एवं चतुर्विंशतिस्तव पाठ बोला जाता है।

दिगम्बर मुनियों के लिए अहोरात्रि में अट्ठाईस कृतिकर्म माने गये हैं जैसे– एक काल की सामायिक में चैत्य भक्ति एवं पंचगुरु भक्ति सम्बन्धी दो कृतिकर्म (कायोत्सर्ग) होते हैं। अत: पूर्वाह्न, मध्याह्न एवं अपराह्नकाल की अपेक्षा 3 ×2 = 6 कृतिकर्म हुए। एक काल सम्बन्धी प्रतिक्रमण में सिद्ध प्रतिक्रमण, निष्ठितकरण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति जन्य चार कृतिकर्म होते हैं, दोनों काल के 4 × 2 = 8 कृतिकर्म हुए। पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्वरात्रि और

अपररात्रि सम्बन्धी चार स्वाध्याय कालों के तीन-तीन कृतिकर्म इस प्रकार 4 × 3 = 12 कृतिकर्म हुए। एक कृतिकर्म रात्रि योग प्रतिष्ठापन सम्बन्धी और एक कृतिकर्म रात्रि योग निष्ठापन सम्बन्धी इस प्रकार 6 + 8 + 12 + 2 = 28 कृतिकर्म होते हैं, जो मुनि एवं आर्यिकाओं के लिए अवश्य करणीय है।

यहाँ कृतिकर्म का वर्णन स्वाध्याय विधि का सम्यक बोध करवाने के उद्देश्य से किया गया है।[109]

अब स्वाध्याय स्थापना विधि कहते हैं– धवला टीका के अनुसार सर्वप्रथम क्षेत्र की शुद्धि करें। उसके बाद हाथ और पैरों की शुद्धि करें। तदनन्तर विशुद्ध मन से युक्त होते हुए निर्जीव भू-भाग में उपस्थित हो जाएं। फिर निम्न विधि से तीन कृतिकर्म (वंदन) करें–

पहला कृतिकर्म– सबसे पहले विज्ञापन पाठ द्वारा प्रतिज्ञा करें।

विज्ञापन– अथ अपर-रात्रि स्वाध्याय प्रतिष्ठापन-क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्म-क्षयार्थं भाव-पूजा-वन्दना-स्तव-समेतं श्री श्रुतभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं। फिर भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार करें, फिर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके सामायिक दण्डक पढ़ें।

फिर तीन आवर्त्त, एक शिरोनति कर 26 श्वासोश्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। तत्पश्चात भूमि तल का स्पर्श करते हुए नमस्कार करके पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करें, फिर चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें।

तदनन्तर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके श्रुतभक्ति पढ़ें।

दूसरा कृतिकर्म– उसके बाद पूर्ववत विज्ञापन पाठ पढ़ें। इस पाठ में 'श्रुतभक्ति' के स्थान पर 'आचार्य भक्ति' शब्द बोलें।

फिर पूर्ववत भूमि नमस्कार कर, तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके सामायिक दण्डक पढ़ें। पुनः तीन आवर्त्त, एक शिरोनति कर 27 श्वासोश्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। पुनः भूमि नमस्कार, तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें। पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति कर आचार्य भक्ति पढ़ें।

इस प्रकार चौबीस आवर्त्त, आठ शिरोनति, चार अवनति पूर्वक दो कृतिकर्म सम्पन्न कर वाचना ग्रहण करें। तत्पश्चात कांख आदि स्व अंगों का स्पर्श न करते हुए सम्यक विधिपूर्वक अध्ययन करें।

तीसरा कृतिकर्म– उपर्युक्त विधि पूर्वक स्वाध्याय करते हुए सूर्योदय होने में दो घड़ी शेष रह जाएं तब स्वाध्याय का इस विधि से समापन करें–

सबसे पहले पूर्ववत विज्ञापन पाठ बोलें। इसमें 'प्रतिष्ठापन' के स्थान पर 'निष्ठापन' शब्द का प्रयोग करें। फिर पूर्ववत भूमि नमस्कार, तीन आवर्त्त एवं एक शिरोनति कर सामायिक दण्डक पढ़ें। फिर तीन आवर्त्त, एक शिरोनति कर 27 श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। पुनः भूमि नमस्कार, तीन आवर्त्त, एक शिरोनति कर चतुर्विंशतिस्तव बोलें। फिर से तीन आवर्त्त, एक शिरोनति कर लघु श्रुतभक्ति पढ़ें।

तदनन्तर पूर्व निर्धारित स्थान का प्रमार्जन करते हुए स्थापनीय शास्त्र को वन्दन पूर्वक उचित आसन पर प्रतिष्ठित करें।[110]

विशेष– यह स्वाध्याय विधि अपर रात्रि (रात्रि का अन्तिम प्रहर) की अपेक्षा से कही गई है। शेष पूर्वाह्न, अपराह्न एवं पूर्वरात्रि इन तीन काल में स्वाध्याय का प्रारम्भ एवं समापन करते समय उपर्युक्त विधि ही की जाती है। केवल अपर रात्रि के स्थान पर उस-उस काल के नाम लेने चाहिए।

प्रत्येक कृतिकर्म में दो अवनति,बारह आवर्त्त, चार शिरोनति, प्रतिज्ञापाठ, सामायिक दण्डक, चतुर्विंशतिस्तव, लघु श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति इस तरह पाँच पाठ एवं तीन प्रकार के शारीरिक कृत्य किये जाते हैं। इस विधि में कुल तीन कृतिकर्म होते हैं। उनमें दो कृतिकर्म स्वाध्याय स्थापना के समय एवं एक कृतिकर्म स्वाध्याय समापन के समय किया जाता है।

भगवान महावीर के शासन में योग्यता और मर्यादा के अनुसार श्रुताभ्यास की अनुमति दी गई है। श्रुतार्जन **काले विणये.** आदि आठ मर्यादा रूप आचार हैं। उसमें आगम अभ्यास के लिए चौथी मर्यादा उपधान-योगोद्वहन की है। मर्यादा रहित श्रुत पढ़ने से आराधना के स्थान पर विराधना होती है। जैन शासन में आराधना की अपेक्षा विराधना से बचने का महत्त्व अधिक है अतः अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

योगोद्वहन ज्ञानाचार का साक्षात प्रयोग है। जैन वाङ्मय में ज्ञान का मूल्य नहीं है, ज्ञानाचार का मूल्य है। जिस ज्ञान के द्वारा मोहनीय कर्म का क्षय हो, सत्य-असत्य का विवेक हो और कर्म बंध के हेतुओं से विरति हो ऐसे ज्ञानयुक्त की मूल्यवत्ता है अन्यथा ज्ञान मात्र बुद्धि का श्रम है। यदि ज्ञान का सही उपयोग न किया जाये तो मोहनीय कर्म का बंध होता है, अन्यथा मोहनीय कर्म का

क्षयोपशम होता है। प्रशमरतिग्रन्थ में ज्ञान का फल विरति बताया गया है। अत: सम्यक ज्ञान के अर्जन में एवं तत्स्वरूप आचरण में योगोद्वहन विधि परमावश्यक है।

सन्दर्भ-सूची

1. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 130*
2. *(क) आचारदिनकर, पृ. 93*
   (ख) श्री बृहद्योगविधि, पृ. 2
3. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 130-133*
4. *आचारदिनकर, 91*
5. *लघुनन्दि पाठ इस विधि के प्रारम्भ में दिया गया है।*
6. *(क) श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 57*
   (ख) श्री बृहद्योगविधि, पृ. 3-4
7. *योगप्रवेश के दिन 'नंदी' हो तो प्रवेश क्रिया होने के पश्चात पुन: से प्रदक्षिणा एवं ईर्यापथ प्रतिक्रमण- ये दो क्रियाएँ करने की जरूरत नहीं रहती है।*
8. *एक प्राचीन प्रत में 'उद्देसावणी नंदीकड्ढावणियं' ऐसा पाठ है।*
9. *विधिमार्गप्रपा- सानुवाद, पृ. 133-134*
10. *आचारदिनकर में मुखवस्त्रिका प्रतिलेखित कर द्वादशावर्त्त वन्दन का उल्लेख है। पृ. 92*
11. *विधिमार्गप्रपा की समाचारी में तीन बार एवं तपागच्छ आदि परम्परा में दो बार 'उद्दिट्ठं' शब्द कहने का सूचन है।*
12. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 133*
13. *वही, पृ. 134*
14. *वही, पृ. 134*
15. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 133-134*
16. *आचारदिनकर, 91-92*
17. *श्री बृहद्योगविधि, पृ. 8-11*
18. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 134*
19. *आचारदिनकर, पृ.92*
20. *श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 59*
21. *श्री बृहद्योगविधि, पृ. 10*

22. श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 51-53
23. वही, पृ. 63-64
24. यदि उपवासी मुनि हो तो द्वादशावर्त्तवन्दन न करें, केवल खमासमण देकर प्रत्याख्यान करें।
25. जिस कालिक सूत्र का योग चल रहा है, उस सूत्र की अनुज्ञा न हो, तब तक योगवाही 'दांडी काल मांडला' का आदेश लें।
26. दुविहो उ होइ कालो, वाघाइम इतरो य नायव्वो।
वाघातो घंघसालाए, घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1383
दुविधो य होति कालो, वाघातिम एतरो य नायव्वो।
वाघातो घंघसालाय, घट्टणं धम्मकहणं वा ॥
(ख) व्यवहारभाष्य, गा. 3163
(ग) विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 123
27. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1383
आचार्य भद्रबाहु द्वितीय– यह मान्यता शास्त्र संशोधक मुनिराज श्री पुण्यविजयजी आदि विद्वानों के अनुसार है। वे निर्युक्तिकार के रूप में द्वितीय को ही कर्त्ता मानते हैं।
पारम्परिक मान्यतानुसार सभी निर्युक्तियाँ प्रथम भद्रबाहु स्वामी रचित हैं।
28. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 123
29. कालचउक्के णाणत्तगं तु, पाओसियंमि सव्वेवि।
समयं पट्टवयंती, सेसेसु समं व विसमं वा ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1401
पादोसितो अभिहितो, इदाणि सामन्नतो तु वोच्छामि।
कालचउक्कस्स वि तू, उवघायविधी उ जो जस्स ॥
(ख) व्यवहारभाष्य, गा. 3194
30. विधिमार्गप्रपा, पृ. 123
31. पाओसि अड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियंमि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1407

पादोसियाड्ढरत्ते,उत्तरसिदि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले॥

(ख) व्यवहारभाष्य, गा. 3200

32. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 124
33. फिडियंमि अड्ढरत्ते, कालं घित्तुं सुवंति जागरिया।
ताहे गुरु गुणंती, चउत्थि सव्वे गुरु सुरुइ॥

(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1409

पादोसिएण सव्वे, पढमं पोरिसि करेंति सज्झायं।
ताधे उ सुत्तइत्ता, सुवंति जग्गंति व सभा उ॥
फिडितम्मि अद्धरत्ते, कालं घेत्तुं सुवंति जागरिता।
ताहे गुरु गुणंती, चउत्थ सव्वे गुरु सुवति॥

(ख) व्यवहारभाष्य, गा. 3203-3204

34. कालचउक्कं उक्कोसएण, जहन्न तियं तु बोद्धव्वं।
बीयपएणं तु दुगं, मायामय विप्पमुक्काणं॥
गहियंमि अड्ढरत्ते, वेरत्तिय अगहिए भवइ तिन्नि।
वेरत्तिय अड्ढरत्ते, अइ उवओगा भवे दुण्णि॥

(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1408, 1410
(ख) व्यवहारभाष्य, 3201, 3205-3206

35. आचारदिनकर, पृ. 86-87
36. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 145
37. आचारदिनकर, 86
38. वही, पृ. 90
39. व्यवहारभाष्य-सानुवाद, मुनि दुलहराज, 3165-67, 3170, 3182-86, 89
40. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 124
41. बृहद्योगविधि, पृ. 143-44
42. विधिमार्गप्रपा, सानुवाद, पृ. 124-25
43. बृहद्योगविधि, पृ. 143
44. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 125-128
45. वैरात्रिक एवं प्राभातिक काल हो तो पूर्व दिशा की और जाएं तथा व्याघातिक एवं अर्द्धरात्रि काल हो तो उत्तरदिशा की ओर जाएं।

46. वैरात्रिक और प्राभातिक काल में पश्चिम तरफ तथा व्याघातिक और अर्द्धरात्रिक काल में दक्षिण दिशा तरफ जायें।
47. व्याघातिक काल हो तो 'देवसी' बोलना, शेष तीन काल में 'राई' कहना।
48. व्यवहारभाष्य, 3032-3040
49. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 42-43
50. प्राचीन सामाचारी, पृ. 17-19
51. सुबोधा सामाचारी, पृ. 21-22
52. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 125-128
53. आचारदिनकर, पृ. 87-90
54. (क) श्री बृहद्योगविधि, पृ. 15
    (ख) विधिमार्गप्रपा, पृ. 125
55. सुबोधासामाचारी, पृ. 22
56. प्राचीन सामाचारी, पृ. 18
57. विधिमार्गप्रपा, पृ. 126
58, आचार दिनकर, पृ. 88
59. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 43
60. श्री बृहद्योगविधि, पृ. 16
61. आचारदिनकर, पृ. 88
62. श्री प्रव्रज्या योगादि विधिसंग्रह, पृ. 49-51
63. मूलाचार, गा. 270 की टीका, पृ. 225-226
64. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 129
65. आचारदिनकर, पृ. 90
66. (क) श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 53
    (ख) श्री बृहद् योगविधि, पृ. 22-23
67. काल प्रवेदन करना भूल जाएं तो गृहीत सभी कालग्रहण की क्रियाएँ निष्फल हो जाती है, उस दिन पवेयणा की क्रिया हो सकती है।
68. व्यवहारभाष्य, गा. 3190
69. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 44
70. सुबोधा सामाचारी, पृ. 22
71. प्राचीन सामाचारी, पृ. 19

72. विधिमार्गप्रपा, पृ. 128
73. आचारदिनकर, पृ. 90
74. (क) श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ.53
    (ख) श्री बृहद्योगविधि, पृ. 22-23
75. पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. 577
76. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 134
77. श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 59-61
78. श्री बृहद्योग विधि, पृ. 13-14
79. श्री प्रव्रज्या-योगादि विधि संग्रह, पृ. 55-57
80. व्यवहारभाष्य, गा. 3138
81. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 45
82. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 126
83. आचारदिनकर, पृ. 88
84. (क) श्री बृहद् योगविधि, पृ. 32-34
    (ख) श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 64-65
85. जहाँ संघट्टा ग्रहण करना हो वह भूमि प्रतिलेखित और प्रमार्जित होनी चाहिए।
86. गोचरी के अतिरिक्त शेष वस्तुओं का संघट्टा ग्रहण करते समय 'भात पाणी' शब्द न बोलें तथा केवल संघट्टा ग्रहण करना हो तो 'आउत्तवाणय' शब्द न बोलें।
87. आचारदिनकर, पृ. 84
88. वही, पृ. 85-86
89. व्यवहार भाष्य-सानुवाद, 3190-92
90. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 129
91. श्री प्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 54
92. व्यवहारभाष्य, गा. 3191-92
93. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 44-45
94. सुबोधा सामाचारी, पृ. 22-23
95. विधिमार्गप्रपा, पृ. 129
96. आचारदिनकर, पृ. 90
97. व्यवहारभाष्य, गा. 3191-93

98. आचारदिनकर पृ. 90
99. श्री बृहद्योगविधि, पृ. 26-27
100. श्री बृहद्योग विधि, पृ. 143
101. व्यवहारभाष्य, गा. 3156-59
102. वही, 3163-65, 3168-69, 3171-78
103. वही, 3179-80, 3187-90
104. श्री बृहद्योगविधि, पृ. 25
105. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 33
106. विधिमार्गप्रपा सानुवाद, पृ. 130-136
107. वही, पृ. 136
108, श्री बृहद्योगविधि, पृ. 39-40
109. (क) मूलाचार, गा. 576
(ख) कषायपाहुड़, 1/1,1
110. श्रमणाचार, पृ. 9-15

अध्याय-6

योग तप (आगम अध्ययन) की शास्त्रीय विधि

जिन सूत्रों में आप्त पुरुषों की वाणी संकलित है, वे आगम कहलाते हैं। श्वेताम्बर की प्रचलित परम्परा में सामान्यत: 45 आगम माने जाते हैं। जैनाचार्यों ने मन-वचन-काया की एकाग्रता एवं विशिष्ट तप पूर्वक आगम ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने का उपदेश दिया है।

आगम सूत्रों का अध्ययन करते समय किस आगम के लिए कौनसा तप करना चाहिए तथा त्रियोग की पवित्रता बनाये रखने हेतु वंदन-कायोत्सर्ग आदि कितनी संख्या में करना चाहिए? यदि इस सम्बन्ध में जैन साहित्य का अन्वेषण किया जाए तो सामाचारी संग्रह, प्राचीन सामाचारी, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधा सामाचारी, विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर आदि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

उपरोक्त सभी ग्रन्थ लगभग परम्परागत सामाचारी से सम्बन्धित हैं, यद्यपि विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर की सामाचारी वर्तमान में तपागच्छ आदि कुछ आम्नायों में विशेष रूप से स्वीकार्य रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनमें इस क्रिया-विधि का सुविस्तृत एवं शास्त्र सम्मत निरूपण किया गया है। जहाँ तक खरतर या तपागच्छ आदि परम्पराओं का प्रश्न है वहाँ खरतरगच्छ परम्परा विधिमार्गप्रपा का अनुसरण करती है और तपागच्छ आदि परम्पराएँ मुख्यतया आचारदिनकर की सामाचारी का अनुकरण करती हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर दोनों खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा रचित हैं और उनमें सर्वाधिक मतभेद तप-क्रम को लेकर ही है, शेष विधि लगभग समान है। यहाँ ग्रन्थों की मूल्यवत्ता और प्राचीनता को लक्ष्य में रखते हुए विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर दोनों के अनुसार योग तप की विधि कहेंगे।

आवश्यकसूत्र योग विधि

• आवश्यकसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध और छह अध्ययन हैं। • श्रुतस्कन्ध के योग में दो दिन और छह अध्ययन के योग में छह दिन ऐसे कुल आठ दिनों में इस सूत्र के योग पूर्ण होते हैं। • सभी अंगसूत्र एवं श्रुतस्कन्ध के उद्देश और

अनुज्ञा दिन में नन्दी होती है।

• अंगसूत्र एवं श्रुतस्कन्ध के उद्देश-समुद्देश और अनुज्ञा दिन में आयंबिल होता है, अन्य दिनों में नीवि होती है।[1]

• आचारदिनकर के अनुसार अंगसूत्रों एवं श्रुतस्कन्ध के उद्देशादि दिनों में आयंबिल करना चाहिए तथा शेष दिनों में एकान्तर आयंबिल और नीवि– इस क्रम से तप करने का निर्देश है।[2] वहाँ विधिमार्गप्रपा के मतानुसार शेष दिनों में नीवि तप करना चाहिए।

• आवश्यकसूत्र के छह अध्ययन के नाम ये हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वंदन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार ओघनिर्युक्ति, आवश्यकसूत्र में ही अनुप्रविष्ट है। इसलिए ओघनिर्युक्ति का पृथक योग नहीं कहा गया है।[3]

आवश्यकसूत्र की योगविधि इस प्रकार है–

आवश्यकसूत्र का योग जिस दिन प्रारम्भ हो, उस **प्रथम दिन** में श्रुतस्कन्ध का उद्देश और सामायिक नामक प्रथम अध्ययन का उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा करें। इस दिन योगवाही आयंबिल तप करें तथा उद्देशादि की क्रिया नन्दी के समक्ष करें। इस दिन की क्रिया में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, चार बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें, चार बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें और तीन बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव नामक अध्ययन का उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) और अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की विधि करें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, तीन बार द्वादशावर्त्त वंदन करें, तीन बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें और तीन बार कायोत्सर्ग करें।

तीसरे दिन योगवाही तृतीय वन्दन नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत तीन बार मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें, तीन बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें, तीन बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें और तीन बार कायोत्सर्ग करें।

चौथे दिन योगवाही चतुर्थ प्रतिक्रमण नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा करें और तप में नीवि करें। इसकी क्रिया में योगवाही पूर्ववत मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन, कायोत्सर्ग आदि सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही पंचम कायोत्सर्ग अध्ययन का उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

छठें दिन योगवाही षष्ठम कायोत्सर्ग अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसके क्रियानुष्ठान में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

सातवें दिन योगवाही आवश्यकसूत्र के श्रुतस्कन्ध का समुद्देश करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

आठवें दिन योगवाही आवश्यक श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा, नन्दीक्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

यंत्र– श्री आवश्यकसूत्र-आगाढ़योग, दिन-8, नन्दी-2								
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8
अध्ययन	श्रु.उ.,नन्दी. अ.1	2	3	4	5	6	श्रु.समु.	श्रु.अनु. नन्दी
कायोत्सर्ग	4	3	3	3	3	3	1	1
वन्दन	4	3	3	3	3	3	1	1
खमासमण	4	3	3	3	3	3	1	1
मुखवस्त्रिका	4	3	3	3	3	3	1	1
तप (विधिप्रपा के अनुसार)	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.
(आचारदिनकर के अनुसार)	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.

विशेष– श्रुतस्कन्ध के उद्देश का एक कायोत्सर्ग, फिर प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश, एवं अनुज्ञा के तीन कायोत्सर्ग– इस प्रकार चार कायोत्सर्ग होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि योग काल में जिस दिन जितने कायोत्सर्ग होते हैं वन्दन, खमासमण, मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ भी उतनी ही होती हैं।

दशवैकालिकसूत्र योग विधि

• दशवैकालिकसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध और बारह अध्ययन हैं। पाँचवें अध्ययन में दो और नौवें अध्ययन में चार उद्देशक हैं। • नौवें अध्ययन के चार उद्देशकों में दो दिन, शेष ग्यारह अध्ययनों के ग्यारह दिन, श्रुतस्कन्ध के दो दिन ऐसे 2 + 11 + 2 कुल 15 दिनों में इस सूत्र के योग पूर्ण होते हैं। • इस सूत्र के पाँचवें अध्ययन का योग करते समय पहले पाँचवें अध्ययन का उद्देशक, फिर प्रथम और द्वितीय उद्देशक के उद्देशादि, फिर पाँचवें अध्ययन का समुद्देश, फिर पाँचवें अध्ययन की अनुज्ञा करते हैं। जिन सूत्रों के अध्ययन में उद्देशक हों, उनमें अध्ययन एवं उनके उद्देशकों का वहन-क्रम पूर्ववत जानना चाहिए।

• दशवैकालिक सूत्र के बारह अध्ययनों के नाम ये हैं– 1. द्रुमपुष्पिका 2. श्रामण्यपूर्विका 3. क्षुल्लिकाचारकथा 4. षड्जीवनिकाय अथवा धर्मप्रज्ञप्ति 5. पिण्डैषणा– इसमें पिण्ड निर्युक्ति का उपचार से समावेश होता है, ऐसी मान्यता है। 6. धर्मार्थकामाध्ययन अथवा महल्लिकाचार कथा 7. वाक्य शुद्धि 8. आचार प्रणिधि 9. विनयसमाधि 10. सभिक्षु 11. रतिवाक्य और 12. चूलिका।

दशवैकालिकसूत्र की योगविधि यह है–

पहले दिन दशवैकालिकसूत्र के श्रुतस्कन्ध का उद्देश एवं प्रथम द्रुमपुष्पिका नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और आयंबिल तप एवं नन्दी क्रिया करें। इसकी क्रिया में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, चार बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें,चार बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें और चार बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय श्रामण्यपूर्वक नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में योगवाही मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखन आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन योगवाही तृतीय क्षुल्लकाचारकथा नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

चौथे दिन योगवाही चतुर्थ षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही पंचम पिण्डैषणा नामक अध्ययन का उद्देश करें, फिर इसके प्रथम एवं द्वितीय दोनों उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें, फिर अध्ययन का समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

छठवें दिन योगवाही षष्ठम धर्मार्थकाम नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

सातवें दिन योगवाही सप्तम वाक्यशुद्धि नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

आठवें दिन योगवाही अष्टम आचारप्रणिधि नामक अध्ययन का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

नौवें दिन योगवाही नवम विनय समाधि नामक अध्ययन का उद्देश फिर प्रथम उद्देशक का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा, फिर द्वितीय उद्देशक का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

दसवें दिन योगवाही नौवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा, फिर चतुर्थ उद्देशक का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा, फिर नौवें अध्ययन का समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही दशम सभिक्षु नामक अध्ययन की उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

बारहवें दिन योगवाही रतिकल्प नामक प्रथम चूलिका का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तेरहवें दिन योगवाही विविक्तचर्या नामक द्वितीय चूलिका का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

चौदहवें दिन योगवाही दशवैकालिक के श्रुतस्कन्ध का समुद्देश करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

पन्द्रहवें दिन योगवाही दशवैकालिक के श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

यंत्र– श्री दशवैकालिकसूत्र– आगाढ़ योग, दिन-15, नंदी-2									
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9
अध्ययन	श्रु.उ.,नन्दी. अ.1	2	3	4	5	6	7	8	9
उद्देशक	0	0	0	0	1/2	0	0	0	1/2
कायोत्सर्ग	4	3	3	3	9	3	3	3	7
तप (विधिप्रपा	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
के अनुसार)	आ.	नी.	आ.	नी.	आ.	नी.	आ.	नी.	आ.
(आचारदिनकर के अनुसार)									
दिन	10	11	12	13	14	15			
अध्ययन	9	10	11 प्र.चू.	12 द्वि.चू.	श्रु. समु.	श्रु.अ. नंदी			
उद्देशक	3/4	0	0	0	0	0			
कायोत्सर्ग	8	3	3	3	1	1			
तप (विधिप्रपा	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.			
के अनुसार)	नी.	आ.	नी.	आ.	आ.	आ.			
आचारदिनकर के अनुसार)									

मण्डली प्रवेश तप विधि

मण्डली में प्रवेश करने हेतु किसी भी अध्ययन का उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि नहीं होती है, क्योंकि वाचना का व्यवच्छेद होने से स्कन्दिलाचार्य के समय से ही व्यवच्छिन्न चली आ रही है। वर्तमान में यह विधि परम्परागत सामाचारी के अनुसार प्रचलित है। सामान्यतया शैक्ष मुनि सात मण्डलियों में प्रवेश करने के लिए सात आयंबिल करते हैं। आचारदिनकर की सामाचारी के अनुसार मण्डली तप के तीसरे आयंबिल में उपस्थापना हेतु नंदीक्रिया होती है,

किन्तु श्रुत के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु नंदी नहीं होती है। नव दीक्षित मुनि उपस्थापन या महाव्रत आरोपण की नंदी विधि के द्वारा ही सम्पूर्ण मण्डलियों में प्रवेश पा लेता है।[4]

सात मण्डली के नाम हैं– 1. सूत्र मंडली 2. अर्थ मंडली 3. भोजन मंडली 4. काल मंडली 5. आवश्यक (प्रतिक्रमण) मंडली 6. स्वाध्याय मंडली और 7. संस्तारक मंडली।

उत्तराध्ययनसूत्र योग विधि

• उत्तराध्ययनसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध और छत्तीस अध्ययन हैं। एक अध्ययन एक दिन में पूर्ण होता है। विशेष यह है कि यदि योगवाही चतुर्थ 'असंखय' नामक अध्ययन की तेरह गाथाओं को उसी दिन सम्यक रूप से पढ़कर मुखाग्र कर लेता है, तो उसे उसी दिन नीवि तप से अनुज्ञा दे देते हैं, यदि तेरह गाथाएँ कण्ठस्थ नहीं कर पाए तो उस दिन आयंबिल करवाकर दूसरे दिन आयंबिलपूर्वक अनुज्ञा देते हैं। इस प्रकार दो दिन और दो आयंबिल के द्वारा 'असंखय' अध्ययन का योग पूर्ण होता है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार यदि योगवाही दिन की प्रथम पौरुषी के मध्य में 'असंखय' अध्ययन को मुखाग्र कर ले, तो उस दिन नीवि तप द्वारा अनुज्ञा की जाती है, यदि तेरह गाथाओं को मुखाग्र न कर पाए तो आयंबिल करवाया जाता है। उसके बाद उस दिन की अंतिम पौरुषी के मध्य में भी 'असंखय' अध्ययन की तेरह गाथाओं को कंठाग्र कर ले तो उसी दिन अनुज्ञा दे दी जाती है। यदि दूसरे दिन प्रथम पौरुषी के मध्य में इस अध्ययन को पूर्ण करता है तो भी उस दिन नीवि तप द्वारा अनुज्ञा दी जाती है।

• उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन 36 या 37 दिनों में पूर्ण होते हैं। उसके बाद दो दिन श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा में लगते हैं। इस प्रकार इस सूत्र के योग कुल 38 या 39 दिनों में पूर्ण होते हैं।

• दूसरी विधि के अनुसार उत्तराध्ययन के योग 27 या 28 दिन में पूर्ण होते हैं। वह इस प्रकार है– एक से लेकर चौदह अध्ययन एक समान हैं। इसलिए एक दिन में एक अध्ययन की वाचना ही दी जाती है, शेष बाईस अध्ययनों को एक-एक दिन में दो-दो अध्ययन की वाचना देकर पूर्ण करते हैं। श्रुतस्कंध के समुद्देश एवं अनुज्ञा में दो दिन लगते हैं। इस प्रकार 14 + 11 + 2 = 27 या 28 दिन में इसके योग पूर्ण होते हैं।

• इस सूत्र के योगकाल में वस्त्रों को धूप में देना, भिगोना आदि वर्जित है। • छत्तीस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं– 1. विनयश्रुत 2. परीषह 3. चातुरंगीय 4. असंस्कृत अथवा प्रमादाप्रमाद 5. अकाम मरणीय 6. क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय 7. एलक 8. कापिलिक 9. नमिप्रव्रज्या 10. द्रुमपत्रक 11. बहुश्रुतपूजा 12. हरिकेशीय 13. चित्त संभूतीय 14. इषुकारीय 15. सभिक्षु अध्ययन 16. ब्रह्मचर्य समाधिस्थान 17. पापश्रमणीय 18. संयतीय 19. मृगापुत्रीय 20. महानिर्ग्रन्थीय 21. समुद्रपालीय 22. रथनेमीय 23. केशी-गौतमीय 24. समिति 25. यज्ञीय 26. सामाचारी 27. खलुंकीय 28. मोक्षमार्ग गति 29. सम्यक्त्व पराक्रम 30. तपोमार्ग गति 31. चरण विधि 32. प्रमाद स्थान 33. कर्मप्रकृति 34. लेश्या 35. अनगार मार्ग 36. जीवाजीव विभक्ति।

उत्तराध्ययनसूत्र की योगविधि यह है–

पहले दिन योगवाही उत्तराध्ययनसूत्र के श्रुतस्कन्ध का उद्देश और प्रथम अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें। इस दिन आयंबिल तप, नंदीक्रिया एवं एक कालग्रहण भी करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, चार बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें, चार बार खमासमण सूत्र पूर्वक वन्दन करें और चार बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें और एक कालग्रहण एवं नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन योगवाही तृतीय अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें। एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

चौथे दिन योगवाही चतुर्थ अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें। एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। यदि योगवाही उसी दिन असंस्कृत नामक अध्ययन की तेरह गाथाओं को सम्यक रूप से पढ़कर मुखाग्र कर लेता है तो उसे उसी दिन उसकी अनुज्ञा दें, अन्यथा तेरह गाथाओं के कण्ठस्थ होने पर दूसरे दिन आयंबिल आदि करवाकर अनुज्ञा दें। इसकी क्रियाविधि में स्थिति के अनुसार मुखवस्त्रिका आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत दो-दो बार या तीन-तीन बार करें।

पाँचवें दिन यदि चौथे दिन 'असंस्कृत' अध्ययन सम्यक प्रकार से पूर्ण नहीं हुआ हो, तो पाँचवें दिन आयंबिल करें। यदि चौथे दिन पूर्ण कर लिया गया हो, तो भी पाँचवें दिन आयंबिल करें, चौथे अध्ययन की अनुज्ञा करें और एक कालग्रहण लें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

छठवें दिन योगवाही पाँचवें अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी क्रिया में कायोत्सर्ग आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत तीन-तीन बार करें।

सातवें दिन योगवाही छठे अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

आठवें दिन योगवाही सातवें अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

नौवें दिन योगवाही आठवें अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण ले और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

दसवें दिन योगवाही नवें अध्ययन की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही दसवें अध्ययन की उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

बारहवें दिन से लेकर पन्द्रहवें दिन तक भी क्रमशः ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें अध्ययनों की उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इनकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

सोलहवें दिन योगवाही पन्द्रहवें एवं सोलहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

सत्रहवें दिन योगवाही सत्रहवें एवं अठारहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

अठारहवें दिन योगवाही उन्नीसवें एवं बीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

उन्नीसवें दिन योगवाही इक्कीसवें एवं बाईसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करें, एक कालग्रहण ले और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

बीसवें दिन योगवाही तेईसवें एवं चौबीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

इक्कीसवें दिन योगवाही पच्चीसवें एवं छब्बीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

बाईसवें दिन योगवाही सत्ताईसवें एवं अट्ठाईसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप कर लें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

तेईसवें दिन योगवाही उनतीसवें एवं तीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

चौबीसवें दिन योगवाही एकतीसवें एवं बत्तीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

पच्चीसवें दिन योगवाही तैंतीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

छब्बीसवें दिन योगवाही पैंतीसवें एवं छत्तीसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञाविधि करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

सत्ताईसवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध की समुद्देश विधि करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

अट्ठाईसवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञाविधि करें, एक एक कालग्रहण ले, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार अट्ठाइस दिनों में उत्तराध्ययन सूत्र का योग पूर्ण होता है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र– आगाढ़ योग, दिन 28, काल-28, नंदी-2 वृद्धि दिन-4

दिन	1	2	3	4	5	6	7
अध्ययन	श्रु.उ., नन्दी, अ. 1	2	3	4-असंखय उ.समु.	4-असंखय अ.	5	6
कायोत्सर्ग	4	3	3	2 या 3	1	3	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी./आ.	नी./आ.	नी.	नी.

दिन	8	9	10	11	12	13	14	15
अध्ययन	7	8	9	10	11	12	13	14
कायोत्सर्ग	3	3	3	3	3	3	3	3
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.

दिन	16	17	18	19	20	21	22
अध्ययन	15/16	17/18	19/20	21/22	23/24	25/26	27/28
कायोत्सर्ग	6	6	6	6	6	6	6
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.

दिन	23	24	25	26	27	28
अध्ययन	29/30	31/32	33/34	35/36	श्रु.समु.	श्रु.अ. नंदी
कायोत्सर्ग	6	6	6	6	1	1
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

अङ्ग सूत्रों की योग विधि

आचारांगसूत्र योग विधि

प्रथम श्रुतस्कन्ध

• आचारांगसूत्र के दो श्रुतस्कन्ध और पच्चीस अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं।

• प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन में सात, दूसरे अध्ययन में छह, तीसरे अध्ययन में चार, चौथे अध्ययन में चार, पाँचवें अध्ययन में छह, छट्ठे अध्ययन में पाँच, सातवें अध्ययन में आठ और आठवें अध्ययन में चार उद्देशक हैं।

• जिस अध्ययन में सम संख्या (जैसे- 4, 6, 8 आदि) के उद्देशक होते हैं वहाँ एक दिन और एक काल में दो-दो उद्देशक पूर्ण करते हैं तथा जिस अध्ययन में विषम संख्या (3, 5, 9 आदि) के उद्देशक होते हैं वहाँ अंतिम उद्देशक एक दिन और एक काल पूर्वक अध्ययन के साथ पूर्ण करते हैं।

• आचारांग के नौवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है, वह व्युच्छिन्न हो गया है। कहते हैं कि आर्यवज्रस्वामी ने इस अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या उद्धृत की थी, वह विद्या भी अतिशय प्रधान होने के कारण लुप्त हो गई है। वर्तमान में इस अध्ययन की निर्युक्ति मात्र उपस्थित है।

• शीलांकाचार्य के मतानुसार 'महापरिज्ञा' आठवाँ अध्ययन है, विमोक्ष सातवां अध्ययन है और उपधान श्रुत नववाँ अध्ययन है। इस प्रकार वर्तमान में आचारांग सूत्र के आठ अध्ययन ही उपलब्ध हैं।

• आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग में चौबीस दिन लगते हैं।

• आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं- 1. शस्त्र परिज्ञा 2. लोकविजय 3. शीतोष्णीय 4. सम्यक्त्व 5. आयंती अथवा लोकसार 6. धूत 7. विमोक्ष 8. उपधान श्रुत 9. महापरिज्ञा।

आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की योगविधि यह है-

पहले दिन योगवाही आचारांगसूत्र का उद्देश कर फिर प्रथम श्रुतस्कंध का उद्देश करें। फिर परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन का उद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन के पहले उद्देशक का उद्देश और प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देशक का उद्देश करें। इसके बाद क्रमशः प्रथम अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक का

समुद्देश करें, फिर उसी दिन दिन के अन्तिम प्रहर में प्रथम अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक की अनुज्ञा करें। इस दिन अंग सूत्र के उद्देशादि के निमित्त एक कालग्रहण लें, नंदीक्रिया करें एवं आयंबिल तप करें।

इस दिन की समग्रविधि में नौ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, नौ बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें, नौ बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें एवं नौ बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

तीसरे दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के पाँचवें एवं छठवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

चौथे दिन योगवाही सबसे पहले प्रथम अध्ययन के सातवें उद्देशक का उद्देश एवं समुद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर क्रमशः सातवें उद्देशक एवं प्रथम अध्ययन की अनुज्ञा विधि करें। इस दिन उद्देशादि के निमित्त एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें। इस प्रकार पहला अध्ययन चार दिन में पूर्ण होता है।

पाँचवें दिन योगवाही लोकविजय नामक द्वितीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर द्वितीय अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन उद्देशादि के निमित्त एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

छठें दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। *इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।*

सातवें दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के पाँचवें एवं छठे उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें, फिर द्वितीय अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पाँचवें-छठें उद्देशक एवं द्वितीय अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें। इस प्रकार दूसरा अध्ययन तीन दिन में पूर्ण होता है।

आठवें दिन योगवाही शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन का उद्देश करें,

फिर तृतीय अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

नौवें दिन योगवाही तृतीय अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर तृतीय अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-चौथे उद्देशक एवं तृतीय अध्ययन की अनुज्ञा करें; एक कालग्रहण ले और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

दसवें दिन योगवाही सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन का उद्देश करें, फिर चतुर्थ अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही चतुर्थ अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देश के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर चतुर्थ अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-चौथे उद्देशक एवं चतुर्थ अध्ययन की अनुज्ञा करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें। इस प्रकार चौथा अध्ययन दो दिन में पूर्ण होता है।

बारहवें दिन योगवाही लोकसार नामक पंचम अध्ययन का उद्देश करें, फिर पंचम अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

तेरहवें दिन योगवाही पंचम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

चौदहवें दिन योगवाही पंचम अध्ययन के पाँचवें एवं छठे उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें, फिर पंचम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पाँचवें-छठे उद्देशक एवं पाँचों अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस क्रिया के निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

पन्द्रहवें दिन योगवाही द्यूत नामक षष्ठम अध्ययन का उद्देश करें, फिर षष्ठम अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की

क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

सोलहवें दिन योगवाही षष्ठम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

सतरहवें दिन योगवाही षष्ठम अध्ययन के पाँचवें उद्देशक का उद्देश-समुद्देश करें, फिर षष्ठम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पाँचवें उद्देशक एवं छठे अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

अठारहवें दिन योगवाही विमोक्ष नामक सप्तम अध्ययन का उद्देश करें, फिर सप्तम अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, इन वाचनाओं के निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

उन्नीसवें दिन योगवाही सप्तम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, इनके निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

बीसवें दिन योगवाही सप्तम अध्ययन के पाँचवें एवं छठे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह छह बार करें।

इक्कीसवें दिन योगवाही सप्तम अध्ययन के सातवें एवं आठवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर सातवें अध्ययन का समुद्देश करें,फिर सातवें-आठवें उद्देशक एवं सातवें अध्ययन की अनुज्ञा करें, इन वाचनाओं के निमित्त एक कालग्रहण ले और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

बाईसवें दिन योगवाही उपधानश्रुत नामक अष्टम अध्ययन का उद्देश करें, फिर अष्टम अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, इन वाचनाओं के निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

तेईसवें दिन योगवाही अष्टम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर आठवें अध्ययन का समुद्देश करें, फिर

तीसरे-चौथे उद्देशक एवं आठवें अध्ययन की अनुज्ञा करें। इन क्रियाओं के निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

चौबीसवें दिन योगवाही आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, नंदीक्रिया करें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

श्री आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध-आगाढ़योग, दिन-24, कालग्रहण– 24, नंदी-2, अंग-1, अध्ययन-8								
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8
अध्ययन	अं.उ.,श्रु.उ., नंदी, अ.1	1	1	1	2	2	2	3
उद्देशक	1/2	3/4	5/6	7	1/2	3/4	5/6	1/2
कायोत्सर्ग	9	6	6	5	7	6	8	7
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	9	10	11	12	13	14	15	16
अध्ययन	3	4	4	5	5	5	6	6
उद्देशख	3/4	1/2	3/4	1/2	3/4	5/6	1/2	3/4
कायोत्सर्ग	8	7	8	7	6	8	7	6
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	17	18	19	20	21	22	23	24
अध्ययन	6	7	7	7	7	8	8	श्रु.समु., श्रु.अ.,नंदी
उद्देशक	5	1/2	3/4	5/6	7/8	1/2	3/4	0
कायोत्सर्ग	5	7	6	6	8	7	8	2
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार इसका तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

- आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रवेश करने के दिन सर्वप्रथम नन्दी क्रिया की जाती है। उसके बाद श्रुतस्कन्ध का उद्देश कर, प्रथम अध्ययन

का उद्देश किया जाता है। यह श्रुतविधि सभी अंगसूत्र एवं श्रुतस्कन्ध के प्रवेश दिन में की जाती है।

• द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन एवं चौबीस उद्देशक हैं। पहले अध्ययन में ग्यारह, दूसरे-तीसरे अध्ययन में तीन, चौथे से लेकर सातवें– इन चार अध्ययनों में दो-दो उद्देशक हैं, शेष नौ अध्ययन एक समान हैं अर्थात उद्देशक से रहित हैं।

• सप्ततिका नामक सात अध्ययन (8 से 14 अध्ययन) एक समान होने से आउत्तवाणय की विधि एवं भगवतीसूत्र के योग में षष्ठ योग लगने की विधि पूर्वक एक अध्ययन को एक दिन में वहन (पूर्ण) करते हैं। पन्द्रहवाँ एवं सोलहवाँ अध्ययन भी एक समान होने से एक-एक दिन में पूर्ण किए जाते हैं। इस प्रकार 8 से 16 कुल 9 अध्ययनों में नौ दिन लगते हैं।

• परम्परागत धारणा के अनुसार 15वें (अथवा 39 वें) कालग्रहण से लेकर सप्ततिका के सात और एक वृद्धि का ऐसे कुल आठ दिन आगाढ़ होते हैं। इन आठ दिनों के पश्चात 22वाँ और 23वाँ (अथवा 46वाँ-47वाँ) काल ग्रहण ले सकते हैं। 24, 25, 26 वें कालग्रहण के तीन दिन आकसन्धि के होते हैं।[5]

• द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययनों की पाँच चूलाएँ होती हैं।

• द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम ये हैं–

1. पिण्डैषणा 2. शय्या 3. ईर्या 4. भाषाजात 5. वस्त्रैषणा 6. पात्रैषणा 7. अवग्रह प्रतिमा– इन सात अध्ययनों की प्रथम चूला होती है। 8. स्थान 9. निषीधिका 10. उच्चार-प्रस्रवण 11. शब्द 12. रूप 13. परक्रिया 14. अन्योन्य क्रिया– इन सात अध्ययनों की दूसरी चूला है। इन्हें सप्ततिका अध्ययन कहते हैं। 15. भावना अध्ययन की तीसरी चूला है। 16. विमुक्ति अध्ययन की चौथी चूला है। निशीथ अध्ययन की पाँचवीं चूला मानी जाती है, जो इस सूत्र से पृथक कर दिया गया है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योगविधि यह है–

पहले दिन योगवाही सबसे पहले द्वितीय श्रुतस्कन्ध का उद्देश करें, फिर पिण्डैषणा नामक प्रथम अध्ययन का उद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन उद्देशादि की वाचना निमित्त एक कालग्रहण लें, नंदीक्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी

विधि में आठ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, आठ बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें, आठ बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें एवं आठ बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

तीसरे दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के पाँचवें एवं छठे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक काल ग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

चौथे दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के सातवें एवं आठवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक काल का ग्रहण करें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के नौवें एवं दसवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक काल का ग्रहण करें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

छठवें दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के ग्यारहवें उद्देशक का उद्देश-समुद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर ग्यारहवें उद्देशक एवं पहले अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

सातवें दिन योगवाही शय्या नामक द्वितीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर द्वितीय अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

आठवें दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के तीसरे उद्देशक का उद्देश-समुद्देश करें, फिर दूसरे अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे उद्देशक एवं दूसरे अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक काल का ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

नौवें दिन योगवाही ईर्या नामक तृतीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर इस अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

दसवें दिन योगवाही तृतीय अध्ययन के तीसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश करें, फिर तीसरे अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे उद्देशक एवं तीसरे अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक काल का ग्रहण करें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही भाषा नामक चतुर्थ अध्ययन का उद्देश करें, फिर चतुर्थ अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर चौथे अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पहले-दूसरे उद्देशक एवं चौथे अध्ययन की अनुज्ञा करें। इन वाचनाओं के निमित्त एक काल का ग्रहण करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

बारहवें दिन योगवाही वस्त्रैषणा नामक पाँचवें अध्ययन का उद्देश करें, फिर पाँचवें अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश करें, फिर पाँचवें अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पहले-दूसरे उद्देशक एवं पाँचवें अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तेरहवें दिन योगवाही पात्रैषणा नामक छठवें अध्ययन का उद्देश करें, फिर छठे अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक का उद्देश-समुद्देश करें, फिर छठे अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पहले-दूसरे उद्देशक एवं छठे अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण ले और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

चौदहवें दिन योगवाही अवग्रह प्रतिमा नामक सातवें अध्ययन का उद्देश करें, फिर सातवें अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश समुद्देश की क्रिया करें, फिर सातवें अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पहले-दूसरे उद्देशक एवं सातवें अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक काल का ग्रहण करें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

आठवें अध्ययन से लेकर चौदहवें अध्ययन तक के सात अध्ययन आयुक्तपानक के द्वारा होते हैं।

पन्द्रहवें दिन योगवाही स्थान नामक आठवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें। यहाँ से आयुक्तपानक का आरम्भ होता है।

सोलहवें दिन योगवाही निषीधिका नामक नौवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

सत्रहवें दिन योगवाही उच्चार प्रस्रवण नामक दसवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

अठारहवें दिन योगवाही शब्द नामक ग्यारहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

उन्नीसवें दिन योगवाही रूप नामक बारहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

बीसवें दिन योगवाही परक्रिया नामक तेरहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

इक्कीसवें दिन योगवाही अन्योन्य क्रिया नामक चौदहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

बाईसवें दिन योगवाही भावना नामक पन्द्रहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें। इस दिन के बाद से आयुक्तपान का परित्याग होता है।

तेईसवें दिन योगवाही विमुक्त नामक सोलहवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

चौबीसवें दिन योगवाही द्वितीय श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

पच्चीसवें दिन योगवाही आचारांगसूत्र के समुद्देश की क्रिया करें, एक काल का ग्रहण करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

छब्बीसवें दिन योगवाही आचारांगसूत्र की अनुज्ञा विधि करें, एक काल का ग्रहण करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के योगोद्वहन में 50 दिन, पचास कालग्रहण एवं पाँच नंदी होती है।

श्रीआचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दिन-26, काल-26, नंदी-3, अध्ययन-16								
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8
अध्ययन	द्वि.श्रु.उ., नंदी अ.1	1	1	1	1	1	2	2
उद्देशक	1/2	3/4	5/6	7/8	9/10	11	1/2	3
कायोत्सर्ग	8	6	6	6	6	5	7	5
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	9	10	11	12	13	14	15	16
अध्ययन	3	3	4	5	6	7	8 सातिका.1	9 सा.
उद्देशक	1/2	3	1/2	1/2	1/2	1/2	0	0
कायोत्सर्ग	7	5	9	9	9	9	3	3
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	नी
दिन	17	18	19	20	21	22	23	24
अध्ययन	10 सा. 3	11सा. 4	12सा. 5	13सा. 6	14सा. 7	15	16	श्रु.समु. अनु. नंदी
उद्देशक	0	0	0	0	0	0	0	0
कायोत्सर्ग	3	3	3	3	3	3	3	2
तप	आ.	नी.	आ.	नी.	आ.	नी.	नी.	आ.
दिन	25	26						
अध्ययन	अं.समु.	अं. अ. नंदी						
उद्देशक	0	0						
कायोत्सर्ग	1	1						
तप	आ.	आ.						

- आचारदिनकर के अनुसार तप-क्रम दशवैकालिक सूत्र के यन्त्रवत समझें।

सूत्रकृतांगसूत्र योग विधि

प्रथम श्रुतस्कन्ध

• सूत्रकृतांगसूत्र में दो श्रुतस्कन्ध और तेईस अध्ययन हैं। • प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं। सोलह अध्ययनों के नाम ये हैं– 1. समय 2. वैतालीय 3. उपसर्गपरिज्ञा 4. स्त्रीपरिज्ञा 5. नरकविभक्ति 6. वीरस्तव 7. कुशीलपरिभाषा 8. वीर्य 9. धर्म 10. समाधि 11. मार्ग 12. समवसरण 13. यथातथ्य 14. ग्रन्थ 15. जमतीत 16. गाथा।

• इन सोलह अध्ययनों में पन्द्रह उद्देशक हैं। प्रथम अध्ययन में चार, दूसरे अध्ययन में तीन, तीसरे अध्ययन में चार, चौथे अध्ययन में दो और पाँचवें अध्ययन में दो उद्देशक हैं। शेष ग्यारह अध्ययन एक समान हैं, इनमें उद्देशक नहीं हैं।

• प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग कुल बीस दिन में पूर्ण होते हैं।

• प्रथम श्रुतस्कन्ध 'गाथा सोलसग' के नाम से प्रसिद्ध है।

सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की योगविधि यह है–

सूत्रकृतांगसूत्र के योग में प्रवेश करने के **पहले दिन** योगवाही नंदी क्रिया करें, फिर सूत्रकृतांगसूत्र का उद्देश करें, फिर प्रथम श्रुतस्कन्ध का उद्देश करें, फिर समय नामक प्रथम अध्ययन का उद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक काल का ग्रहण करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में नौ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, नौ बार द्वादशावर्त्त वंदन, नौ बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन एवं नौ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

दूसरे दिन योगवाही प्रथम अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर प्रथम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-चौथे उद्देशक एवं प्रथम अध्ययन की अनुज्ञा विधि करें। इन उद्देश आदि के निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

तीसरे दिन योगवाही वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर इस अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की

क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

चौथे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर इस अध्ययन के तीसरे उद्देशक का उद्देश-समुद्देश करें, फिर दूसरे अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे उद्देशक एवं दूसरे अध्ययन की अनुज्ञा करें, उस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही उपसर्गपरिज्ञा नामक तृतीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर तृतीय अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में परिवर्तित सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

छठवें दिन योगवाही तृतीय अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर तीसरे अध्ययन का समुद्देश करें, तीसरे-चौथे उद्देशक एवं तीसरे अध्ययन की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

सातवें दिन योगवाही स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन का उद्देश करें, फिर इस अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर चौथे अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पहले-दूसरे उद्देशक एवं चौथे अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

आठवें दिन योगवाही नरक विभक्ति नामक पंचम अध्ययन का उद्देश करें, फिर इस अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर पाँचवें अध्ययन का समुद्देश करें, फिर पहले-दूसरे उद्देशक एवं पाँचवें अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

नौवें दिन योगवाही वीरस्तव नामक छठवें अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

दसवें दिन से लेकर उन्नीसवें दिन तक शेष दस अध्ययनों को छठवें अध्ययन के समान एक-एक दिन में पूर्ण करें। इन अध्ययनों के उद्देशादि

पूर्ववत करें तथा दस दिन तक एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इन अध्ययनों की क्रियाविधि में सभी क्रियाएँ पूर्ववत तीन-तीन बार करें।

बीसवें दिन योगवाही प्रथम श्रुतस्कन्ध का समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल का प्रत्याख्यान करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें। इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग बीस दिन के होते हैं।

श्री सूत्रकृतांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध-अनागाढ़, दिन-20, काल-20, नंदी-2, अंग-2, अध्ययन-16										
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
अध्ययन	अं.उ.,नंदी श्रु.उ.,अ.1	1	2	2	3	3	4	5	6	7
उद्देशक	1/2	3/4	1/2	3	1/2	3/4	1/2	1/2	0	0
कायोत्सर्ग	9	8	7	5	7	8	9	9	3	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20
अध्ययन	8	9	10	11	12	13	14	15	16	प्र.श्रु.
उद्देशक	0	0	0	0	0	0	0	0	0	समु.अनु. नंदी
कायोत्सर्ग	3	3	3	3	3	3	3	3	3	2
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तपक्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

- सूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन एक समान हैं। इनमें उद्देशक नहीं है, अत: एक दिन में एक अध्ययन पूर्ण किया जाता है और तीन दिन अंगसूत्र एवं श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा में लगते हैं। इस प्रकार इस योग में कुल दस दिन लगते हैं।

- द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम ये हैं– 1. पुंडरीक 2. क्रियास्थान 3. आहारपरिज्ञा 4. प्रत्याख्यानपरिज्ञा 5. अनगार 6. आर्द्रकीय 7. नालन्दा।

• सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योगविधि यह है–

पहले दिन योगवाही द्वितीय श्रुतस्कन्ध का उद्देश करें, फिर द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पुंडरीक नामक प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन उद्देशादि के निमित्त एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना,चार बार द्वादशवर्त्तवन्दन, चार बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन एवं चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

दूसरे दिन योगवाही क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन से लेकर सातवें दिन तक शेष पाँच अध्ययनों को एक-एक दिन में पूर्ण करें तथा इनके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया पूर्ववत ही सम्पन्न करें। इन दिनों में भी एक-एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इनकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

आठवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

नौवें दिन योगवाही सूत्रकृतांग के समुद्देश की क्रिया करें, एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

दसवें दिन योगवाही सूत्रकृतांग के उद्देश की क्रिया करें, एक काल का ग्रहण करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग दस दिन के होते हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों में कुल मिलाकर तीस दिन, तीस काल एवं पाँच नंदी होती है।

श्री सूत्रकृतांग–द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दिन-10, काल-10, नंदी-3, अध्ययन-10										
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
अध्ययन	द्वि.श्रु. उ., नंदी,अ. 1	2	3	4	5	6	7	श्रु.समु.अ. नंदी	अं.समु.	अं.अ. नंदी
कायोत्सर्ग	4	3	3	3	3	3	3	2	1	1
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.	आ.

• आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

स्थानांगसूत्र योग विधि

• यह तीसरा अंग सूत्र है। इस सूत्र के योग में प्रवेश करने के दिन सर्वप्रथम नंदी क्रिया करते हैं, फिर स्थानांग सूत्र का उद्देश करते हैं, फिर श्रुतस्कन्ध का उद्देश करते हैं, फिर प्रथम अध्ययन के उद्देशादि की क्रिया करते हैं।

• स्थानांगसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन एक समान है, दूसरे अध्ययन में चार, तीसरे अध्ययन में चार, चौथे अध्ययन में चार, पाँचवें अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। छह से लेकर दस तक पाँच अध्ययन एक समान हैं और इसमें कुल पन्द्रह उद्देशक हैं।

• स्थानांगसूत्र के अध्ययनों के नाम ये हैं– एक स्थान, दो स्थान, तीन स्थान से लेकर दस स्थान तक हैं।

स्थानांगसूत्र की योगोद्वहन विधि यह है–

पहले दिन योगवाही स्थानांगसूत्र का उद्देश करें, फिर श्रुतस्कन्ध का उद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन वाचनाओं के निमित्त एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया एवं आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, पाँच बार द्वादशावर्त्तवंदन, पाँच बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन एवं पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन का उद्देश करें, फिर द्वितीय अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

तीसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें। फिर द्वितीय अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-

चौथे उद्देशक एवं दूसरे अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल का ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

चौथे दिन योगवाही तृतीय अध्ययन का उद्देश करें फिर तृतीय अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही तृतीय अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें। फिर तृतीय अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-चौथे उद्देशक एवं तृतीय अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल का ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

छठवें दिन योगवाही चतुर्थ अध्ययन का उद्देश करें, फिर चतुर्थ अध्ययन के पहले दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

सातवें दिन योगवाही चतुर्थ अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें। फिर चतुर्थ अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-चौथे उद्देशक एवं चतुर्थ अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल का ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

आठवें दिन योगवाही पंचम अध्ययन का उद्देश करें, फिर पंचम अध्ययन के पहले दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

नौवें दिन योगवाही पंचम अध्ययन के तीसरे उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें। फिर पंचम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे उद्देशक एवं पंचम अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल का ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

दसवें दिन योगवाही षष्ठम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया-विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

ग्यारहवें दिन से लेकर चौदहवें दिन तक शेष चार अध्ययनों को एक-एक दिन में पूर्ण करें। इनके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया पूर्ववत ही

सम्पन्न करें। इन दिनों में भी एक-एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया विधि में पूर्ववत ही सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

पन्द्रहवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

सोलहवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें। इस दिन एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

सत्रहवें दिन योगवाही स्थानांगसूत्र के समुद्देश की क्रिया करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

अठारहवें दिन योगवाही स्थानांगसूत्र की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार स्थानांग सूत्र के योगोद्वहन में कुल अठारह दिन एवं तीन नंदी होती हैं।

श्री स्थानांगसूत्र– श्रुतस्कन्ध-1, अनागाढ़, दिन–18, काल-18, नंदी-3, अंग-3, अध्ययन-10										
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
अध्ययन	अं.उ.,नंदी श्रु.उ.,अ.1	2	2	3	3	4	4	5	5	6
उद्देशक	0	1/2	3/4	1/2	3/4	1/2	3/4	1/2	3	0
कायोत्सर्ग	5	7	8	7	8	8	8	7	5	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.

दिन	11	12	13	14	15	16	17	18
अध्ययन	7	8	9	10	श्रु.समु.	श्रु.अनु. नंदी	अं.समु.	अं.अनु. नंदी
उद्देशक	0	0	0	0	0	0	0	0
कायोत्सर्ग	3	3	3	3	1	1	1	1
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.	आ.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

समवायांगसूत्र योग विधि

• यह चौथा अंगसूत्र है। इस सूत्र में श्रुतस्कन्ध, उद्देशक और अध्ययन नहीं है अत: समवायांग के उद्देश,समुद्देश एवं अनुज्ञा के निमित्त इस योग में तीन दिन लगते हैं।

पहले दिन योगवाही समवायांग सूत्र के उद्देश की क्रिया करें। इसके निमित्त एक काल का ग्रहण, नंदी क्रिया एवं आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में सभी क्रिया पूर्ववत एक-एक बार करें।

दूसरे दिन योगवाही समवायांगसूत्र के समुद्देश की क्रिया करें। इसके निमित्त एक काल का ग्रहण एवं आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में सभी क्रियाएँ पूर्ववत एक-एक बार करें।

तीसरे दिन योगवाही समवायांगसूत्र की अनुज्ञा की क्रिया करें। इसके निमित्त एक काल का ग्रहण, नंदी क्रिया एवं आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में सभी क्रिया पूर्ववत एक-एक बार करें।

इस प्रकार समवायांगसूत्र के योगोद्वहन में कुल तीन दिन लगते हैं और दो नंदी होती है।

श्रीसमवायांगसूत्र– आगाढ़ योग, दिन-3, काल-3, नंदी-2, अंग-4			
दिन	1	2	3
सूत्र	अं.उ. नंदी	अं. समु.	अं.अनु. नंदी
कायोत्सर्ग	1	1	1
तप	आ.	आ.	आ.

• आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) योग विधि

• यह पांचवाँ अंगसूत्र है। इस सूत्र के योग छह मास और छह दिन अर्थात 186 दिन में पूर्ण होते हैं। • इस पाँचवें अंग में श्रुतस्कन्ध नहीं है। • इस सूत्र में 41 शतक (अध्ययन) हैं। इन 41 शतकों में कुल 1932 उद्देशक हैं– जैसे पहले शतक में 10, दूसरे शतक में 10, तीसरे में 10, चौथे में 10, पाँचवें में 10, छठवें में 10, सातवें में 10, आठवें में 10, नौवें में 34, दसवें में 34,

ग्यारहवें में 12, बारहवें में 10, तेरहवें में 10, चौदहवें में 10, पन्द्रहवें में उद्देशक नहीं है। सोलहवें में 14, सत्रहवें में 17, अठारहवें में 10, उन्नीसवें में 10, बीसवें में 10, इक्कीसवें में 80, बाईसवें में 60, तेईसवें में 50, चौबीसवें में 24, पच्चीसवें में 12, छब्बीसवें में 11, सत्ताईसवें में 11, अट्ठाईसवें में 11, उनतीसवें में 11 तीसवें में 11, इकतीसवें में 28, बत्तीसवें में 28, तैंतीसवें में 124, चौतीसवें में 124, पैंतीसवें में 132, छत्तीसवें में 132, सैंतीसवें में 132, अड़तीसवें में 132, उनचालीसवें में 132, चालीसवें में 131, इकतालीसवें में 196 उद्देशक हैं।

• दूसरे शतक के प्रथम उद्देशक में स्कंदक और तीसरे शतक के दूसरे उद्देशक में चमर का उल्लेख है। इसी प्रकार पन्द्रहवें उद्देशक में गोशालक का उल्लेख है। इसमें भोजन पानी सहित पैंतीस दत्तियाँ होती हैं।

• तृतीय शतक के द्वितीय उद्देशक चमरेन्द्र नामक योग में षष्ठम योग होता है। इस योग में उत्सर्गत: विगय का त्याग करना चाहिए। इस योग काल में पाँच नीवि और छठवें दिन आयंबिल होता है।

• पन्द्रहवें गोशालक शतक की अनुज्ञा के पश्चात अष्टम योग लगता है, उसमें सात दिन नीवि एवं आठवें दिन आयंबिल करते हैं। वर्तमान सामाचारी के अनुसार गोशालक शतक के योग में अष्टमी-चतुर्दशी के दिन आयंबिल करते हैं। गोशालक शतक में तीन दत्तियों का भंग होने पर सर्वभग्न माना जाता है।

स्पष्ट है कि चमर नामक उद्देशक की अनुज्ञा में षष्ठ योग लगता है और गोशालक नामक पन्द्रहवें शतक की अनुज्ञा में अष्टम योग लगता है। योग दिन की अपेक्षा से कहें तो भगवतीसूत्र के योगोद्वहन के पन्द्रह दिन और पन्द्रह काल ग्रहण पूर्ण होने के बाद षष्ठ योग लगता है तथा भगवतीसूत्र योग के उनचास दिन और उनचास काल ग्रहण पूर्ण होने के पश्चात अष्टम योग लगता है।

• भगवतीसूत्र के योग को सतहत्तर (77) दिन और सतहत्तर कालग्रहण करके पूर्ण करते हैं। शेष एक सौ नौ (109) दिन में सूत्रवाचना, कालग्रहण, वन्दन, खमासमणा,कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं परन्तु नीवि तप किया जाता है।[6]

• इस सूत्र के योग में स्थिर संघट्टा होता है अर्थात न संघट्टा ग्रहण किया जाता है और न ही विसर्जित किया जाता है ऐसी सामाचारी है, किन्तु

आउत्तवाणय ग्रहण भी किया जाता है और विसर्जित भी किया जाता है। भगवतीसूत्र की योगोद्वहन विधि इस प्रकार है–

पहले दिन योगवाही सर्वप्रथम भगवतीसूत्र का उद्देश करें, फिर प्रथम शतक के उद्देश की क्रिया करें, फिर प्रथम शतक के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक काल का ग्रहण, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में आठ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, आठ बार द्वादशावर्त्त वंदन करें, आठ बार खमासमणापूर्वक वन्दन करें एवं आठ बार कायोत्सर्ग करें।

इसी प्रकार **दूसरे दिन** प्रथम शतक के तीसरे-चौथे, **तीसरे दिन** पाँचवें-छठे, **चौथे दिन** सातवें-आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन दिनों एक-एक काल ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही प्रथम शतक के नौवें-दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश की क्रिया करें, फिर पहले शतक का समुद्देश करें, फिर नौवे-दसवें उद्देशक एवं पहले शतक की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

छठवें दिन योगवाही द्वितीय शतक के उद्देशक की क्रिया करें, फिर द्वितीय शतक के स्कन्ध नामक प्रथम उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करें। यदि उस दिन योगवाही स्कन्ध उद्देशक को कण्ठस्थ न कर पाये, तो उस दिन उसकी अनुज्ञा न दें। दूसरे दिन मुखाग्र करने पर आयंबिल तप के द्वारा उसकी अनुज्ञा दें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

सातवें दिन योगवाही स्कन्धक उद्देशक की अनुज्ञा करें। इसके निमित्त एक काल का ग्रहण करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

आठवें दिन योगवाही द्वितीय शतक के दूसरे-तीसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें, एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

इसी प्रकार **नौवें-दसवें और ग्यारहवें दिन** क्रमशः चौथे-पाँचवें, छठें-सातवें एवं आठवें-नौवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें।

इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

बारहवें दिन योगवाही दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश की क्रिया करें, फिर दूसरे शतक का समुद्देश करें, फिर दसवें उद्देशक एवं द्वितीय शतक की अनुज्ञा करें, एक काल का ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें। इस प्रकार द्वितीय शतक सात दिन और सात काल में पूर्ण होता है।

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार पहले दिन 'खंधक' उद्देशक की अनुज्ञा न होने पर दूसरे दिन कायोत्सर्ग आदि अनुष्ठान करने के पश्चात उसकी अनुज्ञा की जाती है। द्वितीय शतक के इन सात दिनों में आहार पानी की पाँच दत्तियाँ होती हैं। तीन भोजन की तथा दो पानी की, अथवा दो भोजन की तीन पानी की या दो-दो आहार-पानी की तथा एक लवण की– इस प्रकार तीन विकल्पों से पाँच दत्तियाँ होती हैं।

• यहाँ दत्ति से यह तात्पर्य है कि जब मुनि गृहस्थ के घर भिक्षार्थ जाता है वहाँ उसे सर्वप्रथम जितना आहार दिया जाता है, उस दिन उतना ही ग्रहण करना– यह मुनियों की दत्ति है। गृहस्थ की दत्ति से तात्पर्य यह है कि दत्ति के प्रत्याख्यान से अनभिज्ञ व्यक्ति के द्वारा दत्ति प्रत्याख्याता गृहस्थ की थाली में जो प्रथम बार रख दिया जाता है, वे उस दिन उतना ही आहार लें, दूसरी बार ग्रहण नहीं करें– यह गृहस्थों की दत्ति है।

तेरहवें दिन योगवाही तीसरे शतक के उद्देश की क्रिया करें, इसके बाद इसके ही प्रथम उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ चार चार बार करें।

चौदहवें दिन योगवाही तीसरे शतक के 'चमर' नामक द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश की क्रिया करें। यदि उस दिन योगवाही के द्वारा चमर उद्देशक कण्ठस्थ कर लिया जाए तो उसे उसी दिन अनुज्ञा दे दें, अन्यथा दूसरे दिन मुखाग्र करने पर आयंबिल द्वारा अनुज्ञा दें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

पन्द्रहवें दिन योगवाही चमर उद्देशक की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

• इस प्रकार पन्द्रह दिन एवं पन्द्रह काल के व्यतीत होने पर षष्ठम योग लगता है। षष्ठम योग में क्रमशः पाँच दिन नीवि करें, तत्पश्चात छठे दिन आयंबिल करें। इसके बाद छह दिन नीवि करें तथा सातवें दिन आयंबिल करें। इसी प्रकार पाँच दिन नीवि करें तथा छठे दिन आयंबिल करें। गोशालक शतक के उद्देश के पूर्व तक (पन्द्रहवें दिन से लेकर चौंतीसवें दिन तक) षष्ठम योग किया जाता है।

• षष्ठम योग लगने पर उसमें प्रवेश करने के लिए एवं दस विगयों में से पक्वान्न विगय का विसर्जन करने के लिए उस दिन एक नवकार मंत्र का कायोत्सर्ग करते हैं तथा कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कार मन्त्र बोलते हैं। षष्ठम योग के बाद पक्वान्न विगय ग्रहण करना कल्पता है।

• षष्ठ योग लगने पर सम्यक प्रकार से संस्कारित की गई छाछ निर्मित्त कड़ी आदि को उस दिन ग्रहण करना कल्पता है जबकि षष्ठ योग से पूर्व उक्त पदार्थ अकल्प्य होते हैं।

• षष्ठ योग लगने के बाद पक्वान्न विगय का ग्रहण करने पर भी दिन या तप का नाश नहीं होता है।[7]

सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें दिन क्रमशः तीसरे-चौथे, पाँचवें-छठे, सातवें-आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा करें। इन दिनों एक-एक काल का ग्रहण करें और नीवि तप करें। इसकी क्रिया में पूर्ववत सभी क्रियाएँ चार-चार बार करें।

उन्नीसवें दिन योगवाही नौवें-दसवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर तीसरे शतक का समुद्देश करें, फिर नौवें-दसवें उद्देशक एवं तीसरे शतक की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल का ग्रहण और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें। इस प्रकार तीसरा शतक सात दिन और सात काल में पूर्ण होता है। आचारदिनकर के अनुसार तृतीय शतक के योग में भी आहार-पानी की पाँच दत्तियाँ होती हैं।

बीसवें दिन योगवाही चौथे शतक के उद्देश की क्रिया करें, फिर चौथे शतक के आदि के चार एवं अन्त के चार ऐसे आठ उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

इक्कीसवें दिन योगवाही नौवें-दसवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश करें, फिर चौथे शतक का समुद्देश करें, फिर नौवें-दसवें उद्देशक एवं चतुर्थ शतक की अनुज्ञा करें। इस दिन एक कालग्रहण ले और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

बाईसवें दिन योगवाही पाँचवें शतक के उद्देश की क्रिया करें, फिर पाँचवें शतक के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

तेइसवें-चौबीसवें और पच्चीसवें दिन क्रमशः तीसरे-चौथे, पाँचवें-छठे-सातवें-आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन दिनों एक-एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

छब्बीसवें दिन योगवाही नौवें-दसवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर पाँचवें शतक का समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

सत्ताईसवें दिन से लेकर इकतालीसवें दिन तक छठा, सातवाँ और आठवाँ शतक पाँचवें शतक के समान ही पूर्ण करें। इन तीनों शतकों में दस-दस उद्देशक हैं। एक दिन में दो उद्देशक किये जाते हैं। इस प्रकार इन तीनों शतकों को पाँच-पाँच दिन में पूर्ण करें, कुल पन्द्रह दिन में तीनों शतक के योग हो जाते हैं। यहाँ तक भगवती योग के इकतालीस कालग्रहण भी पूरे हो जाते हैं।

बयालीसवें दिन योगवाही नौवें शतक के उद्देश की क्रिया करें, फिर नौवें शतक के आदि के सत्रह एवं अन्त के सत्रह–ऐसे चौंतीस उद्देशकों के उद्देश की क्रिया करें। तत्पश्चात नौवें शतक तथा उसके आदि के सत्रह एवं अन्त के सत्रह– ऐसे चौंतीस उद्देशकों के समुद्देश की क्रिया करें। तत्पश्चात पुनः नौवें शतक तथा उसके आदि के सत्रह एवं अन्त के सत्रह– ऐसे चौंतीस उद्देशकों की अनुज्ञा करें।

तैंतालीसवें दिन से लेकर सैंतालीसवें दिन तक दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ– इन पाँच शतकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि एक जैसी ही है तथा इन शतकों को नौवें शतक के समान ही पूर्ण करें।

इन शतकों में क्रमशः चौंतीस, बारह, दस, दस एवं दस उद्देशक हैं। इन सभी शतकों के दो भाग करके एक-एक शतक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया एक-एक दिन और एक-एक कालग्रहण के द्वारा करें। प्रत्येक दिन इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

अड़तालीसवें दिन योगवाही गोशालक नामक पन्द्रहवें शतक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें। यदि योगवाही के द्वारा उसी दिन गोशालक शतक सम्यक प्रकार से पढ़ लिया जाए, तो उसी दिन उसकी अनुज्ञा दे दें, अन्यथा दूसरे दिन आयंबिल एवं एक कालग्रहण पूर्वक उसकी अनुज्ञा करें। इस दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

उनचासवें दिन गोशालक शतक की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

• गोशालक शतक के योग में दोनों दिन तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करें अर्थात दो भोजन की और एक पानी की अथवा दो पानी की और एक भोजन की इस प्रकार तीन दत्तिपूर्वक आहार लें।

• गोशालक शतक की अनुज्ञा हो जाने के पश्चात अष्टम योग प्रारम्भ होता है। इस दिन अष्टम योग में प्रवेश करने के निमित्त एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करते हैं। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कारमन्त्र बोलते हैं। अष्टम योग प्रारम्भ होने पर क्रमशःसात दिन नीवि और आठवें दिन आयंबिल करते हैं। कुछ परम्पराओं में आठवें दिन आयंबिल और नौवें दिन नीवि करते हैं। आचारदिनकर के मत से सात दिन नीवि एवं आठवें दिन आयंबिल इस प्रकार का तप क्रम छह मास तक निरंतर रहता है। किन्तु वर्तमान स्थविरों का यह मत है कि अष्टमी-चतुर्दशी के दिन आयंबिल करें और शेष दिनों में छह महीने के अन्त तक नीवि करें। विधिमार्गप्रपाकार ने सात दिन नीवि और आठवें दिन आयंबिल करने के पश्चात शेष शतकों के योग में नीवि तप करने का उल्लेख किया है।

• विधिमार्गप्रपा के मतानुसार गोशालक नामक शतक के अन्तर्गत तेजनिसर्ग नामक अनुज्ञा के दिन नीवि तप के द्वारा नंदी आदि दस प्रकीर्णकों के योग वंदन, खमासमण एवं कायोत्सर्ग पूर्वक पूर्ण किए जाते हैं। दस प्रकीर्णकों

के नाम हैं– 1. नंदी 2. अनुयोग 3. देवेन्द्रस्तव 4. तन्दुलवैतालिक 5. चन्द्रवेध्यक 6. गणिविद्या 7. मरण समाधि 8. ध्यान विभक्ति 9. आतुरप्रत्याख्यान और 10. महाप्रत्याख्यान।

• गोशालक शतक की अनुज्ञा तक उनचास दिन और उनचास कालग्रहण पूर्ण हो जाते हैं। उसके बाद शेष छब्बीस शतकों के योग एक-एक दिन और एक-एक कालग्रहण पूर्वक पूर्ण करते हैं। भगवतीसूत्र के प्रारम्भिक दिन से लेकर इन छब्बीस शतकों के योग तक पचहत्तर कालग्रहण पूर्ण हो जाते हैं। इसके बाद भगवतीसूत्र के समुद्देश एवं अनुज्ञा के निमित्त दो कालग्रहण लिए जाते हैं। इस प्रकार भगवती सूत्र के योग में सतहत्तर कालग्रहण लिए जाते हैं।

• यहाँ गोशालक शतक की अनुज्ञा के पश्चात शेष छब्बीस शतकों के योग पचासवें दिन से लेकर पचहत्तरवें दिन तक उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया पूर्ण करें। शतकों के मध्यगत उद्देशक के आधे शतकों की आदि संज्ञा के द्वारा एवं आधे शतकों की अन्तिम संज्ञा द्वारा उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करें। अगर शतकों में उद्देशकों की संख्या विषम हो, तो आदि में एक उद्देशक ज्यादा लें अर्थात उनके समान रूप से दो भाग करके, आदि में एक उद्देशक अधिक रखें।

पचासवें दिन योगवाही सोलहवें शतक के उद्देशादि की क्रिया करें, फिर इसी शतक के आदि के सात एवं अन्त के सात–ऐसे चौदह उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भाँति पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

इक्यावनवें दिन योगवाही सत्रहवें शतक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। साथ ही इस शतक के आदि के नौ एवं अन्त के आठ–ऐसे सत्रह उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भाँति पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

बावनवें दिन योगवाही अठारहवें शतक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। साथ ही इसी शतक के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच– ऐसे दस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भाँति पूर्ण करें।

इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तिरपनवें दिन योगवाही उन्नीसवें शतक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। साथ ही इसी शतक के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच–ऐसे दस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भाँति पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

चौवनवें दिन योगवाही बीसवें शतक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। साथ ही इसी शतक के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच-ऐसे दस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भांति पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

पचपनवें दिन योगवाही इक्कीसवें शतक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। साथ ही इसी शतक के आदि के चालीस एवं अन्त के चालीस–ऐसे अस्सी उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भाँति पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

छप्पनवें दिन योगवाही बाईसवें शतक एवं उनके आदि के तीस एवं अन्त के तीस–ऐसे साठ उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक की भाँति पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

सत्तावनवें दिन योगवाही तेईसवें शतक एवं उनके आदि के पच्चीस एवं अन्त के पच्चीस–ऐसे पचास उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

अट्ठावनवें दिन योगवाही चौबीसवें शतक एवं उनके आदि के बारह एवं अन्त के बारह–ऐसे चौबीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया, नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

उनसठवें दिन योगवाही पच्चीसवें शतक एवं उनके आदि के छह एवं अन्त के छह–ऐसे बारह उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

साठ से लेकर चौसठवें दिन तक योगवाही छब्बीस से तीस पर्यन्त पाँच शतकों के योग पूर्ण करें। छब्बीसवाँ **बंधई** नामक शतक, सत्ताईसवाँ **करिंसुग** नामक शतक, अट्ठाईसवाँ **कर्मसमार्जन** नामक शतक, उनतीसवाँ **कर्म प्रस्थापना** नामक शतक और तीसवाँ **समवसरण** नामक शतक है– इन पाँचों शतकों में ग्यारह-ग्याराह उद्देशक हैं। उन उद्देशकों के 6+5 ऐसे दो भाग करके उनके उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। पाँच दिन तक एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

पैंसठवें दिन योगवाही इकतीसवें उपपात शतक एवं उनके आदि के चौदह एवं अन्त के चौदह–ऐसे अट्ठाईस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

छियासठवें दिन योगवाही बत्तीसवें **उद्वर्तन** शतक एवं उनके आदि के चौदह एवं अन्त के चौदह– ऐसे अट्ठाईस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

सड़सठवें दिन योगवाही तैंतीसवें **एकेन्द्रिययुग्म** शतक (जिसमें बारह उपशतक है) के एवं उसके आदि के बासठ एवं अन्त के बासठ–ऐसे एक सौ चौबीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

अड़सठवें दिन योगवाही चौतीसवें **एकेन्द्रियश्रेणि** शतक (जिसमें बारह उपशतक हैं) के एवं उसके आदि के बासठ एवं अन्त के बासठ–ऐसे एक सौ चौबीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण

करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

उनहत्तरवें दिन योगवाही पैंतीसवें **एकेन्द्रियमहायुग्म** शतक (जिसमें बारह उपशतक हैं) के एवं उसके आदि के छियासठ एवं अन्त के छियासठ–ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

सत्तरवें दिन योगवाही छत्तीसवें **बेइन्द्रियमहायुग्म** शतक (जिसमें बारह उपशतक हैं) के एवं उसके आदि के छियासठ एवं अन्त के छियासठ–ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

इकहत्तरवें दिन योगवाही सैंतीसवें **तेइन्द्रिय महायुग्म** शतक (जिसमें बारह उपशतक हैं) के एवं उसके आदि के छियासठ एवं अन्त के छियासठ–ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

बहत्तरवें दिन योगवाही अड़तीसवें **चउरीन्द्रिय महायुग्म** शतक (जिसमें बारह उपशतक है) के एवं उसके आदि के छियासठ एवं अन्त के छियासठ–ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तिहत्तरवें दिन योगवाही उनचालीसवें **असंज्ञिपंचेन्द्रिय महायुग्म** शतक (जिसमें बारह उपशतक हैं) के एवं उसके आदि के छियासठ एवं अन्त के छियासठ–ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

चौहत्तरवें दिन योगवाही चालीसवें **संज्ञिपंचेन्द्रिय महायुग्म** शतक (जिसमें इक्कीस उपशतक हैं) के एवं उसके आदि के एक सौ सोलह एवं अन्त के एक

सौ पन्द्रह ऐसे दो सौ इकतीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

पचहत्तरवें दिन योगवाही इकतालीसवें **राशियुग्म** शतक का एवं उसके आदि के अट्ठावनवें एवं अन्त के अट्ठावनवें– ऐसे एक सौ छियानवे उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया नौवें शतक के समान पूर्ण करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

छिहत्तरवें दिन योगवाही भगवती सूत्र के समुद्देश की क्रिया करें। इसके निमित्त एक कालग्रहण लें और आयंबलि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

सतहत्तरवें दिन योगवाही भगवतीसूत्र के अनुज्ञा की क्रिया करें। इस अनुज्ञा के निमित्त एक कालग्रहण लें, नन्दी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

श्री भगवतीसूत्र-आगाढयोग, दिन-183, काल-77, नंदी-2, शतक-41							
दिन	1	2	3	4	5	6	7
शतक	अं.उ.,नंदी श.उ.1	1	1	1	1	2.शत.उ.	2
उद्देशक	1/2	3/4	5/6	7/8	9/10	1. खंधक उ. समु.	खंध.अनु.
कायोत्सर्ग	8	6	6	6	8	3	1
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.
दिन	8	9	10	11	12	13	14
शतक	2	2	2	2	2	3	3
उद्देशक	2/3	4/5	6/7	8/9	10	1	2 चमर उद्दे.,समु.
कायोत्सर्ग	6	6	6	6	5	4	2
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.

दिन	15	16	17	18	19	20	21
शतक	3	3	3	3	3	4	4
उद्देशक	चमर अनु.	3/4	5/6	7/8	9/10	आदि 4 अन्त 4	9/10
कायोत्सर्ग	1	6	6	6	8	7	8
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	22	23	24	25	26	27	28
शतक	5	5	5	5	5	6	6
उद्देशक	1/2	3/4	5/6	7/8	9/10	1/2	3/4
कायोत्सर्ग	7	6	6	6	8	7	6
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	29	30	31	32	33	34	35
शतक	6	6	6	7	7	7	7
उद्देशक	5/6	7/8	9/10	1/2	3/4	5/6	7/8
कायोत्सर्ग	6	6	8	7	6	6	6
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	36	37	38	39	40	41	42
शतक	7	8	8	8	8	8	9
उद्देशक	9/10	1/2	3/4	5/6	7/8	9/10	आ. 17 अं. 17
कायोत्सर्ग	8	7	6	6	6	8	9
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	43	44	45	46	47	48	49
शतक	10	11	12	13	14	15	15
उद्देशक	आ.17 अं.17	आ.6 अं.6	आ.5 अं.5	आ.5 अं.5	आ.5 अं.5	गोशालक उद्दे.समु.	गोशालक अनु.
कायोत्सर्ग	9	9	9	9	9	2	1
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.

दिन	50	51	52	53	54	55
शतक	16	17	18	19	20	21
उद्देशक	आ.7 अं.7	आ.9 अं.9	आ.5 अं.5	आ.5 अं.5	आ.5 अं.5	आ.40 अं.40
कायोत्सर्ग	9	9	9	9	9	9
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	56	57	58	59	60	61
शतक	22	23	24	25	26	27
उद्देशक	आ.30 अं. 30	आ.25 अं.25	आ.12 अं.12	आ.6 अं.6	आ.6 अं.5	आ.6 अं.5
कायोत्सर्ग	9	9	9	9	9	9
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	62	63	64	65	66	67
शतक	28	29	30	31	32	33/12 अवां. शतक
उद्देशक	आ.6 अं.5	आ.6 अं.5	आ.6 अं.5	आ.14 अं.14	आ.14 अं.14	आ.62 अं.62
कायोत्सर्ग	9	9	9	9	9	9
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	68	69	70	71	72	73
शतक	34/12	35/12	36/12	37/12	38/12	39/12
उद्देशक	आ.62 अं.62	आ.66 अं.66	आ.66 अं.66	आ.66 आं.66	आ,.66 आं.66	आ.66 अं.66
कायोत्सर्ग	9	9	9	9	9	9
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	74	75	76	77		
शतक	40/21	41	अं.समु.	अं.अनु. नंदी		
उद्देशक	आ.116 अं.115	आ.98 अं.98	0	0		
कायोत्सर्ग	9	9	1	1		
तप	नी.	नी.	आ.	आ.		

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र योग विधि

प्रथम श्रुतस्कन्ध

• इस छठे अंग सूत्र में दो श्रुतस्कन्ध हैं। • प्रथम श्रुतस्कन्ध 'ज्ञाता' नाम का है। इस श्रुतस्कन्ध में उन्नीस अध्ययन हैं। एक दिन में एक अध्ययनपूर्ण करते हैं। एक दिन श्रुतस्कन्ध के समुद्देश और अनुज्ञा में लगता है। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध में बीस दिन लगते हैं।

• ज्ञाता नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम हैं– 1. उत्क्षिप्तज्ञात 2. संघाटज्ञात 3. अंडकज्ञात 4. कूर्मज्ञात 5. शैलकज्ञात 6. तुम्बकज्ञात 7. रोहिणीज्ञात 8. मल्लीज्ञात 9. माकंदीज्ञात 10. चंद्रिकाज्ञात 11. दावद्रवज्ञात 12. उदकज्ञात 13. मण्डूकदर्दूरज्ञात 14. तेतलिपुत्र 15. नन्दीफल 16. अपरकंका 17. आकीर्ण 18. सुंसुमा और 19. पुण्डरीक।

ज्ञाता नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध की योगविधि इस प्रकार है–

प्रथम दिन योगवाही छठे अंग सूत्र एवं उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करें, उसके बाद प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन उद्देश आदि के निमित्त एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, पाँच बार द्वादशावर्त्तवंदन, पाँच बार खमासमणा सूत्र पूर्वक वंदन एवं पाँच बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करें। एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में सभी क्रियाएँ पूर्ववत तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन से लेकर उन्नीसवें दिन तक क्रमशः तृतीय से उन्नीस अध्यायों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया द्वितीय अध्ययन के समान पूर्ण करें। प्रतिदिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

बीसवें दिन योगवाही प्रथम श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

इस प्रकार ज्ञातानामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग में बीस दिन लगते हैं तथा दो बार नंदी क्रिया होती है।

श्री ज्ञाताधर्मकथा प्रथम श्रुतस्कन्ध–अनागाढ़योग, दिन-20, काल-20, नंदी-2, अंग-6, अध्ययन-19										
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
अध्ययन	अं.उ.,नंदी श्रु.उ.,अ.1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
कायोत्सर्ग	5	3	3	3	3	3	3	3	3	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20
अध्ययन	11	12	13	14	15	16	17	18	19	श्रु.समु. अनु.नंदी
कायोत्सर्ग	3	3	3	3	3	3	3	3	3	2
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

- छठे अंगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम धर्मकथा है। इस श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग हैं। प्रथम-द्वितीय वर्ग में दस-दस, तृतीय-चतुर्थ वर्ग में चौपन-चौपन, पंचम-षष्ठम वर्ग में बत्तीस-बत्तीस, सप्तम-अष्टम वर्ग में चार-चार और नवम-दशम वर्ग में आठ-आठ अध्ययन हैं। इस प्रकार दस वर्ग में कुल एक सौ आठ अध्ययन हैं।

- प्रत्येक वर्ग के अध्ययन आदि और अन्त ऐसे दो भागों में विभक्त कर पूर्ण किए जाते हैं। इस प्रकार दस वर्ग में दस दिन तथा अंग सूत्र और श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा में तीन दिन। इस तरह द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग में तेरह दिन लगते हैं।

धर्मकथा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योगविधि यह है–

पहले दिन योगवाही धर्मकथा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध और उसके प्रथम वर्ग का उद्देश करें, फिर प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्तिम के पाँच-ऐसे दस अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करें। तत्पश्चात पुनः प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्तिम के पाँच–ऐसे दस अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें। उसके बाद प्रथम वर्ग का समुद्देश करें, फिर आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच और प्रथम वर्ग की अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में दस बार मुखवस्त्रिका की

प्रतिलेखना, दस बार द्वादशावर्त वंदन, दस बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन एवं दस बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही सबसे पहले द्वितीय वर्ग, फिर उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच–ऐसे दस अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करें। पुनः आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच– ऐसे दस अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें। फिर द्वितीय वर्ग का समुद्देश करें। फिर आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच और द्वितीय वर्ग की अनुज्ञा विधि करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तीसरे दिन से लेकर दसवें दिन तक योगवाही क्रमशः तृतीय से दस वर्ग एवं उनके अध्ययनों को दो-दो भागों में विभक्त कर उनके उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि द्वितीय वर्ग की भाँति पूर्ण करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

बारहवें दिन योगवाही ज्ञाताधर्मकथासूत्र के समुद्देश की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

तेरहवें दिन योगवाही ज्ञाताधर्मकथासूत्र की अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा के दोनों श्रुतस्कन्धों के योग में कुल तैंतीस दिन एवं पाँच नंदी होती है।

श्री ज्ञाताधर्मकथा-द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दिन-13, काल-13, नंदी-3 वर्ग-10						
दिन	1	2	3	4	5	6
वर्ग	द्वि.श्रु.उ., नंदी, 1	2	3	4	5	6
अध्ययन	आ.5/अं.5	आ.5/अं.5	आ.27/अं.27	आ.27/अं.27	आ.16/अं.16	आ.16/अं.16
कायोत्सर्ग	10	9	9	9	9	9
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.

दिन	7	8	9	10	11	12	13
वर्ग	7	8	9	10	श्रु.समु.अ. नंदी	अं.समु.	अं.अनु., नंदी
अध्ययन	आ.2/अं.2	आ./अं.2	आ.4/अं.4	आ.4/अं.4	0	0	0
कायोत्सर्ग	9	9	9	9	2	1	1
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

उपासकदशासूत्र योग विधि

- यह सातवाँ अंग सूत्र है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं। दस अध्ययन एक समान है अर्थात उनमें उद्देशक नहीं है। दस अध्ययन में दस दिन और अंग सूत्र आदि में चार दिन- इस प्रकार सातवें अंग सूत्र के योग में कुल चौदह दिन लगते हैं।

- दस अध्ययनों के नाम ये हैं- 1. आनन्द 2. कामदेव 3. चूलनीपिता 4. सुरदेव 5. चुल्लशतक 6. कुण्डकौलिक 7. सकड़ालपुत्र 8. महाशतक 9. नन्दिनीपिता 10. सालिहीपिता।

उपासकदशासूत्र की योगोद्वहन विधि यह है-

पहले दिन योगवाही उपासकदशांग एवं उसके श्रुतस्कन्ध की उद्देश क्रिया करें। उसके बाद प्रथम अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन उद्देश आदि के निमित्त एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन से लेकर दसवें दिन तक क्रमशः तृतीय अध्ययन से यावत दस अध्ययनों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

बारहवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया करें और आयंबिल तप करें। सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

तेरहवें दिन योगवाही उपासकदशासूत्र के समुद्देश की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

चौदहवें दिन योगवाही उपासकदशासूत्र की अनुज्ञा करें। इसके निमित्त एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार उपासकदशांग के योग में कुल चौदह दिन और तीन बार नंदी क्रिया होती है।

श्री उपासकदशा-श्रुतस्कन्ध-1, अनागाढ़ योग, दिन-14, काल-14, नंदी-3, अंग-7, अध्ययन-10							
दिन	1	2	3	4	5	6	7
अध्ययन	अं.उ.,नंदी श्रु.उ.,अ.1	2	3	4	5	6	7
कायोत्सर्ग	5	3	3	3	3	3	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	8	9	10	11	12	13	14
अध्ययन	8	9	10	श्रु.समु.	श्रु.अनु. नंदी	अं.समु.	अं.अनु. नंदी
कायोत्सर्ग	3	3	3	1	1	1	1
तप	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.	आ.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिक सूत्र के यन्त्रवत समझें।

अन्तकृतदशासूत्र योग विधि

- यह आठवाँ अंग सूत्र है। इस सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध है और आठ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में दस, द्वितीय वर्ग में आठ, तृतीय वर्ग में तेरह, चतुर्थ-पंचम वर्ग में दस-दस, षष्ठम वर्ग में सोलह, सप्तम वर्ग में तेरह और अष्टम वर्ग में दस अध्ययन हैं। इन आठ वर्गों में कुल 80 अध्ययन हैं।

• आठ वर्गों में आठ दिन और आठवें अंगसूत्र के समुद्देश आदि में तीन दिन। इस प्रकार इस सूत्र के योग बारह दिन में पूर्ण होते हैं।

• इस सूत्र के योग ज्ञाताधर्मकथा के समान वहन किए जाते हैं।

अन्तकृतदशासूत्र की योगोद्वहन विधि निम्न है–

पहले दिन योगवाही अन्तकृतदशा, उसके श्रुतस्कन्ध एवं उसके प्रथम वर्ग के उद्देश की क्रिया करें। उसके बाद प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच– ऐसे दस अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करें। तत्पश्चात आदि के पाँच एवं अंत के पाँच– ऐसे दस अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें, फिर प्रथम वर्ग का समुद्देश करें। फिर आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच और प्रथम वर्ग की अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ ग्यारह-ग्यारह बार करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय वर्ग और उसके आदि के चार एवं अन्त के चार–ऐसे आठ अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करें, फिर आदि के चार एवं अन्त के चार–ऐसे आठ अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें, फिर द्वितीय वर्ग का समुद्देश करें, फिर आदि के चार एवं अन्त के चार–ऐसे आठ अध्ययनों और द्वितीय वर्ग की अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तीसरे दिन से लेकर आठवें दिन तक योगवाही क्रमशः तृतीय वर्ग से लेकर आठ वर्गों एवं उनके अध्ययनों को दो भागों में विभक्त कर उनके उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

नौवें दिन योगवाही अन्तकृतदशा के श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

दसवें दिन योगवाही अन्तकृतदशा के श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही अन्तकृतदशा के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

बारहवें दिन योगवाही अन्तकृतदशांगसूत्र की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार अन्तकृतदशांगसूत्र के योग में कुल बारह दिन और तीन नंदी होती हैं।

श्री अंतकृतदशासूत्र-श्रुतस्कन्ध–1, आगाढ़ योग, दिन-12, काल-12, नंदी-3 अंग-8, वर्ग-8							
दिन	1	2	3	4	5	6	7
वर्ग	अं.उ.,नंदी, श्रु.उ. वर्ग-1	2	3	4	5	6	7
अध्ययन	आ.5/अं.5	आ.4/अं.4	आ.7/अं.6	आ.5/अं.5	आ.5/अं.5	आ.8/अं.8	आ.7/अं.6
कायोत्सर्ग	11	9	9	9	9	9	9
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	8	9	10	11	12		
वर्ग	8	श्रु.समु.	श्रु.अनु.नंदी	अं.समु.	अं.अनु.नंदी		
अध्ययन	आ.5/अं.5	0	0	0	0		
कायोत्सर्ग	9	1	1	1	1		
तप	नी.	आ.	आ.	आ.	आ.		

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिक सूत्र के यन्त्रवत समझें।

अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र योग विधि

- यह नौवां अंग सूत्र है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध और तीन वर्ग हैं। पहले वर्ग में दस, दूसरे वर्ग में तेरह एवं तीसरे वर्ग में दस अध्ययन हैं। इस प्रकार तीन वर्गों में कुल 33 अध्ययन हैं। तीन वर्गों में तीन दिन एवं नौवें अंगसूत्र के समुद्देश आदि में चार दिन– इस तरह इस सूत्र के योग सात दिन में पूर्ण होते हैं।

अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र की योगोद्वहन विधि निम्न है–

पहले दिन योगवाही अनुत्तरोपपातिकदशा, उसका श्रुतस्कन्ध एवं उसके प्रथम वर्ग के उद्देश की क्रिया करें, फिर प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच–ऐसे दस अध्ययनों की क्रिया करें, फिर पाँच-पाँच के विभाग पूर्वक इन

अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें, फिर प्रथम वर्ग का समुद्देश करें उसके बाद आदि के पाँच एवं अंत के पाँच- ऐसे दस अध्ययनों एवं प्रथम वर्ग की अनुज्ञा विधि करें। इन उद्देश आदि के निमित्त एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ ग्यारह-ग्यारह बार करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय वर्ग और उसके आदि के सात एवं अन्त के छह- ऐसे तेरह अध्ययनों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया प्रथम वर्ग के समान पूर्ण करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तीसरे दिन योगवाही तृतीय वर्ग और उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच-ऐसे दस अध्ययनों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया प्रथम वर्ग के समान पूर्ण करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

चौथे दिन योगवाही अनुत्तरोपपातिक श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

पाँचवें दिन योगवाही अनुत्तरोपपातिक श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

छठवें दिन योगवाही अनुत्तरोपपातिकसूत्र के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

सातवें दिन योगवाही अनुत्तरोपपातिकसूत्र की अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

इस प्रकार अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र के योग में कुल सात दिन और तीन नंदी होती हैं।

श्री अनुत्तरोपपातिकदशा– श्रुतस्कंध-1, अनागाढ़ योग, दिन-7, काल-7, नंदी-3, अंग-9, वर्ग-3							
दिन	1	2	3	4	5	6	7
वर्ग	अं.उ.,नंदी श्रु.उ.वर्ग-1	2	3	श्रु.समु.	श्रु.अनु. नंदी	अं.समु.	अं.अनु., नंदी
अध्ययन	आ.5 अं.5	आ.7 अं.6	आ.5 अं.5	0	0	0	0
कायोत्सर्ग	11	9	9	1	1	1	1
तप	आ.	नी.	नी.	आ.	आ.	आ.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

प्रश्नव्याकरणसूत्र योग विधि

- यह दसवाँ अंग सूत्र है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं। ये दस अध्ययन उद्देशक रहित हैं। दस अध्ययन में दस दिन एवं दसवें अंगसूत्र के समुद्देश आदि में चार दिन, ऐसे इस सूत्र के योग कुल चौदह दिनों में पूर्ण होते हैं।

- प्रश्नव्याकरणसूत्र के दस अध्ययनों के नाम हैं– 1. हिंसा 2. मृषावाद 3. अदत्त 4. मैथुन 5. परिग्रह 6. अहिंसा 7. सत्य 8. अस्तेय 9. ब्रह्मचर्य 10 अपरिग्रह।

- विधिमार्गप्रपा के अनुसार इस सूत्र को भगवतीसूत्र के योग में यदि आउत्तवाणय पूर्वक वहन न किया हो और इसे अलग से वहन करते हों तो भगवती सूत्र के योग में निर्दिष्ट षष्ठ योग नहीं लगने से पूर्व की कल्पाकल्प की विधि पूर्वक वहन करना चाहिए। यदि इसे भगवतीसूत्र के साथ वहन करें तो षष्ठ योग लगने के बाद की कल्पाकल्प विधि के द्वारा एकांतर आयंबिल से वहन करना चाहिए, ऐसी महासप्ततिक की मान्यता है।

- किन्हीं आचार्य के अनुसार प्रश्नव्याकरण में पाँच-पाँच अध्ययन के दो श्रुतस्कन्ध हैं।[8]

- इस दसवें अंगसूत्र के अन्तिम चार दिन आक सन्धि के माने जाते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र की योगविधि इस प्रकार है–

पहले दिन योगवाही प्रश्नव्याकरणसूत्र एवं उसके श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करें। इसके बाद प्रथम अध्ययन के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की क्रिया करें,

एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन से लेकर दसवें दिन तक क्रमशः तृतीय से दसवें तक के अध्ययनों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया पूर्ववत करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

ग्यारहवें दिन योगवाही प्रश्नव्याकरण श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

बारहवें दिन योगवाही प्रश्नव्याकरण के श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ एक-एक बार करें।

तेरहवें दिन प्रश्नव्याकरणसूत्र के समुद्देश की क्रिया करें, एक कालग्रहण लें एवं आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ एक-एक बार करें।

चौदहवें दिन प्रश्नव्याकरण सूत्र की अनुज्ञा करें, एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ एक-एक बार करें।

श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र-श्रुतस्कन्ध-1, आगाढ़ योग, दिन-14, काल-14, नंदी-3, आउत्तवाणययुक्त, अंग-10, अध्ययन-10									
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9
अध्ययन	अं.उ.,नंदी श्रु.उ.,अ.1	2	3	4	5	6	7	8	9
कायोत्सर्ग	5	3	3	3	3	3	3	3	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	10	11	12	13	14				
अध्ययन	10	श्रु.समु.	श्रु.अनु.नंदी	अं.समु.	अं.अनु.नंदी				
कायोत्सर्ग	3	1	1	1	1				
तप	नी.	आ.	आ.	आ.	आ.				

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

विपाकश्रुत योग विधि

प्रथम श्रुतस्कन्ध

• यह ग्यारहवाँ अंग सूत्र है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम दु:खविपाक नामक श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं। ये अध्ययन उद्देशक रहित हैं अत: एक अध्ययन एक दिन में पूर्ण हो जाता है। दस अध्ययनों में दस दिन एवं अंग सूत्र के समुद्देश आदि में एक दिन, ऐसे इस सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग कुल ग्यारह दिन में पूर्ण होते हैं।

• दु:खविपाक श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों के नाम हैं– 1. हिंसाद्वार 2. मृषावादद्वार 3. स्तेनअदत्तद्वार 4. मैथुनद्वार 5. परिग्रहद्वार 6. अहिंसाद्वार 7. सत्यद्वार 8. अस्तेयद्वार 9. ब्रह्मचर्यद्वार 10. अपरिग्रहद्वार।

विपाक सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की योगविधि निम्नोक्त हैं–

पहले दिन योगवाही विपाक सूत्र एवं प्रथम श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करें। उसके बाद प्रथम अध्ययन के उद्देश,समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इसी के साथ एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना,पाँच बार द्वादशावर्त्तवंदन,पाँच बार खमासमणा सूत्र द्वारा वन्दन और पाँच बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इस विधि की सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन से लेकर दसवें दिन तक क्रमश: तीसरे से दसवें तक के अध्ययनों के उद्देश,समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया द्वितीय अध्ययन के समान पूर्ण करें। प्रतिदिन एक-एक काल ग्रहण लें और नीवि तप करें। इस विधि की सभी क्रियाएँ पूर्ववत तीन-तीन बार करें।

ग्यारहवें दिन दु:खविपाक श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इस विधि की सभी क्रियाएँ दो-दो बार करें।

इस प्रकार विपाकश्रुत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग में कुल ग्यारह दिन एवं दो नंदी होती हैं।

श्रीविपाकश्रुत प्रथम श्रुतस्कन्ध-अनागाढ़ योग, दिन-11, काल-11, नंदी-2, अंग-11, अध्ययन-10											
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
अध्ययन	अं.उ., नंदी श्रु.उ., अ.1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	प्र.श्रु. समु.अनु. नंदी
कायोत्सर्ग	5	3	3	3	3	3	3	3	3	3	2
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

- सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन उद्देशक रहित हैं। दस अध्ययनों के नाम ये हैं– 1. सुबाहु 2. भद्रनन्दी 3. सुजात 4. सुवासवकुमार 5. जिनदास 6. धनपति 7. महाबल 8. भद्रनन्दी 9. महचन्द्र 10. वरदत्त।

सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योगविधि निम्नानुसार है–

पहले दिन योगवाही द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करें, फिर इसके प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ चार-चार बार करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक काल ग्रहण ले एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

तीसरे दिन से लेकर दसवें दिन तक क्रमशः तृतीय से दस तक के अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। शेष क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

ग्यारहवें दिन द्वितीय श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ एक-एक बार करें।

बारहवें दिन योगवाही विपाकसूत्र के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ एक-एक बार करें।

तेरहवें दिन योगवाही विपाकसूत्र की अनुज्ञा विधि करें तथा एक काल ग्रहण, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

इस प्रकार विपाकश्रुतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग में कुल तेरह दिन एवं तीन नंदी होती हैं। दोनों श्रुतस्कन्ध के योग में कुल चौबीस दिन और पाँच नंदी होती हैं।

श्री विपाकश्रुत–द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दिन-13, काल-13, नंदी-3									
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9
अध्ययन	द्वि.श्रु.उ.नंदी, अ.1	2	3	4	5	6	7	8	9
कायोत्सर्ग	4	3	3	3	3	3	3	3	3
तप	आ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
दिन	10	11	12	13					
अध्ययन	10	श्रु.समु.अनु. नंदी	अं.समु.	अं.अनु नंदी					
कायोत्सर्ग	3	1	1	1					
तप	नी.	आ.	आ.	आ.					

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

उपाङ्गसूत्रों की योगविधि

प्रारम्भ के चार उपांगसूत्रों की तपविधि

- आचारांगसूत्र के योगोद्वहन काल में पहला उपांग औपपातिकसूत्र का वहन किया जाता है। इस सूत्र के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयंबिल किए जाते हैं।

- सूत्रकृतांगसूत्र के योगोद्वहन काल में दूसरा उपांग राजप्रश्नीयसूत्र का वहन किया जाता है। इस उपांग के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयंबिल किए जाते हैं।

- स्थानांगसूत्र के योगोद्वहन काल में तीसरा उपांग जीवाजीवाभिगमसूत्र के योग किए जाते हैं तथा इसके उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयंबिल करते हैं।

• समवायांगसूत्र के योगोद्वहन के मध्य चौथा उपांग प्रज्ञापनासूत्र को वहन किया जाता है। इसके उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयंबिल किए जाते हैं।

विशेष– औपपातिक आदि चारों उपाङ्ग उत्कालिकसूत्र हैं। विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर के अनुसार सामान्यतया बारह उपांगसूत्रों के योग अनुक्रमश: ग्यारह अंगसूत्रों के योगकाल के मध्य वहन किए जाते हैं। जैसे प्रथम अंगसूत्र के योगोद्वहन के बीच पहले उपाङ्गसूत्र के योग, तृतीय अंगसूत्र के बीच तीसरे उपाङ्गसूत्र के योग– इस प्रकार एक के मध्य एक उपांगसूत्र के योग किए जाते हैं। मतान्तर से औपपातिक उपांगसूत्र का योग आचारांगसूत्र की अनुज्ञा होने के पश्चात, अनुज्ञा के निमित्त लिए गए संघट्टे के मध्य ही तीन आयंबिल के द्वारा किया जाता है।[9] अन्य परम्परानुसार आचारांग आदि सूत्रों के योगोद्वहन के मध्य में नीवि के दिन आयंबिल करने से तीन आयंबिल की पूरिपूर्ति हो जाती है।[10] इस प्रकार एक ही दिन में आयंबिल द्वारा उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया कर सकते हैं। फिर उस दिन उसके निमित्त से बारह बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, बारह बार द्वादशावर्त्तवन्दन, बारह बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन और बारह बार कायोत्सर्ग करें।

इसी तरह सूत्रकृतांगसूत्र की अनुज्ञा के पश्चात राजप्रश्नीय उपांग को एवं स्थानांगसूत्र की अनुज्ञा के पश्चात जीवाभिगम उपांग को वहन करना चाहिए। इसी तरह समवायांगसूत्र के योग पूर्ण हो जाने के पश्चात और दशाश्रुतस्कन्ध-बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र के श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा के दिन, गृहीत संघट्टा के साथ ही तीन आयंबिल के द्वारा, मतान्तर से एक आयंबिल के द्वारा प्रज्ञापना उपांग सूत्र को वहन करना चाहिए।

किन्हीं मत से औपपातिक आदि चार उपांग सूत्रों के योग, महानिशीथसूत्र के योग पूर्ण करने के पश्चात एक साथ कर सकते हैं अथवा अलग-अलग भी कर सकते हैं। किसी कारणवश कल्पसूत्र के योग पूर्ण करने के बाद भी करवाये जाते हैं। आचारांगसूत्र के योग पूर्ण करने के बाद भी करवाये जाते हैं तथा इन चारों से सम्बन्धित अंग सूत्र के योग पूर्ण करने के बाद भी इन्हें वहन कर सकते हैं।

उक्त औपपातिक आदि चार उपांग सूत्रों में प्रारम्भ के तीन सूत्र एक समान हैं अर्थात उनमें अध्ययन-उद्देशादि नहीं है। यद्यपि जीवाभिगम सूत्र में जीव कथन

की अपेक्षा दो प्रकार से लेकर दस प्रकार तक नौ प्रतिपत्तियाँ हैं।

चतुर्थ उपांग प्रज्ञापनासूत्र में छत्तीस पद हैं। उन पदों के नाम ये हैं– 1. प्रज्ञापना पद 2. स्थान पद 3. बहुवक्तव्यता पद 4. स्थिति पद 5. विशेष पद 6. व्युत्क्रान्ति पद 7. उच्छवास पद 8. आहारादि दससंज्ञापद 9. योनि पद 10. चरम पद 11. भाषा पद 12. शरीर पद 13. परिणाम पद 14. कषाय पद 15. इन्द्रिय पद 16. प्रयोग पद 17. लेश्या पद 18. कायस्थिति पद 19. सम्यक्त्व पद 20. अन्तक्रिया पद 21. अवगाहना पद 22. क्रिया पद 23. कर्म पद 24. कर्मबन्धक पद 25. कर्मवेदक पद 26. वेदकबन्ध पद 27. वेदक पद 28. आहार पद 29. उपयोग पद 30. पश्यता पद 31. मनोविज्ञान संज्ञा पद 32. संयम पद 33. अवधि पद 34. परिचारणा पद 35. वेदना पद और 36. समुद्घात पद।

पाँचवें से सातवें उपांग सूत्रों की तप विधि

• सूर्यप्रज्ञप्ति नामक पाँचवें उपांग सूत्र को भगवती सूत्र के योगोद्वहन काल में तीन काल ग्रहण एवं तीन आयंबिल के द्वारा आउत्तवाणय पूर्वक वहन करना चाहिए अथवा भगवतीसूत्र की अनुज्ञा होने के पश्चात इसी अनुज्ञा के निमित्त गृहीत संघट्टे के मध्य में तीन कालग्रहण और तीन आयंबिल के द्वारा किया जाता है।

• इसी प्रकार जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक छठे उपांग सूत्र को ज्ञाताधर्मकथा के योगकाल में अथवा उसकी अनुज्ञा के पश्चात तीन कालग्रहण एवं तीन आयंबिल के द्वारा संघट्टापूर्वक वहन किया जाता है।

• चन्द्रप्रज्ञप्ति नामक सातवें उपांगसूत्र को उपासक दशा के योगकाल में अथवा उसकी अनुज्ञा के पश्चात तीन कालग्रहण एवं तीन आयंबिल के द्वारा संघट्टापूर्वक वहन किया जाता है।

विशेष– सूर्यप्रज्ञप्ति आदि उक्त तीनों उपांग कालिक सूत्र हैं अत: संघट्टा के साथ ग्रहण किए जाते हैं। कालिक सूत्रों के योग में ही संघट्टा होता है, उत्कालिक सूत्रों के योग में संघट्टा विधि नहीं होती है।

सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति में बीस प्राभृत आदि हैं। प्रथम प्राभृत में आठ प्राभृत-प्राभृतादि, दूसरे में तीन, दसवें में बाईस हैं तथा शेष प्राभृत एक समान हैं। जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र भी एक समान है यानी इसमें अध्ययन वर्गादि नहीं हैं।

आचारदिनकर के मतानुसार निरयावलिका उपांग सूत्र को छोड़कर अन्य उपांग सूत्रों के योग में नन्दीक्रिया नहीं होती है। निरयावलिका को छोड़कर सभी उपांगों की क्रिया में एक बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, एक बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें, एक बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें और एक बार कायोत्सर्ग करें।[11]

आठवें से बारहवें उपांगसूत्रों की तप विधि

• अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत, दृष्टिवाद–इन पाँच अंग सूत्रों का एक उपांग है। उसका नाम निरयावलिका सूत्र है।

• अन्तकृतदशांग आदि पाँच अंगों से प्रतिबद्ध निरयावलिका–उपांग में एक श्रुतस्कन्ध है। इसके पाँच वर्गों के नाम ये हैं– 1. कल्पिका 2. कल्पावतंसिका 3. पुष्पिका 4. पुष्प चुलिका 5. वह्निदशा। इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ वर्ग में दस-दस अध्ययन हैं और पंचम वर्ग में बारह अध्ययन हैं।

• प्रथम वर्ग में काल आदि अध्ययन हैं, दूसरे वर्ग में पद्मादि अध्ययन हैं, तीसरे वर्ग में चन्द्रादि अध्ययन हैं, चौथे वर्ग में श्रीदेवी आदि अध्ययन हैं, पाँचवें वर्ग में निषद्ध आदि अध्ययन हैं।

• इस सूत्र के योग करते समय पाँच वर्ग में पाँच दिन और उपांग के समुद्देश आदि में दो दिन कुल सात दिन लगते हैं।

• कुछ परम्पराओं में निरयावलिका श्रुतस्कन्ध के योग में सात आयंबिल करते हैं।

• किन्हीं परम्पराओं में निरयावलिका श्रुतस्कन्ध के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा दिन में आयंबिल करते हैं तथा अन्य दिनों में नीवि करते हैं।

कोई आचार्य चन्दप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रों को भगवती का उपांग सूत्र मानते हैं। उनके मतानुसार उपासकदशासूत्र से लेकर विपाकसूत्र पर्यन्त पाँच अंगों का उपांग निरयावलिका सूत्र है।

निरयावलिक सूत्र की योग विधि यह है–

पहले दिन योगवाही निरयावलिका के श्रुतस्कन्ध, उसके प्रथम वर्ग एवं उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच– ऐसे दस अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करें। उसके बाद दस अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें, फिर वर्ग का समुद्देश

करें, फिर आदि अन्त ऐसे दो भागों में दस अध्ययनों एवं वर्ग की अनुज्ञा करें। इन उद्देश आदि के निमित्त इस दिन एक काल का ग्रहण करें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ दस-दस बार करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय वर्ग एवं उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच-ऐसे दस अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करें। फिर दो भागों में विभक्त करके दस अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करें, फिर द्वितीय वर्ग का समुद्देश करें। उसके बाद दो भागों में विभक्त दस अध्ययनों एवं द्वितीय वर्ग की अनुज्ञा विधि करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

तीसरे दिन से लेकर पाँचवें दिन तक क्रमशः तृतीय से पंचम वर्ग पर्यन्त के अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करें।

छठवें दिन योगवाही निरयावलिका श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

सातवें दिन योगवाही श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें। एक कालग्रहण लें, नन्दी क्रिया और आयंबिल तप करें। शेष क्रिया एक-एक बार करें। इस प्रकार निरयावलिका श्रुतस्कन्ध के योग सात दिन में पूर्ण होते हैं और दो नंदी होती है।

औपपातिक आदि चार उपांग, अनागाढ़ योग, प्रत्येक में तीन-तीन कुल बारह आयंबिल, दिन-12, नंदी-8						
उपांग नाम	आचारांग	प्रतिबद्ध	औपपातिक	सूत्रकृतांग	प्रतिबद्ध	राजप्रश्नीय
दिन	उ.नंदी1	समु.2	अनु.नं.3	उ.नंदी1	समु.2	अनु.नंदी 3
कायोत्सर्ग	1	1	1	1	1	1
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.
उपांग नाम	स्थानांग	प्रतिबद्ध	जीवाभिगम	समवायांग	प्रतिबद्ध	प्रज्ञापना
दिन	उ.नंदी1	समु.2	अनु.नंदी3	उ.नंदी1	समु.2	अनु.नंदी3
कायोत्सर्ग	1	1	1	1	1	1
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.

पाँच से सात उपांग, प्रत्येक में तीन-तीन आयंबिल, दिन-9, काल-9, नंदी-6						
उपांग नाम	भगवती	प्रतिबद्ध	सूर्यप्रज्ञप्ति	ज्ञाताधर्मकथा	प्रतिबद्ध	जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति
दिन	उ.नंदी 1	समु.2	अ.नंदी 3	उ.नंदी1	समु.2	अ.नंदी 3
कायोत्सर्ग	1	1	1	1	1	1
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.
उपांग नाम	उपासकदशा	प्रतिबद्ध	चन्द्रप्रज्ञप्ति			
दिन	उ.नंदी 1	समु.2	अ. नंदी 3			
कायोत्सर्ग	1	1	1			
तप	आ.	आ.	आ.			

अंतकृतदशादि पंच प्रतिबद्ध श्री निरयावलिका-श्रुतस्कन्ध, दिन-7, काल-7 नंदी-2				
दिन	1	2	3	4
वर्ग	श्रु.उ.नंदी, कल्पिका वर्ग-1 का उ.समु.अ.	कल्पवतंसिका-2	पुष्पिका-3	पुष्प चूलिका-4
अध्ययन	आ.5/अं.5	आ.5/अं.5	आ.5/अं.5	आ.5/अं.5
कायोत्सर्ग	10	9	9	9
तप	आ.	नी.	नी.	नी.
दिन	5	6	7	
वर्ग	वह्निदशा-5	श्रु.समु.	श्रु.अनु. नंदी	
अध्ययन	आ.6/अं.6	0	0	
कायोत्सर्ग	9	1	1	
तप	नी.	नी.	आ.	

छेदसूत्रों की योगविधि

निशीथसूत्र योग विधि

• निशीथ सूत्र में एक अध्ययन और बीस उद्देशक हैं। एक दिन और एक कालग्रहण पूर्वक दो-दो उद्देशक पूर्ण करते हैं। इस प्रकार दस दिनों में बीस उद्देशक पूर्ण किये जाते हैं।

• विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर दोनों ग्रन्थों के अनुसार निशीथ सूत्र के योग एकान्तर आयंबिल के द्वारा वहन किये जाते हैं अर्थात इस सूत्र योग में क्रमशः आयंबिल-नीवि इस क्रम से तप करते हैं।

• निशीथ सूत्र में श्रुतस्कन्ध न होने से नंदी नहीं होती है।

• विधिमार्गप्रपा एवं तपागच्छ आदि परम्पराओं के अनुसार इस सूत्र योग में दस दिन लगते हैं किन्तु आचारदिनकर में बारह दिनों का निर्देश है। इसमें निशीथ सूत्र के समुद्देश एवं अनुज्ञा के दो दिन अतिरिक्त माने गये हैं तथा इस सूत्र को श्रुतस्कन्ध के रूप में स्वीकार कर बारहवें दिन नन्दी क्रिया करने का भी उल्लेख किया गया है।[12]

निशीथ सूत्र की योगोद्वहन विधि इस प्रकार है–

पहले दिन योगवाही निशीथ सूत्र के अध्ययन का उद्देश करें, फिर इस अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

दूसरे दिन योगवाही तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इसके निमित्त एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

तीसरे दिन से लेकर नौवें दिन तक पाँच से अठारह उद्देशकों को दो-दो के क्रम से दूसरे दिन की भाँति सम्पन्न करें। इन दिनों एकान्तर आयंबिल और नीवि तप करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें तथा इसकी विधि में प्रत्येक क्रियाएँ छह-छह बार करें।

दसवें दिन योगवाही सबसे पहले उन्नीसवें एवं बीसवें उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर निशीथ अध्ययन का समुद्देश करें, उसके बाद उन्नीसवें-बीसवें उद्देशकों एवं निशीथ अध्ययन की अनुज्ञा विधि करें। एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

इस प्रकार निशीथसूत्र के योगोद्वहन में बारह दिन लगते हैं।

निशीथसूत्र–आगाढ़योग, दिन-10, काल-10 नंदी नास्ति										
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
उद्देशक	नि.अ.	3/4	5/6	7/8	9/10	11/12	13/14	15/16	17/18	19/20
कायोत्सर्ग	7	6	6	6	6	6	6	6	6 8	नि.अनु. एवं समु. अनु.
तप	आ.	नी.	आ	नी.	आ.	नी.	आ.	नी.	आ.	आ.

• विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर दोनों में तप क्रम समान हैं।

दशाश्रुतस्कन्ध–बृहत्कल्प-व्यवहारसूत्र योग विधि

• विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर के अनुसार दशासूत्र, बृहत्कल्पसूत्र एवं व्यवहारसूत्र तीनों का एक श्रुतस्कन्ध है।

• दशाश्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं। ये अध्ययन उद्देशक रहित होने से इनके योग दस दिन में पूर्ण किए जाते हैं। दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों के नाम हैं– 1. असमाधिस्थान 2. शबल 3. आशातना 4. गणिसंपदा 5. आत्मसमाधि 6. उपासकप्रतिमा 7. भिक्षुप्रतिमा 8. पर्युषणाकल्प 9. मोहनीय स्थानादि 10. आयात स्थान।

बृहत्कल्पसूत्र में छह उद्देशक हैं जिन्हें दो-दो के क्रम से तीन दिन में पूर्ण किया जाता है।

• व्यवहारसूत्र में दस उद्देशक हैं। उन्हें भी दो-दो के क्रम से पाँच दिन में पूर्ण किया जाता है। श्रुतस्कन्ध के समुद्देश आदि में दो दिन लगते हैं। इस प्रकार दशाश्रुत योग के बारह दिन, बृहत्कल्प के तीन दिन और व्यवहार के पाँच दिन कुल तीनों योगों के बीस दिन होते हैं तथा इसमें दो बार नंदी होती है।

• कुछ परम्पराएँ बृहत्कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र दोनों के भिन्न-भिन्न श्रुतस्कन्धों को मानती हैं। इस मान्यता के अनुसार उक्त तीनों सूत्रों के योग में बाईस दिन लगते हैं। कुछ लोग कल्प और व्यवहार को एक ही श्रुतस्कन्ध मानते हैं तथा कुछ लोग पंचकल्प के अनुसार व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध को एक श्रुतस्कन्ध कहते हैं।

• विधिमार्गप्रपा आदि प्राचीन सामाचारी के अनुसार आचारांग से समवायांग तक चार अंग सूत्रों के योग पूर्ण होने के पश्चात निशीथ, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार एवं जीत कल्प आदि पाँच छेदसूत्रों के योग बीच में करवाये

जाते हैं तथा इन सूत्रों के योग क्रमशः निशीथ, कल्प, व्यवहार, दशाश्रुत एवं जीतकल्प की भाँति करवाये जाते हैं।[13]

बृहत्कल्पसूत्र की योगविधि इस प्रकार है–

पहले दिन योगवाही कल्प-व्यवहार-दशा श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करें, फिर इन तीनों के अध्ययन के उद्देश की क्रिया करें। उसके बाद बृहत्कल्प के पहले-दूसरे उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इस दिन एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

दूसरे दिन योगवाही बृहत्कल्प के तीसरे-चौथे उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

तीसरे दिन योगवाही पाँचवें-छठवें उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर कल्प अध्ययन का समुद्देश करें, उसके बाद पाँचवें-छठवें उद्देशकों एवं कल्प अध्ययन की अनुज्ञा करें। इन उद्देश आदि के निमित्त एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें। व्यवहारसूत्र की योग विधि निम्न है–

चौथे दिन योगवाही व्यवहार अध्ययन का उद्देश करें, फिर बृहत्कल्प अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

पाँचवें, छठवें एवं सातवें दिन क्रमशः तीसरे-चौथे, पाँचवें-छठवें, सातवें-आठवें उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इन दिनों एक-एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

आठवें दिन योगवाही नवमें-दसवें उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर व्यवहार अध्ययन का समुद्देश करें, फिर नौवें-दसवें उद्देशकों एवं बृहत्कल्प अध्ययन की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

दशाश्रुतस्कन्ध की योग विधि निम्नानुसार है–

नौवें दिन योगवाही दशाश्रुत के प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं

अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

दसवें दिन से लेकर अठारहवें दिन तक क्रमश: दशाश्रुत के दो से लेकर दस अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया पूर्ववत करें। प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें एवं नीवि तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें।

उन्नीसवें दिन योगवाही कल्प-व्यवहार-दशासूत्र के श्रुतस्कन्ध की समुद्देश क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

बीसवें दिन योगवाही कल्प-व्यवहार-दशासूत्र के श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ एक-एक बार करें।

जीतकल्प-पंचकल्पसूत्र योगविधि

पंचकल्पसूत्र के योग में एक दिन लगता है। इसके उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु आयंबिल तप करें तथा एक कालग्रहण लें। इसकी क्रियाविधि में सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करें। इस सूत्र योग में नंदी क्रिया नहीं होती है तथा यह योग तप मण्डली में वहन किया जाता है।

जीतकल्पसूत्र का योग नीवि तप द्वारा वहन किया जाता है। इसके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के लिए एक कालग्रहण लेते हैं, इसमें नंदी क्रिया नहीं होती है। इसकी विधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, तीन बार द्वादशावर्त्त वंदन, तीन बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन तथा तीन बार कायोत्सर्ग करें।[14]

श्रीकल्प-व्यवहार-दशाश्रुतस्कन्ध, दिन-20, काल-20, नंदी-2 बृहत्कल्प, दिन-3, काल-3, नंदी-1			
दिन	1	2	3
उद्देशक	क.व्य.दशा.श्रु.उ.नंदी अ.उ.,1/2	3/4	5/6
कायोत्सर्ग	8	6	8
तप	आ.	नी.	नी.

व्यवहार, दिन-5, काल-5					
दिन	4	5	6	7	8
उद्देशक	व्य.अध्ययन उद्दे.,1/2	3/4	5/6	7/8	9/10
कायोत्सर्ग	7	6	6	6	8
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.

दशाश्रुतस्कन्ध, दिन-12, काल-12, नंदी-1												
दिन	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20
अध्ययन	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	कल्प.व्य. दशा.श्रुत. समु.	कल्प.व्य. दशा.श्रुत. अनु.नंदी
कायोत्सर्ग	3	3	3	3	3	3	3	3	3	3	1	1
तप	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	आ.	आ.

- आचारदिनकर के अनुसार तप क्रम दशवैकालिकसूत्र के यन्त्रवत समझें।

महानिशीथसूत्र योग विधि

- महानिशीथ सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध और आठ अध्ययन हैं। पहला अध्ययन एक समान है, दूसरे अध्ययन में नौ, तीसरे में सोलह, चौथे में सोलह, पाँचवें में बारह, छठवें में चार, सातवें में छह और आठवें में बीस उद्देशक हैं। इस प्रकार आठ अध्ययनों के कुल तिरासी उद्देशक होते हैं।
- महानिशीथसूत्र का सातवाँ-आठवाँ अध्ययन चूला रूप माना जाता है।
- इस सूत्र का योग गणियोग (भगवतीसूत्र) की कल्प्याकल्प्य विधि एवं आउत्तवाणय पूर्वक वहन किया जाता है। इस योग में निरन्तर पैंतालीस दिन आयंबिल करते हैं।

महानिशीथ सूत्र की योगोद्वहन विधि निम्नलिखित है–

पहले दिन योगवाही महानिशीथ सूत्र के उद्देश की क्रिया करें। उसके बाद प्रथम अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। एक कालग्रहण लें, नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, चार बार द्वादशावर्त वंदन, चार बार खमासमण सूत्र पूर्वक वंदन और चार बार कायोत्सर्ग करें।

दूसरे दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के उद्देश की क्रिया करें, फिर द्वितीय अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

तीसरे, चौथे एवं पाँचवें दिन योगवाही द्वितीय अध्ययन के क्रमशः तीसरे-चौथे, पाँचवें-छठवें, सातवें-आठवें उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा प्रतिदिन एक-एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

छठवें दिन योगवाही नौवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर द्वितीय अध्ययन का समुद्देश करें। उसके बाद नौवें उद्देशक एवं अध्ययन की अनुज्ञा करें। एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करें।

सातवें दिन योगवाही तृतीय अध्ययन का उद्देश करें। फिर इसके पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

आठवें दिन से लेकर तेरहवें दिन तक तृतीय अध्ययन के तीसरे उद्देशक से लेकर चौदहवें उद्देशक तक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। इसमें प्रत्येक दिन क्रमशः दो-दो उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक-एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

चौदहवें दिन योगवाही पन्द्रहवें-सोलहवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर तीसरे अध्ययन का समुद्देश करें। उसके बाद पन्द्रहवें-सोलहवें उद्देशक एवं तृतीय अध्ययन की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

पन्द्रहवें दिन योगवाही चतुर्थ अध्ययन का उद्देश करें। उसके बाद इसके पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

सोलहवें दिन से लेकर इक्कीसवें दिन तक योगवाही चतुर्थ अध्ययन के तृतीय से चौदहवें तक के उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें।

इसमें प्रतिदिन क्रमशः दो-दो उद्देशकों के उद्देश आदि करें तथा एक-एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

बाईसवें दिन योगवाही पन्द्रहवें-सोलहवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर चतुर्थ अध्ययन का समुद्देश करें, तत्पश्चात पन्द्रहवें-सोलहवें उद्देशक एवं चतुर्थ अध्ययन की अनुज्ञा विधि करें, एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

तेईसवें दिन योगवाही पंचम अध्ययन का उद्देश करें, फिर इसके पहले, दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। इसकी विधि में सभी क्रियाएँ पूर्ववत सात-सात बार करें।

चौबीसवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें एवं सत्ताइसवें दिन योगवाही क्रमशः तीसरे-चौथे, पाँचवें-छठे, सातवें-आठवें, नौवें-दसवें उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। प्रत्येक दिन एक-एक कालग्रहण लें तथा आयंबिल तप करें। इसकी क्रिया विधि में सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

अट्ठाईसवें दिन योगवाही ग्यारहवें-बारहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश की क्रिया करें, फिर पंचम अध्ययन का समुद्देश करें। उसके बाद ग्यारहवें-बारहवें उद्देशक एवं पंचम अध्ययन की अनुज्ञा करें। एक काल का ग्रहण और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

उनतीसवें दिन योगवाही षष्ठम अध्ययन का उद्देश करें, फिर इसके पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष क्रिया सात-सात बार करें।

तीसवें दिन योगवाही षष्ठम अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश समुद्देश की क्रिया करें, फिर षष्ठम अध्ययन का समुद्देश करें, फिर तीसरे-चौथे उद्देशक एवं षष्ठम अध्ययन की अनुज्ञा करें। इस दिन एक काल ग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

इकतीसवें दिन योगवाही सप्तम अध्ययन के उद्देश की क्रिया करें, फिर इसके पहले उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। उस दिन एक काल ग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष सभी क्रियाएँ सात-सात बार करें।

बत्तीसवें दिन योगवाही तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

तैंतीसवें दिन योगवाही पाँचवें-छठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश की क्रिया करें, फिर सप्तम अध्ययन का समुद्देश करें। उसके बाद पाँचवें-छठवें उद्देशक एवं सप्तम अध्ययन की अनुज्ञा करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

चौंतीसवें दिन योगवाही अष्टम अध्ययन का उद्देश करें, फिर इसके पहले-दूसरे उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ सात-सात बार करें।

पैंतीसवें दिन योगवाही अष्टम अध्ययन के तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें तथा कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ छह-छह बार करें।

छत्तीसवें दिन से लेकर बयालीसवें दिन तक अष्टम अध्ययन के पाँचवें उद्देशक से लेकर अठारहवें उद्देशक तक उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। प्रतिदिन क्रमशः दो-दो उद्देशकों के उद्देश आदि करें। प्रत्येक दिन एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष सभी क्रियाएँ छह-छह बार करें।

तैंतालीसवें दिन योगवाही उन्नीसवें-बीसवें उद्देशक के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें। फिर अष्टम अध्ययन का समुद्देश करें। उसके बाद उन्नीसवें-बीसवें उद्देशक एवं अष्टम अध्ययन की अनुज्ञा करें। एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करें।

चौवालीसवें दिन योगवाही महानिशीथ श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करें तथा एक कालग्रहण लें और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ पूर्ववत एक-एक बार करें।

पैंतालीसवें दिन योगवाही महानिशीथ श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा विधि करें। नंदी क्रिया और आयंबिल तप करें। शेष क्रियाएँ पूर्ववत एक-एक बार करें।

इस प्रकार महानिशीथ श्रुतस्कन्ध के योग में कुल पैंतालीस दिन लगते हैं एवं इसमें एक नंदी होती है। आचारदिनकर के अनुसार पैंतालीस आयंबिल आयुक्त पानक के द्वारा करते हैं।

• आयुक्त पानक में साधु को अमुक प्रकार का धान्य लेने का एवं लोह आदि धातुओं के स्पर्श करने का निषेध रहता है, ऐसा पूज्य जंबूविजयजी महाराज द्वारा कहा गया है।

श्री महानिशीथसूत्र-श्रुतस्कंध-1, आगाढ़ योग, दिन-45, काल-45, नंदी-2, अध्ययन-8								
दिन	1	2	3	4	5	6	7	8
अध्ययन	श्रु.उ.नंदी 1	2	2	2	2	2	3	3
उद्देशक	0	1/2	3/4	5/6	7/8	9	1/2	3/4
कायोत्सर्ग	4	7	6	6	6	5	7	6
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.
दिन	9	10	11	12	13	14	15	
अध्ययन	3	3	3	3	3	3	4	
उद्देशक	5/6	7/8	9/10	11/12	13/14	15/16	1/2	
कायोत्सर्ग	6	6	6	6	6	8	7	
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	
दिन	16	17	18	19	20	21	22	
अध्ययन	4	4	4	4	4	4	4	
उद्देशक	3/4	5/6	7/8	9/10	11/12	13/14	15/16	
कायोत्सर्ग	6	6	6	6	6	6	8	
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	
दिन	23	24	25	26	27	28	29	30
अध्ययन	5	5	5	5	5	5	6	6
उद्देशक	1/2	3/4	5/6	7/8	9/10	11/12	1/2	3/4
कायोत्सर्ग	7	6	6	6	6	8	7	8
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.
दिन	31	32	33	34	35	36	37	38
अध्ययन	7	7	7	8	8	8	8	8
उद्देशक	5/6	7/8	9/10	1/2	3/4	5/6	7/8	9/10
कायोत्सर्ग	7	6	8	7	6	6	6	6
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.

दिन	39	40	41	42	43	44	45
अध्ययन	8	8	8	8	8	श्रु.समु.	श्रु.अनु.नंदी
उद्देशक	11/12	13/14	15/16	17/18	19/20	0	0
कायोत्सर्ग	6	6	6	6	8	1	1
तप	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.	आ.

- विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में तप क्रम समान हैं।

प्रकीर्णक सूत्रों की योग विधि

नंदी सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र के योग मंडली में वहन किए जाते हैं तथा इन सूत्रों के उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा के निमित्त नीवि तप करते हैं और इन दोनों के योग दो दिन में लगातार किए जाते हैं।

कुछ आचार्यों के मतानुसार नंदीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र के योग (उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा) तीन दिन में किए जाते हैं और तीनों दिन नीवि करते हैं।

- विधिमार्गप्रपा (पृ. 170) के अनुसार 1. देवेन्द्रस्तव 2. तंदुलवैतालिक 3. मरण समाधि 4. महाप्रत्याख्यान 5. आतुरप्रत्याख्यान 6. संस्तारक 7. चन्द्रवैध्यक 8. भक्तपरिज्ञा 9. चतु:शरण 10. वीरस्तव 11. गणिविद्या 12. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति 13. संग्रहणी 14. गच्छाचार आदि चौदह प्रकीर्णक सूत्रों के योग एक-एक नीवि द्वारा वहन किए जाते हैं। इस तरह प्रत्येक प्रकीर्णक के योग में एक दिन लगता है और उसमें नीवि तप करते हैं।

कुछ परम्पराओं के अनुसार उक्त प्रकीर्णक सूत्रों के योग वंदन, कायोत्सर्ग, मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन आदि की विधिपूर्वक भगवती सूत्र के योगोद्वहन के मध्य में कर लिए गए हों तो इन्हें पृथक से वहन नहीं करना चाहिए।

- विधिमार्गप्रपा (पृ. 170) के अनुसार द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नामक प्रकीर्णक सूत्र के योग तीन कालग्रहण और तीन आयंबिल के द्वारा भी वहन कर सकते हैं।
- आचारदिनकर में बीस प्रकीर्णक सूत्रों के योगोद्वहन करने का निर्देश है। इसमें कहा गया है कि ये सभी प्रकीर्णक उत्कालिक सूत्र के अन्तर्गत आते हैं तथा अन्य सूत्रों के योग के मध्य नीवि के स्थान पर आयंबिल करके और एक ही दिन में उसके उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करके वहन किए जाते हैं अर्थात इन सभी प्रकीर्णक सूत्रों के योग में नामोच्चारण पूर्वक उनके उद्देश-

समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया की जाती है। इसकी क्रिया विधि में पूर्ववत सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करनी चाहिए।

आचारदिनकर के अनुसार प्रकीर्णक सूत्रों के नाम ये हैं– 1. नंदी 2. अनुयोगद्वार 3. देवेन्द्रस्तव 4. तण्डुलवैतालिक 5. चंद्रवेध्यक 6. आतुर-प्रत्याख्यान 7. गणिविद्या 8. कल्पाकल्प 9. क्षुल्लकल्पश्रुत 10. राजकल्पसूत्र 11. प्रमादाप्रमाद 12. पौरुषी-मंडल 13. विद्याचार व्यवच्छेद 14. आत्मविशुद्धि 15. मरण विशुद्धि 16. ध्यानविभक्ति 17. मरणविभक्ति 18. संलेखनाश्रुत 19. वीतरागश्रुत 20. महाप्रत्याख्यान। प्राचीन सामाचारी में 21 प्रकीर्णक सूत्रों के योग करने का उल्लेख है। तपागच्छ की अर्वाचीन प्रतियों में 19 प्रकीर्णकों के योगोद्वहन करने का निर्देश है।

- विधिमार्गप्रपा में ऋषिभाषित सूत्र को भी प्रकीर्णक सूत्रों में गिना गया है तथा इस सूत्र की योगोद्वहन विधि बतलाते हुए कहा गया है कि ऋषिभाषित में कालिक आदि पैंतालीस अध्ययन हैं। एक अध्ययन एक दिन में पूर्ण होता है– इस प्रकार इस सूत्र के योग में 45 दिन लगते हैं। इस सूत्र के योगकाल में 45 दिन नीवि तप ही करते हैं। यह अनागाढ़ योग है। किन्हीं के मतानुसार ऋषिभाषित के अध्ययनों का उत्तराध्ययनसूत्र में अन्तर्भाव हो जाता है।

गीतार्थ मुनियों के अनुसार ऋषिभाषित के योग (उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा) तीन कालग्रहण और तीन आयंबिल पूर्वक किए जाते हैं।

प्राचीन सामाचारी, सुबोधासामाचारी एवं विधिमार्गप्रपा के मतानुसार प्रकीर्णक सूत्रों की योगविधि का यन्त्र न्यास इस प्रकार है–

	प्रकीर्णक नाम	दिन	कायोत्सर्ग	तप
1.	आतुरप्रत्याख्यान	1	1	नी.
2.	महाप्रत्याख्यान	1	1	नी.
3.	देवेन्द्रस्तव	1	1	नी.
4.	तंदुल वैतालिक	1	1	नी.
5.	संस्तारक प्रकीर्णक	1	1	नी.
6.	भक्त परिज्ञा	1	1	नी.
7.	आराधना पताका	1	1	नी.
8.	गणिविद्या	1	1	नी.

9.	अंगविद्या	1	1	नी.
10.	चतुःशरण	1	1	नी.
11.	द्वीपसागर प्रज्ञप्ति	1 या 3	1 या 3	नी. या आ.
12.	ज्योतिष करण्डक	1	1	नी.
13.	मरणसमाधि	1	1	नी.
14.	तीर्थोगाली	1	1	नी.
15.	सिद्धपाहुड	1	1	नी.
16.	नरक विभक्ति	1	1	नी.
17.	चन्द्रवेध्यक	1	1	नी.
18.	नंदीसूत्र	3 मतान्तर 1	3 मतान्तर 1	नी.
19.	अनुयोगद्वार	3 मतान्तर 1	3 मतान्तर 1	नी.
20.	पंचकल्प	1	1	आ.
21.	जीतकल्प	1	1	नी.
22.	वीरस्तव	1	1	नी.
23.	संग्रहणी	1	1	नी.
24.	गच्छाचार	1	1	नी.

आचारदिनकर के अनुसार प्रकीर्णक सूत्रों की योग विधि का यन्त्र न्यास यह है[15]–

1. नंदी 2. अनुयोगद्वार 3. देवेन्द्रस्तव 4. तंदुलवैतालिक 5. चन्द्रवेध्यक 6. आतुर प्रत्याख्यान 7. गणिविद्या 8. कल्पाकल्प 9. क्षुल्लकल्पश्रुत 10. राजकल्पश्रुत 11. प्रमादाप्रमाद 12. पौरुषीमंडल 13. विद्याचार व्यवच्छेद 14. आत्मविशुद्धि 15. मरण विशुद्धि 16. ध्यान विभक्ति 17. मरण विभक्ति 18. संलेखनाश्रुत 19. वीतरागश्रुत 20. महाप्रत्याख्यान।

सर्व प्रकीर्णक दिन-1, कायोत्सर्ग – तीन, तप– आयंबिल।

तपागच्छ परम्परानुसार प्रकीर्णक सूत्रों के योगोद्वहन का यन्त्र निम्न प्रकार है–[16]

	प्रकीर्णक नाम	दिन	कायोत्सर्ग
1.	आउर प्रत्याख्यान	1	3
2.	महाप्रत्याख्यान	1	3
3.	देवेन्द्रस्तव	1	3

4.	तंदुलवैतालिक	1	3
5.	संस्तारक	1	3
6.	भक्त परिज्ञा	1	3
7.	आत्म विशुद्धि	1	3
8.	गच्छाचार	1	3
9.	अंगविद्या	1	3
10.	चतु:शरण	1	3
11.	द्वीपसागर प्रज्ञप्ति	1	3
12.	ज्योतिषकरंडक	1	3
13.	मरण समाधि	1	3
14.	तीर्थोगालि	1	3
15.	सिद्धपाहुड	1	3
16.	नरक विभक्ति	1	3
17.	चन्द्रवेध्यक	1	3
18.	पंचकल्प	1	3
19.	जीतकल्प	1	3

मतान्तर से निम्न प्रकीर्णक सूत्रों के योग भी किए जाते हैं–

1.	पडागाहरण	1	3
2.	हिलप विभक्ति	1	3
3.	मरण विभक्ति	1	3
4.	आहार विभक्ति	1	3
5.	संलेहण विभक्ति	1	3
6.	विचारसुत	1	3
7.	गच्छाचार	1	3
8.	संघाचार	1	3

तपागच्छ की वर्तमान परम्परा में निम्न 10 प्रकीर्णकों के योग करवाए जाते हैं– 1. चतु:शरण 2. आतुर प्रत्याख्यान 3. वीरस्तव 4. भक्त परिज्ञा 5. तंदुल वैतालिक 6. गणिविद्या 7. चन्द्रवेध्यक 8. देवेन्द्रस्तव 9. मरणसमाधि 10 संस्तारक।

योगोद्वहन के दिनों की संख्या

पूर्व निर्दिष्ट विवरण के अनुसार आवश्यकसूत्र के योग में आठ दिन, दशवैकालिकसूत्र के योग में पन्द्रह दिन, मण्डली प्रवेश के योग में सात दिन, उत्तराध्ययनसूत्र के योग में अट्ठाईस दिन, आचारांगसूत्र के योग में पचास दिन, स्थानांगसूत्र के योग में अठारह दिन, समवायांगसूत्र के योग में तीन दिन, निशीथसूत्र के योग में दस दिन, कल्प-व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध के योग में बीस दिन, सूत्रकृतांगसूत्र के योग में तीस दिन, भगवती अंग के योग में एक सौ छियासी दिन, ज्ञाताधर्मकथासूत्र के योग में तैंतीस दिन, उपासकदशांग के योग में बीस दिन, निरयावलिका दशा सूत्र के योग में सात दिन, अन्तकृतदशांग के योग में बारह दिन, अनुत्तरोपपातिकदशा सूत्र के योग में सात दिन, औपपातिकसूत्र के योग में तीन दिन, राजप्रश्नीयसूत्र के योग में तीन दिन, जीवाजीवाभिगमसूत्र के योग में तीन दिन, प्रज्ञापनासूत्र के योग में तीन दिन, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति के योग में भी तीन-तीन दिन, प्रश्नव्याकरणसूत्र के योग में चौदह दिन, विपाकश्रुत के योग में चौबीस दिन, महानिशीथ सूत्र के योग में पैंतालीस दिन, जीतकल्प के योग में एक दिन, पंचकल्प के योग में एक दिन- इस प्रकार कुल पाँच सौ इकसठ दिन होते हैं। इनकी मास गणना करने पर अठारह महीना और इक्कीस दिन होते हैं।

योगोद्वहन की इन संख्याओं में प्रकीर्णक सूत्रों के योग दिन की संख्या सम्मिलित नहीं की गई है, क्योंकि प्रकीर्णक सूत्रों की संख्या एवं उनकी योगोद्वहन विधि को लेकर काफी मत-मतान्तर हैं। जैसे कि कुछ ग्रन्थों में दस, तो कुछ में चौदह और कुछ में बीस प्रकीर्णक सूत्रों के योग करने का उल्लेख है तथा किन्हीं में प्रकीर्णक सूत्रों को एक ही दिन में वहन करने का सूचन है तो कुछ आचार्यों के मत में एक-एक प्रकीर्णक को एक-एक दिन में वहन करने का निर्देश है। अतएव अपनी सामाचारी एवं परम्परा के अनुसार प्रकीर्णक सूत्रों के योग करने चाहिए और तदनुसार ही उनके दिन की गणना करनी चाहिए।

प्राचीन सामाचारी में नंदीसूत्र के तीन दिन, अनुयोगद्वार सूत्र के तीन दिन, देवेन्द्रस्तव आदि प्रकीर्णकों के एक-एक दिन मिलाकर कुल 19 मास और छह दिन बतलाए गए हैं।[17]

तुलनात्मक विवेचन

जैन मत में आगम सूत्रों का सर्वोच्च स्थान है। इन सूत्रों के अध्ययन-अध्यापन की योग्यता प्राप्त करने हेतु एक सुनिश्चित विधि सम्पन्न की जाती है जिसमें गुरुमुख से पाठ ग्रहण, गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन, कायोत्सर्ग, तप आदि अनुष्ठान किए जाते हैं।

वर्तमान परम्परा में ग्यारह अंग सूत्र, बारह उपांग सूत्र, छः छेद सूत्र, दस प्रकीर्णक सूत्र, चार मूल सूत्र ऐसे लगभग पैंतालीस सूत्रों के योगोद्वहन करने-करवाने की परिपाटी प्रचलित है। ये आगम सूत्र किस विधि पूर्वक अधिगत किए जाते हैं तथा किस दिन कौनसा श्रुतस्कन्ध, अध्ययन या उद्देशक (पाठ) पढ़ा जाता है या पढ़वाया जाता है, इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।

यदि आगम अध्ययन (योग तप) विधि की पूर्व-परवर्ती ग्रन्थों से तुलना की जाए तो कुछ नये तथ्य इस प्रकार उजागर होते हैं–

आगम संख्या की दृष्टि से– सामाचारी संग्रह,[18] प्राचीन सामाचारी,[19] विधिमार्गप्रपा,[20] सुबोधासामाचारी[21] एवं आचारदिनकर[22] आदि ग्रन्थों में ग्यारह अंग, बारह उपांग आदि सभी सूत्रों के योग करने का उल्लेख है किन्तु तिलकाचार्य सामाचारी[23] में प्रकीर्णक सूत्रों के योगोद्वहन का सूचन नहीं है।

उद्देशक आदि क्रम की दृष्टि से– यद्यपि समाचारी ग्रन्थों एवं विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में योग तप विधि का सम्यक वर्णन किया गया है किन्तु विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में यह विधि अपेक्षाकृत विस्तार के साथ कही गई है। इन दोनों ग्रन्थों में आगम सूत्रों के उद्देशादि की वाचना क्रम को लेकर भेद हैं। विधिमार्गप्रपा में अंग सूत्र, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन एवं उद्देशक की उद्देश- समुद्देश-अनुज्ञा रूप वाचना ग्रहण करने का क्रम इस प्रकार बतलाया है–

सर्वप्रथम अंग सूत्र का उद्देश करें, फिर श्रुतस्कन्ध का उद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन का उद्देश करें, फिर प्रथम अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करें। शेष उद्देशकों को दो-दो के क्रम से पूर्ण करें। यहाँ तक दोनों ग्रन्थों में साम्य है परन्तु विधिमार्गप्रपा के मतानुसार जिस दिन अध्ययन पूर्ण होता हो, उस दिन क्रमशः शेष उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश की क्रिया करें, फिर अध्ययन का समुद्देश करें, फिर शेष उद्देशकों की अनुज्ञा करें और फिर अध्ययन की अनुज्ञा करें।[24] यह क्रम औचित्यपूर्ण मालूम

होता है, क्योंकि जिस प्रकार अंग सूत्र के उद्देश के बाद अध्ययन आदि के उद्देशादि पूर्ण कर लेने पर अंग सूत्र का समुद्देश और अनुज्ञा होती है उसी प्रकार अध्ययन का उद्देश करने के बाद उसमें जितने भी उद्देशक आदि हैं, उन्हें पूर्ण कर लेने पर ही अध्ययन का समुद्देश एवं अनुज्ञा करनी चाहिए। जिस दिन अध्ययन या वर्ग की समुद्देश-अनुज्ञा न हो, उस दिन उद्देशकों के उद्देश आदि क्रमश: कर लेने चाहिए।

आचारदिनकर में उद्देशक आदि की वाचना का क्रम इस प्रकार कहा गया है– जिस दिन अध्ययन पूर्ण होता हो उस दिन पहले शेष उद्देशकों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया एक साथ कर लें, फिर अध्ययन की अनुज्ञा करें, अथवा एक ही दिन में अध्ययन और उद्देशक पूर्ण होते हों तो पहले अध्ययन के उद्देशादि कर लें, फिर उद्देशक के उद्देश आदि करें, अथवा एक अध्ययन के योग एक से अधिक दिन के हों तो ऐसा भी उल्लेख है कि पहले दिन अध्ययन के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करें, फिर उस अध्ययन के पहले-दूसरे उद्देशक के उद्देशादि करें। दूसरे दिन तीसरे-चौथे उद्देशक के उद्देशादि की विधि करें।[25] इस प्रकार उद्देशादि रूप वाचनाक्रम दो-तीन तरह से बतलाये गए हैं।

तिलकाचार्य सामाचारी आदि में उद्देशादि ग्रहण करने सम्बन्धी क्रम का सुस्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा सुबोधासामाचारी में उद्देश आदि का क्रम विधिमार्गप्रपा के समान ही बताया गया है।

कायोत्सर्ग संख्या की दृष्टि से– आगम सूत्रों की योग तप विधि करते समय किस दिन कितनी संख्या में कायोत्सर्ग-वंदना आदि किए जाने चाहिए? यह उल्लेख स्पष्टत: आचारदिनकर में ही उपलब्ध होता है, विधिमार्गप्रपा में इसके अस्पष्ट संकेत हैं। यदि उद्देशक आदि की संख्या की अपेक्षा विचार किया जाये तो उद्देशकादि रूप वाचनाक्रम में अन्तर होने के कारण कायोत्सर्ग आदि में भी अन्तर आ जाता है। इस दृष्टि से विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर दोनों ग्रन्थों में कायोत्सर्गादि को लेकर कहीं-कहीं अन्तर है। किन्तु तपागच्छ की वर्तमान परम्परा में कायोत्सर्गादि की जो संख्या प्रचलित है, वह विधिमार्गप्रपाकार के मत से पूर्ण समानता रखती है। इस विविधता को पूर्वोल्लिखित योग तप विधि के अध्ययन द्वारा सरलता पूर्वक समझा जा सकता है।

तपक्रम की दृष्टि से– प्राचीन सामाचारी, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधा सामाचारी आदि कई ग्रन्थ योग तप विधि का प्रतिपादन करते हैं किन्तु योगोद्वहन

काल में किस दिन कौनसा तप किया जाना चाहिए– इस सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में ही स्पष्ट कहा गया है। इन दोनों में तपक्रम को लेकर सामाचारी भेद है, जैसे कि विधिमार्गप्रपा में अंगसूत्र और श्रुतस्कन्ध के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा दिन में आयंबिल तथा शेष दिनों में नीवि तप करने का उल्लेख किया गया है। प्राचीन सामाचारी में उल्लिखित 'योगयन्त्र' में यही तप-क्रम दिया गया है, जबकि आचारदिनकर में शेष दिनों में एकान्तर आयंबिल-नीवि तप करने का निर्देश दिया गया है। तपागच्छ की वर्तमान परम्परा भी आचारदिनकर का ही अनुसरण करती है। इस परम्परा में एकान्तर आयंबिल-नीवि ही करवाए जाते हैं, किन्तु योगदिन के पन्द्रह-पन्द्रह दिन बीतने पर पाली पलटुं की विधि करते हैं और इसमें क्रमशः दो दिन आयंबिल या दो दिन नीवि करने की छूट देते हैं, उसके बाद पुनः आयंबिल-नीवि के क्रम से तप करते हैं। इससे अतिरिक्त विधि का उल्लेख आचारदिनकर में नहीं हैं।

यद्यपि भगवतीसूत्र, निशीथ अध्ययन एवं महानिशीथसूत्र की योग तप विधि दोनों ग्रन्थों से समान रूप से कही गई है। जैसा कि भगवतीसूत्र के योग विशिष्ट प्रकार की कल्पाकल्प विधिपूर्वक किए जाते हैं, निशीथसूत्र के योग एकान्तर आयंबिल-नीवि के क्रम से पूर्ण होते हैं तथा महानिशीथसूत्र के योग में पैंतालीस दिन आयंबिल ही किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त विधिमार्गप्रपा में द्वीपसागरप्रज्ञप्ति को छोड़कर शेष प्रकीर्णक सूत्रों को नीवि तप द्वारा वहन करने का निर्देश है जबकि आचारदिनकर के अनुसार इन प्रकीर्णक सूत्रों को आयंबिल तप द्वारा वहन करना चाहिए। इस प्रकार कुछ आगम सूत्रों के तपक्रम में पूर्ण समानता भी है।

आगाढ़-अनागाढ़ की दृष्टि से– विधिमार्गप्रपा और आचारदिनकर में आगाढ़ एवं अनागाढ़ सूत्रों के विभाजन को लेकर भी यत्किंचिद् भेद है। जैसे कि विधिमार्गप्रपा में प्रश्नव्याकरण सूत्र को आगाढ़ योग कहा गया है[26] किन्तु आचार दिनकर में इसे अनागाढ़ योग की कोटि में माना गया है।[27]

प्रकीर्णक संख्या की दृष्टि से– प्राचीन सामाचारी में इक्कीस प्रकीर्णक सूत्रों के योगोद्वहन करने का सूचन है। इसमें जीतकल्प एवं पंचकल्प को भी सम्मिलिति किया गया है। विधिमार्गप्रपा में सत्रह प्रकीर्णक सूत्रों, सुबोधा सामाचारी में सात प्रकीर्णक सूत्रों एवं आचारदिनकर में बीस प्रकीर्णक सूत्रों के

योगोद्वहन करने का निर्देश दिया गया है। इस प्रकार प्रकीर्णक सूत्रों की संख्या में मतभेद है।

यदि प्रचलित परम्पराओं की दृष्टि से देखा जाए तो श्वेताम्बर की लगभग सभी आम्नायों में योगोद्वहन क्रिया जीवन्त है। आचार्य गुणसागरसूरी, साध्वी सिद्धान्तरसाजी आदि के साथ हुई चर्चा के अनुसार अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ, त्रिस्तुतिकगच्छ में भी योगतप विधि का प्रचलन है और इनमें तपागच्छ परम्परा के अनुसार यह क्रिया-विधि की जाती है। परन्तु वर्तमान में दशवैकालिक आदि कुछ सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों के योग तप की परिपाटी लुप्त प्राय: हो गई है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा आगम अध्ययन हेतु योगोद्वहन को आवश्यक नहीं मानती है।

दिगम्बर परम्परा आगम सूत्रों का अभाव मानती है यद्यपि षट्खण्डागम आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए स्वाध्याय स्थापन एवं स्वाध्याय निष्ठापन की विधि की जाती है। इसी के साथ विशिष्ट शास्त्रों के प्रारम्भ एवं समापन पर उपवासादि तप करने सम्बन्धी भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं।

मूलाचार में कहा गया है कि बारह अंग, चौदहपूर्व, स्कन्ध-वस्तु, प्राभृत-प्राभृतक, देश प्राभृत-प्राभृत आदि ग्रन्थों में से एक-एक का अध्ययन प्रारम्भ करने में अर्थात अंग या बारह अंगों में से किसी एक के उद्देश-अध्ययन के प्रारम्भ में, समुद्देश– उस ग्रन्थ के अध्ययन की समाप्ति में और अनुज्ञा–गुरु से उस विषय के अध्यापन की आज्ञा लेने पर पाँच उपवास या पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिए। अनुज्ञा में पाँच उपवास या पाँच कायोत्सर्ग रूप प्रायश्चित्त किया जाता है।[28]

भावार्थ यह है कि आगम अभ्यासी शिष्य को अंग का अध्ययन प्रारम्भ करने, पूर्ण करने एवं तद्विषयक गुर्वानुमति प्राप्त करने के उद्देश्य से पाँच उपवास या पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसी भाँति पूर्वग्रन्थ, वस्तुग्रन्थ, प्राभृत ग्रन्थ, प्राभृत-प्राभृत ग्रन्थ– इनमें से किसी भी ग्रन्थ का प्रारम्भ, समापन एवं गुर्वाज्ञा ग्रहण के निमित्त पूर्ववत पाँच-पाँच उपवास या पाँच-पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिए।

यदि वैदिक एवं बौद्ध परम्परा के परिप्रेक्ष्य में कहा जाए तो उनमें इस तरह के अध्ययन-अध्यापन (योग तप) विधि का सर्वथा अभाव है क्योंकि तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में इस विषयक कोई उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है।

उपसंहार

जो आत्मा को विशेष रूप से जोड़े उसे योग कहते हैं। योग शुभाशुभ दो प्रकार का होता है। मन-वचन-काया की शुभप्रवृत्ति शुभयोग है और मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्ति अशुभयोग है। योगोद्वहन के माध्यम से शुभयोग का अभ्यास होता है। योगशास्त्र के अनुसार शुभयोग से समत्व धर्म की प्राप्ति होती है, समत्व से ध्यान का प्रारम्भ होता है, ध्यान से आत्मज्ञान होता है, आत्मज्ञान से कर्म क्षय होते हैं और कर्म क्षय से मोक्ष प्राप्त होता है।[29]

योगोद्वहन आगम रूपी विद्या को सिद्ध करने का अमोघ साधन है। जिस प्रकार लौकिक विद्याओं को सिद्ध करने के लिए भी तप-जप-ध्यान आदि करना आवश्यक होता है अन्यथा सिद्धि नहीं प्राप्त होती। उसी प्रकार आत्मा का अनन्त गुणा उपकारक आगम रूप विशिष्ट विद्या की सिद्धि हेतु योग/उपधान करना परमावश्यक है।

यह विशेषरूप से मननीय है कि योगोद्वहन की क्रिया करने मात्र से सूत्र पढ़ने-पढ़ाने की योग्यता प्रकट नहीं होती अपितु योग क्रिया के साथ आगम का बहुमान, गुरु का विनय, आगम उपदेष्टा तीर्थंकर पुरुषों के प्रति विश्वास, आगम रचयिता गणधर मुनियों के प्रति अटल श्रद्धा होना भी जरूरी है। दूसरे, दीक्षा दिन में एक विशिष्ट विधि करते हैं। कदाच उससे सर्वविरति के परिणाम उत्पन्न न भी हो तो भी सामायिक आदि के परिणाम तो प्रगट होते ही हैं। उसी प्रकार योग क्रिया करने से उस समय आगमानुसारी न भी बन पाएं तो भी आगम को आत्मोपकारक बनाने में परम निमित्तभूत श्रद्धा, विनय, बहुमान आदि गुण अवश्यमेव प्रकट होते हैं। इसलिए योगोद्वहन करना ही चाहिए।

जिन शासन में पंचाचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पंचाचार में प्रथम ज्ञानाचार आठ प्रकार का है। उसका चौथा प्रकार उपधान (योग) वहन है और वह मुनि एवं गृहस्थ दोनों के लिए उत्सर्गत: आचरणीय है। इस आचार का पालन करने से ज्ञानावरणीय कर्म विनष्ट होते हैं और आत्मा में ज्ञान दीप का प्रज्वलन होता है। योगोद्वहन के द्वारा आत्मा में प्रगट हुआ ज्ञान ही भावश्रुत है। इसके सिवाय सभी तरह का पढ़ा हुआ,जाना हुआ या सुना हुआ ज्ञान द्रव्यश्रुत है। द्रव्यश्रुत आत्मा का उपकारक नहीं होता है, अतएव भावश्रुत (केवलज्ञान) को प्रगट करने के लिए काल, विनय, बहुमान आदि आठ प्रकार के आचारों की आराधना निश्चित रूप से करनी चाहिए। योगोद्वहन में आठ आचारों का सम्यकतया आचरण किया जाता है।

सन्दर्भ-सूची

1, विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 145
2. आचारदिनकर, पृ. 92-110
3. विधिमार्गप्रपा, पृ. 145
4. आचारदिनकर, पृ. 93
5. श्री बृहद्योगविधि, पृ. 93
6. वही, पृ. 109
7. विधिमार्गप्रपा, पृ. 156-157
8. वही, पृ. 166
9. वही, पृ. 168
10. आचारदिनकर, पृ. 104
11. वही, पृ. 99
12. विधिमार्गप्रपा, पृ. 170
13. प्राचीन सामाचारी, पृ. 37
14. विधिमार्गप्रपा, पृ. 170
15. आचारदिनकर, पृ. 104
16. श्री प्रव्रज्या योगविधि संग्रह, पृ. 112
17. प्राचीन सामाचारी, पृ. 25
18. सामाचारी संग्रह, पृ. 49-73
19. प्राचीन सामाचारी, पृ. 25
20. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 145-171
21. सुबोधा सामाचारी, पृ. 28-34
22. आचारदिनकर, 92-110
23. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 34-39
24. विधिमार्गप्रपा, पृ. 150
25. आचारदिनकर, पृ. 96-97
26. विधिमार्गप्रपा, पृ. 166
27. आचारदिनकर, पृ. 102
28. मूलाचार, गा. 280
29. योगशास्त्र, गुजतराती भाषान्तर, 4/112-113

●

अध्याय-7

कल्पत्रेप विधि का सामाचारीगत अध्ययन

कल्पत्रेप, योगवाही मुनियों का आवश्यक अनुष्ठान है। विधिमार्गप्रपा में कहा गया है कि 'जोगाय कप्पतिप्पं विणा न वहिज्जंति'– योगोद्वहन (तप पूर्वक आगम सूत्रों का अध्ययन) कल्पत्रेप के बिना वहन नहीं किया जाता है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि कल्पत्रेप क्रिया करनें के पश्चात ही योगोद्वहन में प्रवेश करना चाहिए।

विधिमार्गप्रपाकार ने इस सम्बन्ध में यह भी निर्दिष्ट किया है कि यह क्रिया मुख्य रूप से प्रत्येक छह महीने के अन्तराल में अर्थात वैशाख शुक्ला एवं कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के अनन्तर किसी भी शुभ दिन में करनी चाहिए अत: इसे 'छहमासिक कल्प उत्तारण विधि' भी कहते हैं।[2]

सामान्य रूप से वस्त्र, पात्र, स्थान, शरीर आदि की शुद्धि करना कल्पत्रेप है और उत्सर्गत: पंचाचार की शुद्धि करना कल्पत्रेप है। जिस क्रिया विशेष से बाह्य शुद्धि पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप की शुद्धि होती हो, वह कल्पत्रेप है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसमें प्रतिपद्यमान वसति-पात्र आदि की प्रत्येक शुद्धि छह माह के पश्चात तो करनी ही चाहिए, किन्तु छह महीने के भीतर भी तत्सम्बन्धी कोई कारण उपस्थित हो जाए तो उसकी शुद्धि उस समय ही कर लेनी चाहिए,जैसे अपान आदि की शुद्धि प्रतिदिन की जानी चाहिए।

कल्पत्रेप शब्द का अर्थ विमर्श

कल्पत्रेप शब्द दो पदों के योग से निष्पन्न है। प्राकृत हिन्दी कोश में कल्प और त्रेप के निम्न अर्थ किए गए हैं–

कल्प अर्थात करना, ग्रहण योग्य, प्रक्षालन, आचार, व्यवहार, उचित, अनुष्ठान, शास्त्रोक्त विधि आदि।

त्रेप अर्थात तृप्त करना, झरना, चूना, संतुष्ट, अपान आदि धोने की क्रिया।

इन नामों के आधार पर यहाँ तीन अर्थ घटित होते हैं–

1. शास्त्रोक्त विधि करना 2. प्रक्षालन पूर्वक शरीर आदि की शुद्धि करना और 3. आचार की शुद्धि करना।

संक्षेप में कहें तो वसति-पात्र-शरीर आदि की प्रक्षालन पूर्वक शुद्धि करना तथा इसी बाह्य शुद्धि के आधार पर ज्ञानाचार आदि पंचाचार की शुद्धि करना कल्पत्रेप है।[3]

कल्पत्रेप की गीतार्थ विहित परिभाषाएँ

जैन साहित्य में कल्पत्रेप की निम्नोक्त परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं-

1. योगोद्वहन के समय उपयोगी स्थान, वस्त्र,पात्र आदि को शुद्ध रूप से ग्रहण करना कल्पत्रेप है।
2. मुनि जीवन की आचार प्रधान क्रियाओं में लगने वाले दोषों को दूर करना कल्पत्रेप है।
3. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार- इन पंचाचार को दूषित करने वाले अनुपयोग, अविवेक, आलस्य आदि को दूर करना कल्पत्रेप है।
4. मुनिधर्म का निर्वहन करते हुए सामाचारी प्रधान नियमों का अनुपालन करना कल्पत्रेप है।
5. ज्ञानाचार की सम्यक आराधना करने के लिए मन-वचन-काया की शुद्धि रखना कल्पत्रेप है।
6. आगम-शास्त्रों को अधिकृत करने एवं स्वयं को तद्योग्य बनाने हेतु बाह्य वातावरण को पवित्र रखना कल्पत्रेप है।

कल्पत्रेप के माध्यम से योगवाही के आस-पास का वातावरण निर्मल होता हैं, भावनाएँ पवित्र बनती हैं और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है जिससे समस्त प्रकार की आराधनाएँ सार्थक होती हैं। अत: कल्पत्रेप क्रिया करने योग्य है।

कल्पत्रेप के लिए शुभदिन

विधिमार्गप्रपा के अनुसार यह कल्पत्रेप क्रिया वैशाख और कार्तिक मास की प्रतिपदा के पश्चात जब भी गुरुवार या सोमवार के दिन पुष्य-हस्त-अभिजित या अश्विनी नक्षत्र हो, उस श्रेष्ठ दिन में करनी चाहिए।[4]

कल्पत्रेप (छहमासिक कल्प उतारने) सम्बन्धी नियम

जिस दिन कल्पत्रेप क्रिया करनी हो उस दिन कल्पत्रेपक मुनि शुभ निमित्त में उपयोगवन्त बने। फिर गृहस्थ के घर जाकर अखण्ड वस्त्र से बंधे हुए पात्र में से प्रासुक जल लेकर आये। उस दिन योगिनी कल्पत्रेप करने वाले मुनि की पीठ के पीछे अथवा उसके बायीं ओर होनी चाहिए। फिर उक्त स्थिति में लाए हुए जल के द्वारा मुख-हाथ एवं पाँवों को गीला करें। फिर सभी साधुजन बड़े-छोटे के क्रम से छह माह की शुद्धि करें।

सर्वप्रथम जिन मुनियों को छहमासिक कल्प उतारना हो, वे श्वासोश्वास को रोकते हुए रजोहरण की दसिया आदि को जल से गीली करें, फिर उन गीली दसियों के द्वारा पहले चार बूँद मुख पर डालें, उसके बाद चार बूँद पैरों पर डालें।

यहाँ बूँद डालते समय हाथ विन्यास की क्रिया गुरु परम्परागत उपदेश से जाननी चाहिए।

छहमासिक कल्प उतारते या शुद्धि करते समय दूसरों के द्वारा दी गई जल की बूँदों को ही ग्रहण करें, इसके अतिरिक्त कृत्यों में शुद्धि करते समय रजोहरण की दसियों के द्वारा दी गई, मुखवस्त्रिका के आंचल द्वारा दी गई अथवा दूसरे की कोहनी द्वारा दी गई जल बूँदे ग्रहण कर सकते हैं।

छह महीने की शुद्धि करते वक्त जो साधु खड़े होकर कल्पत्रेप कर रहे हैं उनके लिए दूसरे साधु खड़े होकर ही जल की बूँदे दें और जो साधु बैठकर कल्पत्रेप कर रहे हैं उनके लिए अन्य साधु बैठे हुए ही जल की बूँदें दें। सामान्यकल्प में यह नियम नहीं है। मुख एवं पाँवों की शुद्धि कर लेने के पश्चात ज्ञान सम्बन्धी उपकरणों को छोड़कर वसति और पात्रोपकरण सभी की जल बूँदों से शुद्धि करें। विशेष इतना है कि भोजनमंडली के स्थान को गोबर से लीपकर शुद्ध करें तथा छह माह के भीतर उपयोग में लिए गए पात्र, पूंजणी, प्रमार्जनिका (दंडासन) आदि को स्वर्ण एवं राख आदि के मिश्रित जल द्वारा शुद्ध करें।

इसी क्रम में वसति का शोधन करें तथा उपाश्रय की चारों दिशाओं में सौ-सौ हाथ तक की भूमि पर अस्थि-रुधिर-विष्टा आदि किसी प्रकार के अशुचि द्रव्य गिरे हुए हों तो उन्हें अन्य स्थान पर विसर्जित करें। उसके बाद स्वाध्याय प्रस्थापन विधि करें।[5]

स्वाध्याय उत्क्षेपण (प्रस्थापन) विधि

विधिमार्गप्रपा के अनुसार स्वाध्याय उत्क्षेपण विधि इस प्रकार है[6]–

सर्वप्रथम ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर स्वाध्याय उत्क्षेप की क्रिया गुरु द्वारा सम्पन्न की जाये। उसके बाद कल्पत्रेपक मुनि एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! छम्मासिय कप्प संदिसाऊं'? इच्छं।'** पुनः एक खमासमण देकर बोलें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! छम्मासिय कप्प पडिग्गहुं? इच्छं।'** फिर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय उक्खिवणत्थं मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें और दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

उसके बाद कल्पत्रेपक मुनि एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं उक्खिवामो? इच्छं।'** पुनः एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय उक्खिवणत्थं काउस्सग्गं करेमो'।** फिर **सज्झाय उक्खिवणत्थं करेमि काउस्सग्गं,** अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र और एक लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

तत्पश्चात छह माह की शुद्धि करने वाले मुनिगण एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! असज्झाइय-अणाउत्त-ओहडावणत्थं काउस्सग्गं करेमो? इच्छं।'** फिर **असज्झाइय अणाउत्त ओहडावणियं करेमि काउसग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर चार लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

तदनन्तर कल्पत्रेपक मुनि एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! खुद्दोपद्दव ओहडावणत्थं काउस्सग्गं करेमो? इच्छं।'** फिर **खुद्दोपद्दवओहडावणियं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर चार लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

उसके पश्चात पुनः एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सक्काइवेयावच्चगर आराहणत्थं काउस्सग्गं करेमो? इच्छं।'** फिर **सक्काइवेयावच्चगर आराहणत्थं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर चार लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रगट में लोगस्ससूत्र बोलें।

उसके बाद कल्पत्रेपक मुनि एक खमासमण देकर कहें– **इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं संदिसावेमि? इच्छं।'** पुनः एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं करेमि? इच्छं'** कहकर एवं घुटनों के बल बैठकर एक नमस्कारमन्त्र पूर्वक दशवैकालिकसूत्र के प्रारम्भिक तीन

अध्ययनों (वर्तमान सामाचारी के अनुसार प्रारम्भ के चार अध्ययनों) का उच्चारण के साथ स्वाध्याय करें। उसके बाद उपयोग आदि की क्रिया करें।

खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में स्वाध्याय उत्क्षेपण की यही विधि प्रचलित है। इसमें मुख्य अन्तर यह है कि दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन अर्धावनत मुद्रा में बोले जाते हैं। ज्येष्ठ मुनि चारों अध्ययनों को प्रगट स्वर में बोलते हैं और शेष सभी श्रवण करते हुए स्वाध्याय करते हैं।[7]

यह क्रिया प्रात:काल में स्थापनाचार्य के समक्ष गुरु की साक्षी में की जाती है। इस क्रिया के अन्तर्गत पहला कायोत्सर्ग स्वाध्याय स्थापना के निमित्त, दूसरा कायोत्सर्ग अस्वाध्याय के सम्बन्ध में उपयोग न रखा हो या किसी तरह का दोष लगा हो तो उससे निवृत्त होने के निमित्त, तीसरा कायोत्सर्ग छह माह के मध्य छींक आदि क्षुद्र उपद्रव हुए हों तो उसे दूर करने निमित्त एवं चौथा कायोत्सर्ग आगामी स्वाध्याय निर्विघ्न रूप से प्रवर्त्तित रहे, तदर्थ जिन शासन की सेवा में तत्पर रहने वाले सम्यक्त्वी देवी-देवताओं की आराधना के निमित्त करते हैं।

स्वाध्याय निक्षेपण विधि

चैत्र एवं आसोज माह के शुक्ल पक्ष में स्वाध्याय निक्षेप (स्वाध्याय न करने की) विधि करते हैं। वर्तमान परम्परा में यदि नवपद ओली की आराधना सप्तमी से प्रारम्भ हो तो पंचमी, अष्टमी से शुरू हो तो षष्ठी, दूसरी षष्ठी आदि से शुरू हो तो चतुर्थी तिथि के दिन यह विधि करते हैं।

विधिमार्गप्रपा एवं वर्तमान सामाचारी के अनुसार एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय निक्खिवणत्थं मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन और द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

उसके बाद एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय निक्खिवणत्थं काउस्सग्गं करेमो इच्छं।'** फिर **'सज्झाय निक्खिवणत्थं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में नमस्कारमन्त्र बोलें।[8]

किन स्थितियों में कल्पत्रेप करें?

सामान्यतया निम्न स्थितियों में कल्पत्रेप (प्रक्षालन पूर्वक शुद्धि) क्रिया करनी चाहिए।

वमन सम्बन्धी– यदि रात्रि में मलोत्सर्ग किया हो, वमन हुआ हो, भोजन मंडली के स्थान पर धान्यादि कण रह गए हों, शरीर से रुधिरादि निकला हो तो

दूसरे दिन प्रभात में उन-उन स्थानों की जल द्वारा शुद्धि करें। यदि स्थंडिल भूमि में मलोत्सर्ग किया हो तो वहाँ से उपाश्रय में आकर पिंडली एवं घुटने से नीचे तक के पैरों की जल द्वारा शुद्धि करें।

भूमि सम्बन्धी– जिस भूमि पर पाँव एवं पात्रोपकरण की शुद्धि की जाती है, वह स्थान अशुद्ध हो जाता है। उस जगह को थोड़े जल से गीला कर दंडासन के अग्रभाग से उसे शुद्ध करें और उस दंडासन को अणाउत्त (अशुद्ध) स्थान में ले जाकर शुद्ध करें। यहाँ अणाउत्त शब्द से तात्पर्य उपाश्रय के मुख्य द्वार के समीप बायीं ओर पत्थर-ईंट आदि के टुकड़ों से घिरा हुआ स्थान विशेष है। इस स्थान को रूढ़ि से अणाउत्त कहते हैं।

मलोत्सर्ग सम्बन्धी– यदि मलोत्सर्ग करना हो तो मल विसर्जन करने के पश्चात बायें हाथ में तीन चुल्लूभर पानी लेकर अपान स्थान की शुद्धि करें। फिर दाएँ हाथ में थोड़ा जल लेकर मस्तक पर छोड़ें अथवा दाएं हाथ की कोहनी के द्वारा जलग्रहण कर अधिस्थान लिंगों, जंघाओं एवं कलाईयों के स्थान पर जल की चार बूँदे डालकर उनकी शुद्धि करें। मलोत्सर्ग करने के पश्चात यदि अशुद्ध हाथ मुख पर लग जाए तब कल्पत्रेप के द्वारा ही मुखस्थान की शुद्धि होती है। यदि अधिस्थान लिंगों की शुद्धि करते समय तिरपनी (लोटे के आकार का जलपात्र) अथवा डोरी बाएँ हाथ या पाँव से स्पर्श हो जाये तो वह अशुद्ध हो जाती है। उस समय तिरपनी में रहे हुए जल को विसर्जित कर दें और डोरी को तिरपनी के अन्दर डालकर उसकी अन्य जल से शुद्धि करें।

कंटक-अस्थि सम्बन्धी– उपाश्रय से बाहर भिक्षा हेतु या विहारादि कारणों से गमन करते हुए पाँव में काँटा लग जाए तो जिस हाथ से काँटा आदि निकालें, वसति में आकर उस हाथ की शुद्धि करें। यदि भिक्षाचर्या आदि के निमित्त गमन करते हुए डंडे से हड्डी का स्पर्श हो जाए तो उसकी शुद्धि करें।

पदार्थ सम्बन्धी– जिस अंग या उपांग के द्वारा अशुद्ध पात्रोपकरण का स्पर्श हो जाए अथवा किसी अंगीय भाग में से रक्त नि:सृत हो रहा हो तो उससे व्यक्ति और स्थान दोनों अशुद्ध हो जाते हैं। यदि पूर्व दिन की संध्या को वसति का काजा न निकाला हो तथा रात भर तिरपनी आदि में पानी बचा हुआ रह गया हो और तिरपनी की डोरी भी उसी में लगी हुई रह गई हो तो वसति और पात्र दोनों अशुद्ध हो जाते हैं। परन्तु विहारादि के कारण तिरपनी की डोरी न निकालें तो वह अशुद्ध नहीं होती है।

किसी विशेष प्रयोजन से गुड़-घृत-तेल-खीर आदि भोजन लाया गया हो तो उस पात्र का अवश्य कल्पत्रेप करें। उसके बाद ही उस पात्र का दुबारा उपयोग करना चाहिए।

यदि नारियल आदि के पात्र को घिसने के लिए तेल रखा गया हो और उस तेल में नमक नहीं डाला हो तो वह तेल अशुद्ध-अकल्प्य हो जाता है।

शरीर सम्बन्धी– भोजन करके उठने के बाद रजोहरण की दसियों के द्वारा शुद्ध जल ग्रहण करके पहले एक हाथ मस्तक पर रखें और एक हाथ को मुख पर रखकर जल की चार बूँदे ग्रहण करें अर्थात मस्तक से झरता-चूता हुआ पानी मुख पर गिर सके, इस तरह जल बूँदों को ग्रहण करें।

यदि स्वादिम वस्तुएँ जैसे सौंफ, इलायची, लोंग आदि के कण मुख में रह गए हों तो पहले जल की चार बूँदों द्वारा मस्तक की शुद्धि करें, फिर अलग से जल की चार बूँदें लेकर मुख की शुद्धि करें। तदनन्तर रजोहरण की दसियों के द्वारा मस्तक पर थोड़ा जल छिड़ककर दोनों कान, दोनों स्कन्ध, दोनों भुजाएं (कोहनी और स्कन्ध के मध्य का भाग), दोनों कोहनियां, दोनों प्रकोष्ठ (कलाई और कोहनी के बीच का भाग) और हृदय– इन स्थानों की चार-चार बूँदों से शुद्धि करें। उसके बाद पृष्ठ भाग की समग्र रूप से शुद्धि करें। फिर चोलपट्ट (मुनि का अधोभागीय वस्त्र), दोनों जंघा, दोनों घुटने, दोनों पिंडलियाँ और दोनों पाँव– इन स्थानों की चार-चार बूँदों से शुद्धि करें।

मंडली स्थान सम्बन्धी– शरीर शुद्धि करने के पश्चात आहार के पात्र आदि एवं आहार स्थान को शुद्ध करने के लिए नियुक्त किया गया साधु अथवा सबसे कनिष्ठ साधु मंडली स्थान पर आए और यदि भूमि मट्ठा-छाछ आदि से खरडी हुई हो तो उसे जल द्वारा शुद्ध करें अथवा धान्य आदि कण बिखरे हुए हों तो उस स्थान की दंडासन से प्रमार्जना करें– इस प्रकार भोजन मंडली की भूमि को स्वच्छ करें।

यदि शुद्ध किया गया मंडली स्थान किसी के पाँवों से अशुद्ध हो जाये तो उसे पुनः से शुद्ध करना चाहिए। फिर दंडासन में फँसे हुए धान्यादि कणों को दूर करें। तदनन्तर दंडासन को कील पर टांगकर उस पर बार-बार जल का छिड़काव करते हुए उसकी शुद्धि करें। कल्पत्रेपक मुनि नव दीक्षित, ग्लान अथवा सामाचारी में अकुशल हो तो वह भोजन मंडली की शुद्धि दंडासन के द्वारा ही करे।

पैर सम्बन्धी– प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर यदि रात्रि में ही स्थान

परिवर्तन करना पड़े अथवा नगर से बाहर जाना पड़े तो उस समय पैरों में तलिए (जूते) धारण किए हुए हों तो पाँव अशुद्ध नहीं होते हैं अन्यथा अशुद्ध हो जाते हैं। दिन या रात्रि में अशुद्ध हाथ-पाँव आदि सुन्न हो जाएं तो कल्पत्रेप के द्वारा ही शुद्ध होते हैं।

वस्त्र सम्बन्धी– यदि भोजन करते हुए धान्यादि कण अथवा दुग्धादि पीते हुए उसके छींटे चोलपट्ट या साड़े पर गिर जाए तो वह वस्त्र अशुद्ध हो जाता है, तब जल के द्वारा उसे शुद्ध करें। कल्पत्रेप हेतु उस दिन के जल का ही उपयोग करें, चूने युक्त बासी जल का उपयोग न करें।

वसति सम्बन्धी– यदि नख और लोच के केशों को वसति के बाहर परिष्ठापित करना भूल जाएं तो तीसरे दिन सम्पूर्ण वसति अशुद्ध हो जाती है। बिल्ली-कुत्ता या मनुष्य की विष्टा का स्पर्श होने पर शरीर या वसति अशुद्ध हो जाती है। तिरपनी आदि में रात भर रहा हुआ जल अशुद्ध हो जाता है, किन्तु कारण विशेष में रखने पर अशुद्ध नहीं होता है।[9]

इस प्रकार उपर्युक्त स्थितियों में कल्पत्रेप क्रिया करनी चाहिए। इसी के साथ वस्त्र, पात्र, वसति आदि कब-कैसे अशुद्ध होते हैं, इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

उपसंहार

कल्पत्रेप जैन मुनियों की आवश्यक सामाचारी है। इस क्रिया के द्वारा वस्त्र, पात्र, शरीर, स्थान आदि की विधिपूर्वक शुद्धि की जाती है और यही द्रव्य कल्पत्रेप कहलाता है तथा द्रव्य कल्पपूर्वक आचार सम्बन्धी नियमों का निर्दोष परिपालन करना भाव कल्पत्रेप है। द्रव्य शुद्धि के आधार पर ही भाव शुद्धि अवलंबित है।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पत्रेप क्रिया के दो प्रकार निर्दिष्ट किए हैं 1. सामान्य और 2. विशेष। आहार भूमि, शरीर, मलोत्सर्ग आदि दैनिक कृत्य सम्बन्धी एवं वमन, रात्रि गमन, वसति, कंटक आदि अनियत कृत्य सम्बन्धी अशुद्धि दूर करना सामान्य कल्पत्रेप है और प्रत्येक छह माह के पश्चात पात्र आदि उपकरणों की विशिष्ट शुद्धि करना विशेष कल्पत्रेप है।

जो साधु गच्छ, परम्परा या समुदाय विशेष से जुड़ा हुआ हो उसे दोनों प्रकार के कल्पत्रेप का पालन करना चाहिए।

यदि इस अनुष्ठान के सम्बन्ध में कालक्रम की दृष्टि से विचार किया जाए तो आगम युग से लेकर विक्रम की ग्यारहवीं शती पर्यन्त के ग्रन्थों में लगभग

यह विधि देखने को नहीं मिलती है। सम्भवत: परम्परागत आम्नाय से प्रतिबद्ध होने के कारण इसकी मौखिक प्रवृत्ति विद्यमान रही होगी।

हमें प्रस्तुत विधि का उल्लेख सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा में प्राप्त होता है। आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस सामाचारी का निरूपण विस्तार के साथ किया है।[10]

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो आचारदिनकर में इसका नामोल्लेख मात्र है तथा सामाचारी शतक में विधिमार्गप्रपा का ही कुछ अंश यथावत उद्धृत किया गया है।[11] इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त यह विधि या इसका नामोल्लेख मूल रूप से कहीं भी पढ़ने में नहीं आया है परन्तु वर्तमान की संकलित कृतियों में सज्झाय उत्क्षेपण एवं सज्झाय निक्षेपण विधि का उल्लेख है तथा खरतरगच्छ आदि कुछ परम्पराओं में यह विधि आज भी प्रचलित हैं।

कल्पत्रेप आचारशुद्धि की शास्त्रविहित प्रक्रिया है। इसके द्वारा द्रव्य रूप से स्थान, वस्त्र, पात्र आदि की शुद्धि की जाती है परंतु भावरूप से मुनि के पंचाचार की शुद्धि एवं प्रमाद, अविवेक, अविरति आदि को न्यून किया जाता है। साध्वाचार सम्बन्धी कल्पों का पालन करते हुए निर्दोष श्रमण जीवन का आनंद अनुभूत किया जाता है। यह अध्याय आचार संहिता के पालन में हेतुभूत बने एवं ज्ञानार्जन के मार्ग पर अग्रसर करें यही हार्दिक प्रयास है।

सन्दर्भ-सूची

1. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 182*
2. *वही, पृ. 182*
3. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 222, 437*
4. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 182*
5. *वही, पृ. 182*
6. *वही, पृ. 182*
7. *स्वाध्याय माला, संपा. मणिप्रभसागर, पृ. 107-109*
8. *(क) विधिमार्गप्रपा, पृ. 183*
   (ख) स्वाध्याय माला, पृ. 106
9. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 184-186*
10. *सामाचारी शतक, पृ. 154*
11. *कल्पसूत्र सामाचारी अधिकार*

परिशिष्ट

योगोद्वहन एक प्राचीन एवं शास्त्रोक्त विधि है। इसमें कई पारिभाषिक एवं विषयीभूत विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनमें से कुछ शब्द आगम अध्ययन से सम्बन्धित है तो कई आगम सम्बन्धी विशिष्ट विषयों से और कई में गूढ़ शाब्दिक रहस्य भी समाहित हैं। यहाँ पर योगोद्वहन सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के रहस्यार्थ एवं विशिष्टार्थ दिए जा रहे हैं।

योगोद्वहन सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के विशिष्टार्थ एवं रहस्यार्थ

1. श्रुत 2. श्रुतस्कन्ध 3. अध्ययन 4. शतक 5. वर्ग– ये आगम सूत्रों के विभाग के नाम हैं। इसी तरह कांड, पद, वक्षस्कार, प्रकाश आदि संज्ञाओं का भी प्रयोग किया जाता है। इनका अर्थ विभाग/उपविभाग आदि रूप समझना चाहिए।

श्रुत– पूर्ण आगम श्रुत कहलाता है। जैसे– आचारांग, उत्तराध्ययन आदि सभी आगम सूत्र।

श्रुतस्कन्ध– आगम श्रुत का बृहद् भाग, आगम के अध्ययनों का समूह रूप बृहत्काय खंड, योगोद्वहन में आगम वाचना का खण्ड अथवा विश्राम रूप स्थल श्रुतस्कन्ध कहलाता है।

अध्ययन– जहाँ एक विषय के विवेचन की समाप्ति हो, वह अध्ययन कहलाता है। श्रुतस्कन्ध के विभाग को भी अध्ययन कहते हैं। शास्त्र के किसी एक विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक अंश को भी अध्ययन कहा गया है। योगोद्वहन में दिनों की संख्या भी अध्ययन रूप है। वाचना में विश्रामरूप विभाग को भी अध्ययन कहते हैं।

शतक– कुछ आगम सूत्रों में अध्ययन का अभाव होता है वहाँ 'शतक' नाम की संज्ञा होती है। ये भी अध्ययन के समान ही होते हैं।

वर्ग– अध्ययन या शतक का खण्ड रूप विभाग वर्ग कहलाता है।

उद्देशक– वर्ग का खण्ड रूप विभाग उद्देशक कहलाता है। अध्ययन और शतक का विभाजन करने वाले लघु खण्ड भी उद्देशक कहे जाते हैं। अध्ययन

के अन्तर्गत नाम निर्देश पूर्वक विषय का निरूपण करने वाला प्रकरण विशेष भी उद्देशक कहलाता है। कुछ आगम सूत्रों के योग में उद्देशक पृथक समझाए जाते हैं और वे अविभक्त होते हैं।

• योगोद्वहन में प्रवेदन आदि के समय प्रयुक्त उद्देश,समुद्देश, अनुज्ञा आदि शब्द उपर्युक्त 'उद्देशक' शब्द से भिन्न अर्थवाची हैं।

उद्देशक– यह शब्द शास्त्र के खण्ड विशेष का सूचक है। अनुमति और उद्देशादि शब्द आगम की वाचना के द्योतक हैं। समुद्देश में गुरु द्वारा प्रदत्त सूत्रार्थ को उसी तरह आत्मस्थ एवं स्थिर परिचित कर वापस लौटाना। यानी गुरु को सूत्रार्थ सुनाकर अभ्यास यथावत किया है– ऐसा प्रवेदन करना अभिमत है।

अनुज्ञा– गुर्वानुमति पूर्वक उद्देश + समुद्देश प्राप्त सूत्रार्थ को अन्य सुयोग्य आत्मा तक पहुँचाने का कार्य है।

उद्देश आदि के निम्न अर्थ भी हैं–

उद्देश– • आगम की वाचना ग्रहण करने हेतु गुरु की आज्ञा लेना।

• सूत्र पढ़ने के लिए आज्ञा देना।

• उद्देसो अभिनव अधितस्स'– नये मूल पाठ की वाचना देना।

समुद्देश– • आगम की अर्थ रूप वाचना ग्रहण करने में विशेष रूप से गुरु की आज्ञा लेना।

• सूत्र स्थिर करने के लिए आज्ञा देना।

• 'अथिरस्स समुद्देसो' कण्ठस्थ किए हुए पाठ को पक्का एवं शुद्ध करना।

अनुज्ञा– • आगम वाचना के समापन का आदेश प्राप्त करना।

• अन्य को पढ़ाने की आज्ञा प्राप्त करना।

• 'थिरीभूयस्स अणुण्णा'– आगम पाठ शुद्ध रूप से स्थिर एवं कण्ठस्थ हो जाने पर दूसरों को सिखाने की आज्ञा देना अनुज्ञा कहलाता है।

सार रूप में कहा जाए तो तुम्हें पढ़ना चाहिए– शिष्य के लिए इस प्रकार की गुरु आज्ञा या उपदेश रूप वचन या नये पाठ की वाचना देने को उद्देश कहते हैं। प्राचीन परम्परा में मौखिक स्वाध्याय होने से उद्देश की प्रवृत्ति होती थी। यह पठित ग्रन्थ विस्मृत न हो जाए अत: इसकी आवृत्ति करो, इसे स्थिर करो, इस प्रकार गुरु का आदेशमूलक वचन समुद्देश कहलाता है। पठित ग्रन्थ दूसरों को पढ़ाओ– इस प्रकार गुरु के आज्ञा रूप वचन को अनुज्ञा कहते हैं।[1]

आचारकल्पिक– उत्तराध्ययन, आचारांग एवं निशीथ– इन सूत्रों का योग किया हुआ साधु आचारकल्पिक कहलाता है तथा आचारकल्पिक ही गणियोग वहन करने का अधिकारी होता है।[2]

आगाढ़योग– 'आ समन्तात गाढः आगाढ़'– जो चारों ओर से प्रकृष्ट है, अनिवार्य रूप से करने योग्य है वह आगाढ़ कहलाता है। जिन सूत्रों के योग प्रारम्भ करने के पश्चात उन्हें पूर्ण करने के बाद ही बाहर निकला जा सकता है, ऐसे सूत्रों का योगोद्वहन करना आगाढ़ योग कहलाता है। आगाढ़ सूत्रों के योग को अधूरा क्यों नहीं छोड़ा जा सकता? इसका मूल रहस्य ज्ञानीगम्य है। कितनी ही बातें तर्कगम्य होती हैं कितनी ही श्रद्धागम्य। योग आदि की क्रियाएँ श्रद्धागम्य हैं। उनके कारण ज्ञानियों ने देखे हैं। हर बातें शास्त्र में वर्णित नहीं होती।

आगाढ़ सूत्रों के योग में से बीच में बाहर न निकलने का एक कारण यह माना जाता है कि वे मन्त्र प्रधान एवं गूढ़ रहस्यमय होने से अधूरे छोड़ देने पर देव कुपित हो सकते हैं। कष्ट या मृत्यु भय आदि की संभावना रहती है। कई सूत्र ऐसे भी होते हैं जिनका अधूरा ज्ञान मन में अनेक शंकाएँ या विभ्रम की स्थिति उत्पन्न कर सकता है अतः उन्हें बीच में नहीं छोड़ना ही अधिक श्रेयस्कर है। इन्हीं हेतुओं से आगाढ़ सूत्रों को अधूरा नहीं छोड़ने का निर्देश है।

अनागाढ़ योग– जिन सूत्रों के योग में प्रवेश करने के बाद कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण उसे अधूरा छोड़ना अत्यावश्यक हो जाये तो प्रवेश करने के चार दिन बाद बाहर निकल सकते हैं। ऐसे सूत्रों के योग अनागाढ़ कहलाते हैं।

नोंतरा– नोंतरा अर्थात आमन्त्रण। यह क्रिया सूर्यास्त के समय करते हैं और इसमें 27-27 मांडले किये जाते हैं। मूलतः योगवाहियों को कालग्रहण आदि विशिष्ट क्रियाओं में जागरूक रखने हेतु आगम देवता (श्रुत देवता) को आमन्त्रित किया जाता है और उन्हें योग्य स्थान पर अधिष्ठित करने हेतु भूमि शुद्धि की जाती है। रामचन्द्रसूरी समुदायवर्ती पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. के अनुसार भी नोंतरा के समय श्रुतज्ञान के अधिष्ठायक देवों को आमन्त्रित करते हैं। इसी के साथ ज्ञानार्जन के उस कालविशेष को उपद्रव रहित करने के लिए दिशापालक देवों को भी आमन्त्रित किया जाता है। प्रत्येक आगम के अधिष्ठायक देव पृथक-पृथक भी हैं और एक भी हैं जैसे– श्रुतदेवता, सरस्वती

देवी। सम्यक्त्वी देवी-देवताओं का लम्बा-चौड़ा परिवार है।

नन्दीसूत्र– नन्दी–मंगल, आनन्द एवं कल्याण का वाच्यार्थ है। मंगल वाचक शब्दों या पदों का श्रवण करने मात्र से मंगल होता है अतः नन्दी सूत्र सुनाने की परम्परा है। योगोद्वहन आदि चारित्र प्रधान क्रियाएँ श्रुतज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती हैं। नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान का विस्तृत वर्णन है एवं आगम सूत्रों के नाम की प्रामाणिक सूची है। अतः आगम ज्ञान की समुपलब्धि हेतु भी नन्दी सूत्र सुनने- सुनाने की परिपाटी है।

नन्दी पाठ उत्कृष्ट आदि की अपेक्षा तीन प्रकार के हैं 1. योगोद्वहन, आचार्य पदारोहण आदि के समय बृहद्नन्दी पाठ सुनाते हैं 2. उपस्थापना, उपधान प्रवेश आदि के समय मध्यम नन्दी पाठ सुनाते हैं 3. सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत या सामान्य क्रियानुष्ठानों के समय तीन नमस्कार मन्त्र रूप लघु नन्दी पाठ सुनाते हैं।

तपागच्छ परम्परानुसार उपधान प्रवेश में तीन नवकार रूप जघन्य नन्दी ही सुनाते हैं। दीक्षा में भी जघन्य नन्दी सुनाते हैं। बड़ी दीक्षा में मध्यम नन्दी सुनाते हैं।

नन्दी सूत्र सुनते समय मन-वचन-काया की एकाग्रता बनी रहे एवं गृहीत पाठ आत्मस्थ हो सके, इस उद्देश्य से कनिष्ठिका अंगुलियों के ऊपर मुखवस्त्रिका को स्थिर करते हैं।

नन्दी रचना– नाण, नान्दि, नन्दी रचना, समवसरण आदि पर्यायवाची शब्द हैं। तीर्थंकर परमात्मा की उपस्थित में व्रत आदि अनुष्ठान समवसरण के समक्ष किए जाते हैं। नन्दी रचना, यह समवसरण का प्रतीकात्मक रूप है। स्थापनाचार्य को लघुनन्दी के समकक्ष माना जाता है, इसे भाव आचार्य भी कह सकते हैं। तीर्थंकर के सान्निध्य का प्रत्यक्ष बोध करने के लिए नन्दी रचना की जाती है और छत्तीस गुणधारी आचार्य की निश्रा का अहसास करने के लिए स्थापनाचार्य का आलम्बन लेते हैं।

संघाटक– योगवाही मुनि के लिए यह नियम है कि उसे भिक्षाटन, वसति शोधन, वाचना ग्रहण आदि किसी भी आवश्यक कार्य के लिए वसति से बाहर जाना हो, तो सहयोगी के रूप में एक अन्य मुनि को साथ लेकर जाएं, उपाश्रय से सौ हाथ आगे जाना हो तो अकेला न जाएं। क्योंकि अकेले जाने पर अनेक

दोषों की संभावनाएँ रहती हैं। एक मुनि साथ में हो तो स्खलना के निमित्तों से बचा जा सकता है तथा योग साधना के नियमों का विधिवत पालन करने में भी सहायता मिलती है। अतएव योगवाहक को परिमित क्षेत्र से बाहर एकाकी गमन करने का निषेध है। संघाटक का शास्त्रीय अर्थ है दो मुनियों का समूह। भिक्षाचर्या आदि के लिए दो साधु एक साथ जाएं तो वे संघाटक कहे जाते हैं। योगवाही के साथ गमनागमन करने वाला मुनि संघाटक रूप होता है।

कालग्राही– कालग्रहण करने वाला मुनि कालग्राही कहलाता है। स्वाध्याय काल शुद्ध रूप से प्रवर्त्तमान रहे एवं आगम पाठों को निर्विघ्न रूप से ग्रहण किया जा सके तदर्थ कालग्रहण किया जाता है। वस्तुत: कालग्रहण के समय दिशा का अवलोकन एवं शुभ उपयोग द्वारा काल की शुद्धता-अशुद्धता का ज्ञान करते हैं और उसी के अनुसार स्वाध्याय का प्रारम्भ करते हैं। यदि काल शुद्ध रूप से ग्रहण किया गया है तो ही स्वाध्याय प्रस्थापना की जाती है, अन्यथा नहीं।

योगोद्वहन में कालग्राही एवं दण्डधर दोनों की मुख्य भूमिका होती है, अत: दोनों लगभग साथ-साथ ही रहते हैं अथवा निश्चित दायरे में ही उपस्थित रहते हैं। जैसे कॉर्डलेस फोन और हैंडसेट का एक सम्बन्ध होता है। यदि वे निश्चित दूरी से अलग हो जाये तो उनका कार्य बंद हो जाता है वैसे ही कालग्राही एवं दण्डधर को निर्धारित क्षेत्र में रहना आवश्यक है, अन्यथा योग क्रिया में Disturbance या विक्षेप हो सकता है। कालग्राही दीक्षा पर्याय में दंडीधर से ज्येष्ठ होना जरूरी है।

दांडीधर– कालमापक दंडी को ग्रहण करने वाला, कालग्राही का सहयोग करने वाला एवं कालग्रहण आदि अनुष्ठानों के समय उत्तर साधक के रूप में योगवाहियों के प्रमुख कृत्यों को सम्पन्न करने वाला मुनि दंडधर कहलाता है।

पाली पलटुं– पाली – क्रम, पलटुं – बदलना अर्थात जिस क्रम से तप चल रहा हो, उस तप क्रम में परिवर्तन करना। जैसे आयंबिल के पश्चात नीवि का क्रम आ रहा हो तो उस दिन नीवि नहीं करके आयंबिल करना 'पाली पलटुं' कहलाता है।

पाली तप– आयंबिल का क्रम जारी रखना पाली तप कहलाता है।

पाली पारणुं– आयंबिल का क्रम तोड़कर निर्विकृति द्रव्य से पारणा

करना पाली पारणुं कहलाता है। यह चालु जोग में एकान्तर चलता रहता है। किसी भी सूत्र के योग से बाहर निकलते समय विगई विसर्जावणी के साथ पाली पारणुं करना होता है। तात्पर्य है कि जब-जब नीवि आती है तब-तब पाली पारणुं का आदेश लिया जाता है क्योंकि योग की परिभाषा में आयंबिल तप है और नीवि पारणा है।

आउत्तवाणय– आउत्तवाणय मूलत:प्राकृत शब्द है। इसका संस्कृत रूपान्तरण है– आयुक्तवान् अर्थात उपयोगवान्। प्राकृत-हिन्दी कोश में आउत्तवाणय के निम्न अर्थ बतलाए गए हैं– उपयोगवाला, सावधान, संयत आदि। सतर्कता पूर्वक क्रिया करने वाला उपयोगवान कहलाता है। पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. के अनुसार आउत्तवाणय का रूपान्तरित दूसरा शब्द 'आयुक्तमानक' भी है, किन्तु उसका अर्थ भी विशिष्ट उपयोगशील होना ही है। सामान्यत: भगवतीसूत्र, महानिशीथसूत्र एवं आचारांगसूत्र के सत्तकिया अध्ययन– इन तीनों सूत्रों के योग में आउत्तवाणय ग्रहण किया जाता है क्योंकि इन सूत्रों के योग महत्त्वपूर्ण हैं।

भगवती सूत्र के योगवाही को अनुज्ञा मिलने पर गणिपद दिया जाता है। गणि पदस्थ मुनि अन्यों को भगवतीसूत्र तक के योग करवाकर गणिपद प्रदान कर सकते हैं।

महानिशीथसूत्र के योगवाही को अनुज्ञा होने पर अन्यों को दीक्षा देने, उपधान करवाने आदि अनेक अधिकार मिलते हैं।

सत्तक्किया का जोग होने पर 'आचारी' का अधिकार मिलता है। इससे गोचरी, स्थंडिल भूमि या विहार (आहार-विहार-निहार) में संघाटक बनने का अधिकार मिलता है अत: इन सूत्रों में विशिष्ट विधि बतलाई गई है।

आउत्तवाणय के कायोत्सर्ग में लोहा, सीसा,कांसा आदि धातुओं एवं नख, केश, अस्थि, विष्टा, रुधिर आदि अशुद्ध वस्तुओं को स्पर्श नहीं करने का उपयोग रखना होता है। आउत्तवाणय का आदेश लेने के पश्चात जब तक उसका निष्ठापन नहीं करते हैं तब तक योगवाहक को अत्यन्त अप्रमत्त चेता बनकर उपरोक्त वस्तुओं के संस्पर्श से बचते हुए सर्व क्रियाएँ सम्पन्न करनी होती हैं। इससे ज्ञानावरणीय कर्म की विशिष्ट निर्जरा होती है।

पवेयणा पवेइए– जिस आगम सूत्र का योग चल रहा हो, उस सम्बन्ध

में गुरु के समक्ष निवेदन करना 'पवेयणा' कहलाता है। पवेयणा-प्राकृत रूप है, इसका हिन्दी रूप प्रवेदना अर्थात निवेदन है।

इस प्रकार योगोद्वहन सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं की अनुमति प्राप्त करने हेतु गुरु के समक्ष उसका निवेदन करना 'पवेयणा पवेइए' कहलाता है।

आक संधि– आक का अर्थ है दिन और संधि का अर्थ है जोड़ना। सूत्र पूर्णाहूति के अन्तिम दो या तीन दिन, जिनमें समान रूप से आयंबिल तप ही किया जाता है। तप आदि की दृष्टि से जुड़े हुए होने के कारण इन दिनों को आक संधि कहते हैं। आगमविद पूज्य रत्नयशविजयजी म.सा. के अनुसार आक संधि, अक्ष संधि का प्राकृत या अपभ्रंश रूप होना चाहिए। स्वरूपत: आगम सूत्र या श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा के दिनों को आक संधि कहते हैं।

स्पष्टतया जब किसी आगम सूत्र या श्रुतस्कन्ध का समुद्देश एवं अनुज्ञा जैसी दोनों विशिष्ट क्रियाएँ एक साथ या निरन्तर क्रम में आती हैं, उन दिनों को आक संधि कहा जाता है अथवा एक ही सूत्र या श्रुतस्कन्ध के समुद्देश-अनुज्ञा के दो या तीन दिनों के संपुट को आक संधि कहते हैं। जब-जब समुद्देश + अनुज्ञा साथ आते हैं तब-तब आक संधि आती है। उसी तरह श्रुतस्कन्ध का समुद्देश + अध्ययन का समुद्देश आता है तब भी आक संधि आती है।

इन दिनों में विशेष उपयोग रखना चाहिए। यदि दिन गिर जाये तो वह आकसंधि (आयंबिल तप) द्वारा ही पूर्ण करना होता है। जैसे वाहन चालक को मोड़ पर अधिक सावधानी की जरूरत होती है, देहधारी प्राणी के हाथ, पाँव आदि में सांधा (Joints) महत्त्वपूर्ण होते हैं, वैसे ही ये दिन मोड़ (curve) के स्थान गिने जाते हैं। अत: इन दिनों में सचेत-उपयोगवन्त रहना जरूरी है।

कृतयोगी– कृतयोगी का शाब्दिक अर्थ है योगोद्वहन किया हुआ मुनि। भिक्षु आगम विषय कोश में अध्ययन, तप, वैयावृत्य आदि में अभ्यस्त मुनि को कृतयोगी कहा गया है।

व्यवहारभाष्य की टीका में कृतयोगी की निम्न परिभाषाएँ बताई गयी हैं–

• छेद ग्रंथों के सूत्र और अर्थ को धारण करने वाला स्थविर मुनि कृतयोगी है। • जो सूत्र और अर्थ दोनों को धारण करता है वह कृतयोगी है। • जिसने योगवहन का अभ्यास किया है, अनेक बार कठोर तपोयोग से अपने आपको भावित किया है वह कृतयोगी है। • जो दीर्घकालिक तप अनुष्ठान से भी क्लांत नहीं होता वह कृतयोगी है।[3]

सूत्र– जो अल्प अक्षरों में निबद्ध हो, महान् अर्थ का सूचक हो, बत्तीस दोषों से रहित तथा आठ गुणों से युक्त हो, वह सूत्र कहलाता है।[4]

सामाचारी– गच्छ या समुदाय से प्रतिबद्ध सभी भिक्षुओं के लिए समान रूप से आचरणीय नियम सामाचारी कहलाती है। मूलाचार में सामाचारी के निम्न अर्थ बताये गये हैं–

1. समता-सामाचार– राग-द्वेष का अभाव होना समता सामाचार है।

2. सम्यक आचार– मूलगुणों का निरतिचार पालन करने रूप सम्यक आचार सामाचार है।

3. सम आचार–क्रोधादि कषायों से रहित होकर साध्वाचार का पालन करना अथवा क्षमादि धर्मों से युक्त होकर श्रमणाचार का पालन करना अथवा सहवर्ती साधुओं के साथ सामूहिक रूप से आहार ग्रहण, देववन्दन आदि क्रियाएँ करना सामाचार हैं।

4. समान आचार– सभी के लिए समान रूप से इष्टाचार सामंाचार है।[5]

संक्षेपत: आचार और सामाचार में अविनाभावी सम्बन्ध है। दूसरे सभी मुनियों के लिए समान रूप से पालनीय होने के कारण आचार सामाचारी रूप कहलाते हैं।

कालिक-उत्कालिक सूत्र– जिन सूत्रों के योग (अध्ययन) में कालग्रहण आवश्यक होता है अथवा जो आगम सूत्र काल विशेष में पढ़े जाते हैं अथवा जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए शुद्ध काल की जरूरत रहती है, वे कालिक सूत्र कहलाते हैं। जिन सूत्रों के अध्ययन के लिए प्रथम एवं अंतिम प्रहर की मर्यादा नहीं होती है और कालग्रहण की अपेक्षा भी नहीं होती है, वे उत्कालिक सूत्र कहलाते हैं।

काल प्रवेदन– प्राभातिक आदि चारों कालों में से किसी भी काल को शुद्ध रूप से ग्रहण करने पर 'यह काल शुद्ध है' ऐसा गुरु के समक्ष निवेदन करना काल प्रवेदन कहलाता है। प्रवेदन– प्र + सम्यक प्रकार से, वेदन– कहना अर्थात गुरु आदि के समक्ष कहने योग्य क्रिया विशेष को यथातथ्य रूप से बतलाना प्रवेदन है। सामान्यत: सुदृढ़ एवं अप्रमत्त मुनि ही प्रवेदन का कार्य करते हैं।

गणिपिटक– गणि-गणधर या आचार्य, पिटक-खजाना अर्थात तीर्थंकरों के उपदेश रूप पिटारे को गणधरों द्वारा जिसे सूत्र रूप में संकलित किया गया है, वे आगम गणिपिटक कहलाते हैं। ग्यारह अंग सूत्रों को गणिपिटक कहा जाता है।

काल प्रतिलेखना– श्रमण के लिए काल का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि अशन,पान, वस्त्र, शयन आदि क्रियाएँ नियुक्त काल में करनी चाहिए।[6] आचारांग सूत्र में मुनि को 'कालज्ञ' होना अनिवार्य बताया गया है।[7] यहाँ काल प्रतिलेखना का तात्पर्य स्वाध्याय सम्बन्धी प्रादोषिक, प्राभातिक आदि शुद्ध काल को प्राप्त करना है। कालज्ञ संज्ञा जो आचारांग आदि में बतायी गई है, उससे योगविधि के कालग्राही का कोई सम्बन्ध नहीं है। आगम सूत्रों में द्रव्यज्ञ, क्षेत्रज्ञ, कालज्ञ, भावज्ञ का उल्लेख सर्व साधारण तौर पर है जबकि योग विधि में अलग संदर्भ है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।[8]

कालग्रहण– कुछ विशिष्ट आगम सूत्रों को पढ़ने के लिए कालग्रहण लिए जाते हैं। कालिक सूत्रों को शुद्ध काल में ही पढ़ने-पढ़ाने का विधान है। अशुद्ध काल में स्वाध्याय करने पर आत्मघात, उपद्रव, स्मृति भ्रंश, मिथ्यात्वी देवों द्वारा त्रास आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अत: 'काल शुद्ध है या नहीं' इसका परीक्षण करने के लिए कालग्रहण लिया जाता है। पूर्व काल में कालग्राही मुनि तारा आदि आकाशीय ग्रह एवं दिशाएँ आदि देखकर, शुद्धाशुद्ध काल का निर्णय करते थे। आजकल विधि शुद्धता से यह निर्णय किया जाता है। ओघनिर्युक्ति में कहा गया है कि अशुद्ध काल हो तो देवता कालग्रहण आने नहीं देते हैं अत: इसमें देवों की भी बृहद भूमिका होती है। आचार्य भगवन्त श्री कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा. का मानना है कि योग के अधिष्ठायक देव अति जागृत हैं। जरा सी भी चूक होने पर तुरन्त अहसास करा देते हैं।

कालग्रहण के समय सभी योगवाहियों को वहाँ उपस्थित रहना अनिवार्य है। सामाचारी के अनुसार जो योगवाही उपस्थित रहते हैं वे ही काल सम्बन्धी क्रिया कर सकते हैं। शास्त्रीय रीति से एक दिन में एक कालग्रहण लेना चाहिए क्योंकि एक कालग्रहण लेने पर 100 खमासमण विधि पूर्वक दिए जा सकते हैं।

जबकि वर्तमान में चार-चार कालग्रहण किए जाते हैं। परंतु एक साथ चार काल ग्रहण करने पर 400 खमासमण विधियुक्त देना मुश्किल हो जाता है।

पाटली– यह पट्ट का रूपान्तरित मरुगुर्जर मिश्रित शब्द है। वर्तमान परम्परा में छोटे आकार के काष्ठपट्ट को पाटली कहा जाता है। पाटली का उपयोग सामान्यतया कालमंडल, काल प्रतिलेखना एवं स्वाध्याय प्रस्थापना के समय किया जाता है। इस पाटली क्रिया में मुख्यत: चार उपकरण प्रयुक्त होते हैं– 1. काष्ठ का छोटा पट्टा 2. पट्ट परिमाण मुखवस्त्रिका 3. काष्ठ की दो लघु दंडियाँ 4. पट्ट को स्थिर रखने हेतु काष्ठ का छोटा टुकड़ा। काष्ठ पट्ट को पाटली कहा जाता है।

वर्तमान में इस विधि का जो स्वरूप उपलब्ध है, वह परवर्ती कृतियों में ही प्राप्त होता है।

पाटली क्रिया करते समय उसके ऊपर मुखवस्त्रिका रखी जाती है जो भाव आचार्य के आसन का प्रतीक है। मुखवस्त्रिका के ऊपर दो दंडी रखते हैं, उनमें एक दंडी योगाचार्य स्वरूप और दूसरी दंडी काल निश्चयार्थ मानी जाती है। किन्हीं मत से एक दंडी द्वारा आत्मतन्त्र की रहस्यभरी प्रक्रिया की जाती है। किसी के अभिप्राय से उक्त उपकरण ज्ञान साधना का प्रतीक है। पूर्व काल में पाटली एवं दंडी के द्वारा काल निर्धारण की प्रथा थी। पाटली के एक किनारे पर छेद रहता था, उसमें दंडी को स्थापित कर उसकी छाया परिमाण से स्वाध्याय काल का ज्ञान करते थे। आज इस क्रिया का उद्देश्य बदलता हुआ नजर आ रहा है। वस्तुत: यह क्रिया श्रद्धागम्य है।

तपागच्छीय रामचन्द्रसूरि समुदायवर्ती आचार्य श्री कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज के शिष्यरत्न आगमविद पूज्य रत्नयशविजयजी म.सा. के अनुसार पाटली आचार्य भगवन्त का काष्ठासन है। उस पर स्थापित मुंहपत्ती उनका आसन है।

दो दंडियों में से एक आचार्य रूप है और दूसरी स्थापनाचार्य का प्रतिरूप है। आचार्य हरिभद्रसूरि रचित पंचवस्तुक में आचार्य एवं स्थापनाचार्य के आसन स्थापित करने की बात कही गई है। यह निर्देश विधिमार्गप्रपा में भी है। स्थापनाचार्य रूप अक्षों के नीचे पाटली होती है, वह भी सिंहासन है।

संघट्टा– संघट्टा ग्रहण से तात्पर्य वस्त्र, कंबली, पूंजणी, झोली, तिरपणी,

डोरी, डंडा आदि उपकरणों को निश्चित समय तक शरीर से संस्पर्शित करते हुए रखना है।

श्रमणाचार का सामान्य नियम है कि जैन साधु-साध्वी स्वकीय उपधि को सदैव अपने समीप ही रखें। आहार या निहार हेतु बाहर गमन करना हो तो सहवर्ती साधु को अपनी उपधि सुपुर्द करके जायें। यह संयम रक्षा के उद्देश्य से कहा गया है।

योगवाही अधिक हों तो प्रत्येक को पृथक-पृथक संघट्ट क्रिया करने की आवश्यकता नहीं है, दो-तीन के मध्य एक योगवाही भी संघट्टा ले सकते हैं और सहवर्ती अन्य योगवाही को संघट्टित (स्पर्शित) पात्र आदि उपकरण दे सकते हैं, किन्तु इस क्रिया में पूर्ण रूप से सजग रहना जरूरी है।

कुछ परम्पराओं में कंबली के ऊपर पात्र रखकर संघट्टा लेते हैं। संघट्टा लेते समय उपयोगी सभी उपकरणों को इस भाँति अलग-अलग रखते हैं कि वे एक-दूसरे को स्पर्श न कर सकें। फिर एक-एक उपकरण को प्रमार्जन पूर्वक उठाकर अपने शरीर से स्पर्श करते हुए रखते हैं।

कुछ परम्पराओं में उपकरणों को कंबली के बिना भूमि पर अलग-अलग रखकर ग्रहण करते हैं।

कुछ आचार्यों के अनुसार यदि कंबली शरीर से स्पर्श कर रही हो, तो उपयोग में आने वाले सभी उपकरणों को एक-एक करके ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें कंबली के ऊपर अलग-अलग रखने से संघट्टित माना जा सकता है और उस स्थिति में आहार ग्रहण भी कर सकते हैं।

वस्तुतः कालग्रहण, कालमांडला, नोंतरा, संघट्टा ग्रहण, आउत्तवाणय ग्रहण, प्रवेदन, पाटली स्थापना आदि विधियाँ गुरुगम से समझकर करनी चाहिए।

योग तप– आगम सूत्रों के पाठों का नया अध्ययन करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे योग तप कहते हैं। योगवहन काल में सूत्र प्रवेश के दिन और निकलने के दिन आयंबिल रहता है।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार कुछ सूत्रों को छोड़कर शेष सभी सूत्रों के योग में श्रुतस्कन्ध के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के दिन आयंबिल करना चाहिए तथा बाकी दिनों में नीवि करनी चाहिए।

आचारदिनकर के अनुसार पूर्ववत श्रुतस्कन्ध के उद्देशादि दिनों में आयंबिल और शेष दिनों में आयंबिल + नीवि के क्रम से तप करना चाहिए। वर्तमान तपागच्छ परम्परा में इसी क्रम से योग तप किया जाता है।

महानिशीथसूत्र के योग में केवल आयंबिल होता है। सामान्य सूत्रों के योग तप में अष्टमी, चतुर्दशी एवं शुक्ला पंचमी को आयंबिल ही किया जाता है। वैसे ही संवत्सरी को उपवास किया जाता है।

आराधना– यह शब्द आ + राध् धातु से सिद्ध है। यहाँ 'आ' उपसर्ग मर्यादा अर्थ में है और 'राध्' धातु रांधने के अर्थ में है। जिससे पेटपूर्ति रूप कार्यसिद्धि हो वह राधना कही जाती है। इस प्रकार ज्ञानी की निश्रा, आज्ञा की प्रधानता, विनय आदि मर्यादापूर्वक जो हो, वह आराधना कहलाती है।

अंग प्रविष्ट– यथार्थदृष्टा अरिहंत परमात्मा द्वारा प्ररूपित वाणी एवं त्रिपदी (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) के सिद्धान्तों से निष्पन्न शाश्वत सूत्र जो कि गणधरों द्वारा रचित है, उन्हें अंगप्रविष्ट कहते हैं।

अंग बाह्य– आचार्य भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविरों द्वारा रचित एवं मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र अनंगप्रविष्ट कहलाते हैं।

अनध्याय काल– शास्त्र अध्ययन या स्वाध्याय हेतु निषिद्ध काल।

अभिशय्या– जिस स्थान पर स्वाध्याय करने के पश्चात रात्रि विश्राम कर सुबह पुनः वसति में लौट सकते हैं।

नैषेधिकी भूमि– वह स्थान जहाँ सूत्र-अर्थ का स्वाध्याय किया जा सकता है और स्वाध्याय करने के पश्चात वहाँ से वसति में लौट सकते हैं।

नित्थार पारगा होह–'संसार सागर से पार होवो' यह वाक्य पद गुरु के द्वारा शिष्य के लिए आशीर्वचन के रूप में बोला जाता है।

व्याघात काल– संध्याकाल अथवा मुनि की वसति में अधिक कोलाहल होने पर स्वाध्याय हेतु निषिद्ध एक प्रकार का काल। इसे प्रादोषिक काल भी कहते हैं।

प्रादोषिक काल– सूर्यास्त के बाद से लेकर रात्रि के प्रथम प्रहर का समय।

अर्द्धरात्रिक काल– अर्द्धरात्रि का समय या रात्रि का दूसरा प्रहर।

वैरात्रिक काल– रात्रि के तीसरे प्रहर का समय।

प्राभातिक काल– रात्रि का अन्तिम प्रहर अथवा सूर्योदय का समय।

प्रवेदन– शिष्य द्वारा करने योग्य क्रिया कलापों का गुरु के समक्ष निवेदन करना प्रवेदन कहलाता है।

कल्पत्रेप– शरीर, समीपवर्ती क्षेत्र एवं भावों की शुद्धि करना या तत्सम्बन्धी दोषों को दूर करना कल्पत्रेप है।

स्वाध्याय उत्क्षेपण– अस्वाध्याय को दूर करने की विधि। यह विधि कार्तिक वदि एवं वैशाख वदि दूज के दिन की जाती है।

स्वाध्याय निक्षेपण– स्वाध्याय न करने की विधि। यह विधि आसोज शुक्ला एवं चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन की जाती है।

सन्दर्भ-सूची

1. *अनुयोगद्वार, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 7-11*
2. *तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 37*
3. *व्यवहारभाष्य सानुवाद, गा. 2369, 2335, 538, 785*
4. *बृहत्कल्प भाष्य, गा. 277*
5. *मूलाचार, गा. 123 की टीका*
6. *अन्नं अन्नकाले, पानं पानकाले, वत्थं वत्थकाले, सयण सयणकाले।*

   सूत्रकृतांगसूत्र, 2/1/15
7. *कालण्णू-आचारांगसूत्र, 1/8/3/210*
8. *काल पडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।*

   उत्तराध्ययनसूत्र, 29/15

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अनगारधर्मामृत	पं. आशाधर संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1977
2.	अभिधानराजेन्द्रकोश (भाग 1-7)	आचार्य राजेन्द्रसूरि	अभिधानराजेन्द्रकोश प्रकाशन संस्था, रतनपोल, अहमदाबाद	1986
3.	अष्टपाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य अनु. पं. पन्नालाल	श्री दिगम्बर जैन मन्दिर गुलाब वाटिका, दिल्ली	1995
4.	अंगसुत्ताणि (खंड 1-3)	संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं	वि.सं. 2049
5.	अंतकृतदशासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
6.	अनुयोगद्वारसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1987
7.	अणुओगदाराइं	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं	1996
8.	आगम युग का जैन दर्शन	पं.दलसुख मालवणिया	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1989
9.	आगम साहित्य : एक अनुशीलन	आचार्य जयन्तसेनसूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट,रतनपोल,हाथीखाना, अहमदाबाद	वि.सं 2051
10.	आगमसुत्ताणि(भाग-24)	संपा.मुनि द्वीपरत्नसागर	आगम आराधना केन्द्र, खानपुर, अहमदाबाद	2000
11.	आउरपच्चक्खाण (पइण्णय सुत्ताइं भा.1)	संपा. पुण्य विजय	महावीर जैन विद्यालय, मुंबई	1984

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
12.	आचारदिनकर (भा.1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	जसवंतलाल शाह, दोशीवाडानी पोल, अहमदाबाद	1981
13.	आचारदिनकर(भा.1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णय सागर मुद्रालय, मुंबई	1927
14.	आत्मानुशासनम्	संपा. बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1980
15.	आचारांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
16.	आचारांगनिर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह)	संपा. मुनि पुण्यविजय	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल, शांतीपुरी	1989
17.	आवश्यकचूर्णि (भा. 1-2)	जिनदासगणि महत्तर	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	1928
18.	आवश्यक टीका (भा. 1-2)	आचार्य हरिभद्रसूरि	भैरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2038
19.	आवश्यकसूत्र (भा.1-3)	आचार्य हरिभद्रसूरि	आगमोदय समिति, मुंबई	1916
20.	आवश्यकसूत्र	आचार्य मलयगिरि	आगमोदय समिति, मुंबई	1928
21.	आवश्यकनिर्युक्ति	संपा.विजय जिनेन्द्रसूरि	हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला लाखावावल, शांतिपुरी	1989
22.	आवश्यकनिर्युक्ति	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाड़नूं	2001
23.	औपपातिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
24.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
25.	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका	टीका. शान्त्याचार्य	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, मुंबई	1973
26.	उत्तराध्ययन सटीका (भा.1-3)	टीका. वादिवेताल शांतिसूरि	जिनशासन आराधना ट्रस्ट, भूलेश्वर, मुम्बई	वि.सं. 2517
27.	उत्तराध्ययनसूत्र एक दार्शनिक अनुशीलन	साध्वी विनीतप्रज्ञा	कुशल ज्ञान भंडार, गुजराती कटला, पाली	1939
28.	उपासकदशांगसूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन	सुभाषचन्द कोठारी	सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर	1982
29.	उवंगसुत्ताणि (भा.1-2)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं	1989
30.	ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिट्रेचर ऑफ दी जैनस	एच.आर. कापडिया	शारदाबेन चिमनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद	2000
31.	ऋग्वेद संहिता (भा.1)	संपा. श्री रामशर्मा आचार्य	ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज,हरिद्वार	वि.सं. 2056
32.	कषायपाहुड़	रचित कुन्दकुन्दाचार्य	दिगम्बर जैन संघ, मथुरा	वि.सं. 2000
33.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामि कार्तिकेय	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़	वी.सं. 2505
34.	गच्छाचारप्रकीर्णक	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1994
35.	गणिविद्या	अनु.डॉ.सुभाष कोठारी	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1994

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
36.	चउसरण पइण्णयं	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	2000
37.	छेदसूत्र एक परिशीलन	आचार्य देवेन्द्रमुनि	श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	1993
38.	जैन प्रवचन किरणावलि	आचार्य विजयपद्मसूरि	श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर	1987
39.	जैन आगम साहित्य मनन एवं मीनांसा	आचार्य देवेन्द्रमुनि	तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	1977
40.	जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ	अरुण प्रताप सिंह	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1986
41.	जैन योग : सिद्धान्त और साधना	आत्मारामजी महाराज संपा. अमरमुनि	भारतीय विद्या प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली	1982
42.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भा. 1-4)	पं. बेचरदास दोशी	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1989
43.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भा.1-5)	जिनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
44.	ज्ञाताधर्मकथासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	वि.सं. 2516
45.	तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य उमास्वाति	भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्	1998
46.	तत्त्वार्थसूत्र	अनु. पं. सुखलाल संघवी	पं.दलसुख भाई मालवणिया, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	1952
47.	तत्त्वार्थभाष्य	अनु. पं. खूबचन्दजी	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मंडल, मुंबई	1932

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
48.	तत्त्वार्थराजवार्तिक	संपा. महेन्द्र कुमार	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1993
49.	तत्त्वार्थसूत्र	श्रुतसागरीयवृत्ति टीका. मुनि श्रुतसागर	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1932
50.	तित्थोगाली (पइण्णय सुत्ताइं) भा.1-2)	संपा.मुनि पुण्यविजय	महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	1984
51.	तिलोयपण्णत्ति (भा.1)	संपा.डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी	केन्द्रीय साहित्य भण्डार, कोटा	1984
52.	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
53.	दसवेआलिअं	संपा. आचार्य तुलसी	जैन विश्वभारती, लाडनूं	1974
54.	दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि	चूर्णि. अगस्त्य सिंह	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
55.	दशवैकालिकचूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	ऋषभदेव केशरीमलजी संस्था, रतलाम	वि.सं. 1989
56.	दशवैकालिक निर्युक्ति	संपा. पुण्यविजय मुनि	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
57.	दशवैकालिक निर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह)	संपा. मुनि पुण्यविजय	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखाबावल, शांतीपुरी	1989
58.	दशवैकालिक निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1999
59.	धवला टीका (षट्खण्डागम) (खंड 1-4)	संपा. पं. फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1992
60.	धर्मसंग्रह(अधिकार 1-3)	रचित मुनि मानविजय	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ	1994

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
61.	नयचक्र माइल्ल धवल	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1999
62.	नवसुत्ताणि	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1987
63.	निशीथसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
64.	नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द टीका.पद्मप्रभ मलधारी देव	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, A-4 बापू नगर, जयपुर	1984
65.	निशीथभाष्य (भा.1-4)	संपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
66.	नंदीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
67.	नन्दीचूर्णि	जिनदासगणि, संपा. मुनि पुण्यविजय	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी	1966
68.	नंदीसूत्र	टीका. मलयगिरि	आगमोदय समिति, सूरत	1917
69.	नन्दी हारिभद्रीय टीका	संपा. मुनि पुण्यविजय	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी	1966
70.	पाइयसद्दमहण्णवो	पं. हरगोविन्ददास	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1986
71.	प्रज्ञापनासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1993
72.	प्रभावक चरित्र	प्रभाचन्द्राचार्य	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद	
73.	प्रमाणनयतत्त्वालोक	आचार्य वादिदेवसूरि	हरेशचन्द्र भूराभाई, धर्माभ्युदय प्रेस, बनारस	वी.सं. 2437

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
74.	प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द अनु.पं. परमेष्ठीदासजी	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	वि.सं. 2032
75.	प्रवचनसारोद्धार	अनु.साध्वी हेमप्रभा श्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
76.	प्रवचनसारोद्धार	रचित नेमिचन्द्रसूरि टीका. सिद्धसेनसूरि	भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाड़ा	1979
77.	प्रव्रज्या योगादि विधिसंग्रह	संपा. अजित शेखरविजयजी	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2054
78.	प्राचीन सामाचारी अपरनाम सामाचारी प्रकरण	पुरन्दराचार्य (पूर्वाचार्य) विरचित	–	–
79.	पंचवस्तुक स्वोपज्ञ टीका	अनु.राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट भिवंडी, मुंबई	1999
80.	बृहत्कल्पभाष्य(भा.1-8)	संपा.मुनि पुण्यविजय	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	1933 -42
81.	भगवतीसूत्र (भा. 1-4)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1993 -94
82.	भगवतीसूत्र	संपा.मुनि आत्मारामजी	लुधियाना प्रकाशन	
83.	भगवतीसूत्र	अभयदेव टीका सहित रचित अपराजितसूरि	निर्णयसागर प्रेस, 23 कोलभाटलेन, मुंबई	वि.सं. 1974
84.	भगवती आराधना सटीका	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण (मांडवे)	1990
85.	भत्तपरिन्ना (पइण्णयसुत्ताइं-भा. 1)	संपा. मुनि पुण्यविजय	महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	1984

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
86.	भिक्षु आगम विषय कोश (भा. 1-2)	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाड़नूं	1996 2005
87.	मरणविभक्ति पइण्णयं	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1984
88.	मूलाचार-सटीका (भा.1-2)	रचित आचार्य वट्टकेर अनु. ज्ञानमती माताजी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	वि.सं. 1992
89.	मोक्षमार्गप्रकाशक	पं. टोडरमलजी	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	2005
90.	योगशास्त्र भाषांतर	रचित केशवसूरि	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद	वि.सं. 2033
91.	योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति	रचित हेमचन्द्राचार्य संपा. मुनि जंबूविजय	जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई	1977
92.	रत्नकरण्डश्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र, टीका.पं.सदासुखदास कासलीवाल	पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1997
93.	रत्नाकरावतारिका (भा. 1-3)	रचित रत्नप्रभाचार्य अनु. धीरजलाल डाह्यालाल मेहता	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद	1999
94.	रयणसार	आचार्य कुन्दकुन्द संपा. डॉ.देवेन्द्र कुमार शास्त्री	वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर	वी.सं. 2500
95.	रयणसार	अनु. स्याद्वादमती माताजी	भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्	1998
96.	विशेषावश्यक भाष्य टीका. (भा. 1)	टीका.मलधारी हेमचन्द्र, संपा. वज्रसेन विजय	भद्रंकर प्रकाशन,अहमदाबाद	वि.सं. 2053

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
97.	विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञटीका	संपा. पं. दलसुख मालवणिया	भारतीय संस्कृत विद्या मंदिर, अहमदाबाद	1966
98.	विधिमार्गप्रपा-सानुवाद	आचार्य जिनप्रभसूरि अनु.साध्वी सौम्यगुणा	महावीर स्वामी देरासर, पायधुनी, मुम्बई	2006
99.	व्यवहारसूत्र	संपा.आचार्य मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
100.	व्यवहारभाष्य	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996
101.	व्यवहारभाष्यवृत्ति	–	वकील केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद	
102.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
103.	स्थानांगसूत्र	टीका. अभयदेवसूरि	रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस	1880
104.	स्थानांगसूत्र	टीका. अभयदेवसूरि	आगमोदय समिति, मुम्बई	वि.सं. 1975
105.	समवायांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
106.	समवायांगसूत्र	टीका. अभयदेवसूरि	रायबहादुर धनपत सिंह, बनारस	1880
107.	समयसार	संपा.पं.पन्नालाल जैन	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	1982
108.	समयसार	रचित आचार्य कुन्दकुन्द	पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर	1998

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
109.	सर्वार्थसिद्धि	रचित पूज्यपाद अनु.पं.फूलचन्द शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1997
110.	सानुवाद व्यवहारभाष्य	अनु. मुनि दुलहराज	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2004
111.	सामाचारी	रचित तिलकाचार्य	डाह्याभाई मोकमचंद पांजरापोल, अहमदाबाद	वि.सं. 1990
112.	सामाचारीसंग्रह	–	कोबा ज्ञान भंडार में उपलब्ध, पत्राकार	
113.	सुबोधासामाचारी	रचित श्री चन्द्राचार्य	जीवनचंद साकरचंद, जवेरी बाजार, मुंबई	1980
114.	सूत्रकृतांगसूत्र (भा.2)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990 1992
115.	सूत्रकृतांग निर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह)	संपा. मुनि पुण्यविजय	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल	1989
116.	सेनप्रश्न	आचार्य विजयसेनसूरि	श्री श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ मुलुंड, मुंबई	1994
117.	श्रमणाचार	संपा.पं.लाडली प्रसाद जैन पापड़ीवाल	ताराचन्द अजमेरा, कृष्णानगर, दिल्ली	1989
118.	संथारग पइण्णयं	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1995
119.	संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1966

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय

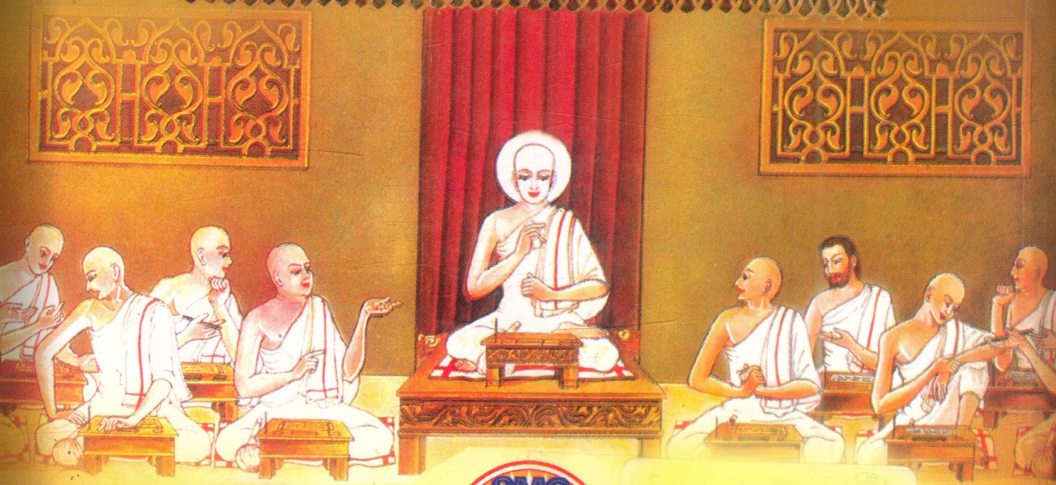


डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन सुरभि की अमृत लहरें

- आगमों का लिपिकरण कब और क्यों ?
- Short introduction of Jain Scriptures?
- अनध्याय के मूल कारण ?
- स्वाध्याय मुनि जीवन का आवश्यक अंग क्यों कहा गया है ?
- साध्वियों के लिए अधिकांश आगमों का अध्ययन वर्जित क्यों ?
- आधुनिक परिप्रेक्ष्य में योगोद्वहन क्रिया की प्रासंगिकता ?
- आगम अध्ययन हेतु तप आवश्यक क्यों ?
- योगोद्वहन में क्यों जरूरी है विधि-नियमों का परिपालन ?
- योगोद्वहन सम्बन्धी विधानों का मौलिक स्वरूप ?
- मुनि किन स्थितियों में कल्पत्रेप करें ?
- योगोद्वहन में प्रयुक्त शब्दों का रहस्यार्थ एवं विशिष्टार्थ ?



SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (VIII)